श्रीहरिः

मानव-जीवनका लक्ष्य

लेखक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मा० जी० ल० १—

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् २०३७ प्रथम संस्करण ४०,०००

मूल्य तीन रुपये

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नम्र निवेदन

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लेखोंका यह एक सुन्दर चयन आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। ये लेख समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं। इस संग्रहमें विभिन्न आध्यात्मिक विषयोंके साथ-साथ अतिशय उपादेय ठोस सामग्रीका समावेश हुआ है।

व्यक्तिके जीवनका प्रभाव सर्वोपरि होता है और वह अमोघ होता है। श्रीभाईजी अध्यात्म-साधनकी उस परमोच्च स्थितिमें पहुँच गये थे, जहाँ पहुँचे हुए व्यक्तिके जीवनसे जगत्‌का, परमार्थके पथपर बढ़ते हुए जिज्ञासुओं एवं साधकोंका मङ्गल होता है। हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन लेखोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे एवं अपने जीवनमें उनकी बातोंको उतारनेका प्रयत्न करेंगे, उनको परमार्थपथमें निश्चय ही विशेष सफलता प्राप्त होगी।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ-संख्या

श्रीहरिः

मानव-जीवनका लक्ष्य

मानव-जीवनका लक्ष्य—भगवत्प्राप्ति

भगवान्‌ने कहा है—'माया बड़ी दुस्तर है। इस मायासे कोई भी सहजमें पार नहीं हो सकता, परंतु मेरे शरणापन्न व्यक्ति इस मायासे तर जाते हैं।' भगवान्‌के अतिरिक्त जो कुछ भी है—असत् है, माया है और उसको जीवनसे निकालना है। भगवान्‌के शरणापन्न होनेपर जीवनमेंसे यह मिथ्यापन निकल सकता है। मानव-जीवनमें यही एकमात्र करनेयोग्य कार्य है। मानव-जीवनका यही एकमात्र कर्तव्य और उद्देश्य है।

धनकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य जैसे स्वाभाविक ही क्षुद्र-सी भी धनहानिके प्रत्येक प्रसंगसे बचता है और लाभका प्रत्येक कार्य करता है; वह ऐसा इसीलिये करता है कि पैसेके रहने और मिलनेमें अपना लाभ मानता है और जानेमें या न रहनेमें हानि; इसी प्रकार भगवान्‌का भजन करनेवाला पुरुष भजन होनेमें लाभ तथा न होनेमें हानि मानता है। इसलिये वह स्वाभाविक ही वही करता है जिससे भजन बनता और बढ़ता है, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करता, जिससे भजन नहीं बनता या घट जाता है।

हम सभी आत्यन्तिक सुख चाहते हैं। ऐसा सुख चाहते हैं जो अनन्त हो, परंतु मोहवश चाहते वहाँसे हैं, जहाँ सुख है नहीं। अथवा उससे, जो सुखका बहुत बड़ा स्वाँग तो बनाये हुए है, पर है दुःखसे पूर्ण। जहरसे भरी हुई मिठाई मीठी लगती है निस्संदेह, पर वह मारनेवाली ही होती है। जहरका ज्ञान न होनेसे या ज्ञान होनेपर भी स्वादके लोभसे लोग उसे खा लेते हैं। मीठी है तो क्या; उसका घातक प्रभाव तो होगा ही। भोग-जगत् भी ठीक ऐसा ही है। इसीलिये भगवान्‌ने इन्द्रिय-भोगोंको भोगकालमें अमृतके समान और परिणाममें विषके सदृश मारनेवाला बताया है। 'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।' 'परिणामे विषमिव……'। भगवान्‌ने तो इस भोग-जगत्‌को 'असुखम्', दुःखालयम्' और 'दुःखयोनयः' कहा है। अर्थात् यह जगत् सुखरहित है, अनित्य है और वस्त्रालय, विद्यालय, औषधालयकी तरह 'दुःखोंका आलय' है और 'दुःखयोनि'—दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है। इस सुख-रहित, दुःखालय तथा दुःखोंके क्षेत्र-जगत्‌से सुख-प्राप्तिकी आशा करके, केवल आशा ही नहीं, आस्था रखकर, हम उसके लिये रात-दिन प्रयत्नशील रहते हैं। यह हमारा बड़ा भारी मोह है। यह आशा, यह आस्था, यह कल्पना वैसे ही मिथ्या है, जैसे जहरको मिटानेके लिये जहरका प्रयोग; अन्धकारको निकालनेके लिये दीपकका बुझा देना। तेलकी आशासे बालूको कितना ही पेरा जाय, बालू काजल-सी महीन होकर उड़ सकती है, पर तेल नहीं मिलेगा। इसीलिये नहीं मिलेगा कि उसमें तेल है ही नहीं। जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँसे उस वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सुखरहित भोग-जगत्‌से

सुखकी प्राप्ति असम्भव है। दुःखालय और दुःखयोनि जगत्से सुखकी आशा ही अज्ञान है—मोहान्धकार है।

जगत्मे सुख-प्राप्तिकी दुराशामें जीव सतत जगत्का चिन्तन करता है और अपने अंदर अनवरत गंदा कूड़ा भरता चला जाता है। मनुष्यकी अन्तरात्मा जलती रहती है। जागतिक ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न धनी-मानी लोग भी जलते हैं, उच्च राज्याधिकारी और उद्भट विद्वान् भी जलते हैं, शान्तिकी बात करनेवाले उपदेशक और तर्कशील दार्शनिक भी निरन्तर जलते हैं। बड़ी शान्तिके स्थानपर या अत्यन्त शीतप्रधान देशमें अथवा बिजली-के द्वारा ठंडे किये कमरेमें बैठे रहनेपर भी सदा जलते रहते हैं। वह आग बाहर नहीं भीतर है, जो हमेशा जलाती रहती है। बाहरके किसी साधनसे भीतरकी आग शान्त नहीं हो सकती। भीतरकी इस आगको श्रीतुलसीदासजीने 'याचकता' कहा है। विषयोंके मनोरथकी आगसे—इस 'कामज्वर'से सभी संतप्त हैं। बाहरी चीजोंको बदलने या मिटाने-हटानेसे क्या होगा? जो चीज जला रही है, उसीको जला देना चाहिये। इस याचकताको—भोग-कामनाको भगवान्ने गीतामें 'ज्वर'का नाम दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

(गीता ३। ३०)

'युद्ध करो, परंतु तीन वस्तुओंसे छूटकर। राज्य तथा भोगों-की आशा छोड़कर, देह तथा देह-सम्बन्धी सारी ममता छोड़कर

और कामनाके ज्वरको उतारकर।' कामना रहेगी तो अंदर-ही-अंदर ज्वर बढ़ेगा।

इसीलिये गोस्वामीजीने कहा—'जगत्‌में किसीसे याचना मत करो; माँगना ही हो तो भगवान् श्रीरामसे माँगो और श्रीरामको ही माँगो। भगवान्‌को माँगनेका अर्थ ही है—भगवान्‌की प्राप्ति। सारी शान्ति—सारा सुख भगवान्‌में ही है; अन्यत्र कहीं है ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌से भगवान्‌की ही याचना करो—

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकि जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे॥

भोगोंकी कामना और कामनाकी सिद्धिसे सुखकी प्राप्ति—यह मूर्खता है। यह कभी सम्भव नहीं। भगवान्‌की कृपासे ही शरणागति या ज्ञानकी प्राप्ति होगी। तभी दुःखका नाश और सुख-की प्राप्ति होगी। भोग-कामनाकी अग्नि प्रचण्ड है। विषयोंके सेवनसे, बहुत-से भोगोंसे इसकी शान्ति नहीं होती। अग्निमें जितना ही ईंधन-घृत पड़ेगा, उतनी ही अग्नि भभकेगी। इसीलिये भगवान्‌ने इस 'कामना'को 'महाशन' कहा—इसका पेट कभी भरता ही नहीं।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी तें।

अशान्तिसे कभी शान्ति मिल नहीं सकती। चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, भोगोंसे सुख मिल नहीं सकता; भले, थोड़ी देरके लिये कोई उसे भूलसे सुख मान ले। भ्रमवशात् सुखके भवन भगवान्‌को भूलकर लोग भोगोंका ही रात-दिन चिन्तन करते हैं।

भोग-सम्बन्धी बातें सुनते-कहते-मनन करते हैं और उसी गंदगीको अपने अंदर भरते चले जाते हैं।

इससे छूटनेके लिये शास्त्रोंने बड़ी सुन्दर युक्ति बतायी है। जो बीत गया, उसपर कोई अधिकार नहीं। 'वर्तमान' साधकके हाथमें है। मनरूपी गोदाममें अबतक जो कूड़ा भरा गया, सो भरा गया। अब उसमें अभीसे भगवद्भावोंको, भगवत्प्रीति-उत्पादक शुभ कर्मोंको भरते जायँ।' शुभ कर्मोंकी तीव्र सुवास कूड़ेकी दुर्गन्धको दबा देगी और अपनी सुवास फैला देगी।

वर्तमानको सुधार लें तो भविष्य अपने-आप सुधरेगा और भूतकालका भय भी मिट जायगा। हम जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करते हैं, उसकी स्फुरणा पहले मनमें होती है। स्फुरणा संस्कारोंसे होती है और उन संस्कारोंसे होती है जो वर्तमानके नये कर्मोंके होते हैं। जैसे गोदाममेंसे माल निकालना हो तो पहले वह निकलता है जो सबसे ऊपर या सबसे आगे नया भरा हुआ है; इसी प्रकार वर्तमानमें शुभ कर्म करनेपर शुभ संस्कार होंगे, शुभ संस्कारोंसे शुभ स्फुरणा होगी, शुभ स्फुरणासे फिर शुभ कर्म होंगे ---इस प्रकार शुभका एक चक्र बन जायगा। शुभ तथा सुन्दर भावोंका साम्राज्य हो जायगा; जो सारे पिछले अशुभ संस्कारोंको दबा लेगा या पीछे ठेल देगा। जिस गोदाममें अबतक लहसुन-प्याज भरा गया, उसमें अब कस्तूरी, कपूर भरना आरम्भ कर दे। गंदी वस्तुको नवीन सुवासित वस्तु पूर्णतः आच्छादित कर लेगी। मनमें पहले उठनेवाली गंदी स्फुरणाएँ तथा संस्कार शान्त हो जायँगे। और यदि कहीं शुभ कर्मोंका प[illegible]

गया और उनमें निष्कामभाव आ गया एवं ज्ञानाग्नि प्रकट हो गयी—कपूर अत्यधिक मात्रामें इकट्ठा हो गया और कहीं दियासलाई लग गयी तो गोदामके नीचे तथा पीछेके भले-बुरे, केसर, लहसुन आदि सभी पदार्थ—शुभ-अशुभ सभी कर्म दग्ध हो जायँगे। भगवान् श्रीकृष्णने (गीता ४ । ३७में) कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

'ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होते ही सारे शुभ-अशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं।' अतः साधकको वर्तमानमें अत्यन्त तत्परताके साथ तुरंत भगवत्-साधनामें लग जाना चाहिये।

जागतिक राग-द्वेषकी चर्चा, भोगोंकी बातचीत मल है—विष है। जहाँतक हो सके, अपनी ओरसे इसकी अनावश्यक चर्चा ही नहीं करनी चाहिये। बोलना अपने अधीन है, सुनना अपने अधीन नहीं। दूसरे जो बोलें, उसे सुनना ही पड़ता है। परंतु यदि मन अन्यत्र लगा रहे, तो श्रवण भी नहीं होगा, सुनकर भी अनसुना रहेगा। अतः वर्तमानमें अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्में समर्पित कर दे। इसमें सावधानीकी आवश्यकता है। साधनाका अर्थ सावधानी है। गिरनेसे आदमी बचता रहे। निरन्तर उठनेकी चेष्टा करता रहे—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्॥

(गीता ६ । ५)

आत्माको कभी गिरावे नहीं। जहाँ भगवच्चर्चा हो, वहाँ मन लगाकर सुनना चाहिये और जहाँ जगच्चर्चा हो, वहाँ सुनना बंद कर दे। कवि ठाकुरने ठीक ही कहा है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख डारि हलाहल घोरो॥
ठाकुर प्रीतिकी रीति यही हम सपनेहु टेक तजै नहिं भोरो।
बावरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो॥

दुःमुँहे जहर-भरे घड़ेके समान जगत्के बाहरी गोरेपनको जो आँखें देखती हैं, उनका तो जल जाना ही उचित है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा कर ली—'कानसे दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी बात कहूँगा नहीं। आँखोंको दूसरी चीज देखनेसे रोक दूँगा और मेरा सिर वहीं नमित होगा, जहाँ भगवान् दिखलायी देंगे—

स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नइहौं॥

इसे आदर्श मानकर जहाँतक बने, संसारकी उतनी ही बात सुननी चाहिये, जितनी आवश्यक हो। अन्य बातोंको न सुने, न कहे और न उसमें रुचि ले। परापवादसे, परनिन्दा एवं परस्तुतिसे बचना चाहिये। भागवत-माहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा ''।

दूसरोंके गुण-चिन्तन करनेसे आसक्ति होगी और दोषचिन्तन करनेसे द्वेष होगा। ये दोनों ही जगत्में बन्धनकारक हैं। अतः गुण और दोष दोनोंका ही चिन्तन न किया जाय। यदि न रहा जाय तो दूसरेके गुण देखे और अपने दोष देखे। जिसे दूसरे[illegible] तथा अपने गुण दिखलायी नहीं देते, वह भाग्यवान् व्यक्ति

जिसे दिखलायी देते हैं वह मन्दभागी है। वह मन्दभागी दूसरेके दोषोंको देखकर अपनेमें दोषोंका ही संग्रह करता है।

हम जो कुछ देखते-सुनते, कहते, सूँघते, स्पर्श करते तथा विचार करते हैं, वही हमारे मनमें निवास करता है। यदि मनमें भगवान्‌को बसाना है तो भगवान्‌को ही देखना-सुनना-समझना चाहिये। जैसा हमारा मन है, वैसा ही हमारा स्वरूप है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता १७। ३)

मनके तामसी होनेसे हमारा स्वरूप तामसी होगा और तामसी व्यक्तिकी गति नीची होती है—

'अधो गच्छन्ति तामसाः।'

जो लोग साधना करना चाहते हैं और अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये समझदारीकी बात यही है कि वे भोग-जगत्‌से यथा-साध्य बचें—जगत्‌की व्यर्थ चर्चासे बचें। साधकोंके लिये तो परदोष-दर्शन और परदोष-चिन्तन बहुत बड़ा विघ्न है। साधकको अपने दोष-दर्शनसे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

श्रीनारायणस्वामीने ठीक कहा है—

तेरे भावें जो करै भलौ बुरो संसार।
नारायण तू बैठ कर अपनो भवन बुहार॥

अपने घरमें झाड़ू लगाओ। गंदी झाड़ू लेकर दूसरेका मकान साफ करने जाओगे तो वहाँ भी गंदगी ही फैलाओगे; सफाई तो कहाँसे करोगे ? अपना हृदय पहले साफ होना चाहिये।

हृदयकी स्वच्छताकी कसौटी क्या है—मनमें शान्ति, प्रसन्नता, त्याग, वैराग्य, सौम्यता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, इन्द्रिय-निग्रह, सरलता, समता, निरभिमानिता, नम्रता, भगवान्‌के प्रति चित्तकी वृत्तिका प्रवाह, संसारमें उपरति तथा दैवी-सम्पत्तिके अन्यान्य सद्गुणोंका होना। वह व्यक्ति भाग्यवान् है, जिसके जीवनमें संसार भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त आता नहीं और जरूरत पड़नेपर कठिनतासे लाना पड़ता है। वह देखता है कि जगत् तो है नहीं। गीताका असली मर्म भगवान्‌ने बताया कि जगत् वास्तवमें केवल भगवान्‌से पूर्ण है—'वासुदेवः सर्वमिति।' यह जगत् जो दीख रहा है, ऐसा यह प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा है नहीं।

सिनेमा देखते समय पर्देपर सारा संसार दिखायी देता है, पर पकड़नेपर हाथमें नहीं आता। इसी प्रकार यह संसार जो दीखता है, वह दीखता भर है—मिलता नहीं—

'न तथा उपलभ्यते।'

इसीलिये कि यह मायाका राज्य है। अज्ञानकी कल्पना है। इसमें मनको फँसा लेना मूर्खता है। पढ़ा या बेपढ़ा, जो भी फँसता है, वह मूर्ख ही है। अपठित मूर्खता करता है, परंतु उसमें श्रद्धाके सहज जाग जानेकी सम्भावना है। अतः वह राहपर आ सकता है। किंतु शिक्षित मूर्ख तो प्रायः [illegible] होता है। शिक्षितकी मति बिगड़नेपर वह असुर हो

'साक्षराः' का उलटा 'राक्षसाः' होता है। भोगासक्त साक्षरके जीवनमें पैशाचिकताका ताण्डव नृत्य होता रहता है। लाखों नर-नारियोंको एक ही साथ जला देनेवाले बमोंके आविष्कारक विज्ञानवेत्ता विद्वान् ऐसे ही असुर-मानव हैं। पिछले दिनों चीनमें अपने ही मतके एक विपक्षीकी लाशको लोग भूनकर खा गये! यही राक्षसत्व है।

यह निश्चित बात है कि जहाँ पापमें गौरव-बुद्धि होती है—पापकी सराहना होती है, वहाँ पाप बढ़ता है। जिसके पास पैसा आ गया, वह पैसा चाहे चोरीसे आया हो या लूटसे अथवा अनाचार-भ्रष्टाचार-अत्याचार तथा हिंसासे—उस पैसेवालेको यदि समाजके द्वारा 'बड़ा' माना जाता है और उसका सम्मान होता है तो दूसरे लोग भी वैसा ही 'बड़ा' बनना चाहते हैं। सिनेमाकी अभिनेत्री जो एक साधारण स्तरकी अभिनय करनेवाली, नाचनेवाली स्त्री है, उसको देखनेके लिये भीड़ लग जाती है। इस भीड़में प्रोफेसर भी शामिल होते हैं, अधिकारी भी। यह सब क्या है! चोर-पूजा होनेपर चोरी और अनाचार-पूजा होनेपर अनाचारका ही विस्तार होगा। यह पतनकी सीमा है, तामसी बुद्धिका प्रत्यक्ष परिचय है, जिसमें अनाचारको सदाचार, बुराईको भलाई और पापको पुण्य समझा जाता है।

दूसरेके हकका लेना, दूसरेको अभावग्रस्त बनाकर वस्तुका संग्रह करना पाप है। गीता (३ । १३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं। पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं। सारे जगत्को उसका हिस्सा देकर शेषान्न खानेवालेको अपने यहाँ 'अमृताशी' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

'जितने धनसे प्राणियोंकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर उसका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह चोर है; उसे दण्ड मिलना चाहिये।' ये शब्द लेनिनके या मार्क्सके नहीं या आधुनिक युगके नहीं, प्राचीन भारतके महान् ग्रन्थ भागवतमें देवर्षि नारदके हैं। जिस देशमें लाखों लोग भूखों मरें वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, यह पाप है। सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये। उसके भाग्यमें बदा नहीं है—इसीलिये वह अभावसे ग्रस्त है—यह उसके माननेकी बात है। समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोंके माननेकी नहीं। जो सम्पन्न हैं वे अभावग्रस्तोंको दें। अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोंके लिये उदार बनें। धन किसीके पास रहेगा नहीं। सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी। सम्पत्तिमान्की सम्पत्ति गरीबोंसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर उस ऋणको ब्याजसमेत चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिमान्का कर्तव्य है।

सम्पत्ति और जागतिक भोगका चिन्तन करनेसे दुर्गति होगी, अन्तकालमें जैसी मति, वैसी गति होती है। जीभके स्वादवश वि-

खाद्यपदार्थका चिन्तन करते हुए मरनेसे किसी टोकरीका कीड़ा और साड़ीका चिन्तन करते हुए मरनेपर किसी कपड़ेका कीट बनना पड़ेगा। अतः बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। जगत्के भोगोंको ललचायी दृष्टिसे न देखे। निरन्तर भगवान् याद रहें।

भोग भगवान्के महत्त्वको घटाते हैं, अतः जीवनमें भोगोंकी स्मृतिको न आने दें। भक्त श्रीहरिदासजीके पास वेश्या गयी। परंतु श्रीहरिदासजीका व्रत था—तीन लाख नामजपका। न नामजपसे फुरसत मिली और न वेश्यासे बातचीत हो सकी। भगवान्से और भगवान्के कामसे मनको, वाणीको, चित्तको फुरसत नहीं मिलने दे। जागतिक विषय अपने-आप कम हो जायँगे। भोगसे जितना ही छूटे और भगवान्में जितना ही लगे, उतना ही मङ्गल है।

अपने सर्वस्वको अपने समेत भगवान्के समर्पण कर दे, यही भगवान्की शरणागति है। जो भगवान्के शरणागत होता है, वही मायासे तरता है। भगवदीय प्रकाशके आते मायाका अन्धकार नष्ट हो जाता है। साधकको चाहिये कि अपनेको निरन्तर भोगोंसे बचाये रक्खे तथा भगवान्में लगाये रक्खे। मन, वाणी और शरीरको सदा भगवान्से संयुक्त रक्खे। इसीमें साधककी बुद्धिमानी है। साधक भगवान्की कृपापर भरोसा रक्खे, दिन-रात भगवान्के अनुकूल आचरण करे, पर अपने पुरुषार्थका अभिमान कभी न करे और रात-दिन अपने इस लक्ष्यको याद रक्खे—जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है।

साधनाके दो प्रकार

साधनाएँ दो प्रकारकी होती हैं। एक होती है किसी बाहरी प्रेरणासे की जानेवाली कर्तव्यरूपा और दूसरी होती है अन्त:प्रेरणासे होनेवाली सहज। प्रथम प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है, विवेकसापेक्ष होती है और दूसरे प्रकारकी साधना विवेकातीत होती है, विवेक-निरपेक्ष होती है।

अन्त:प्रेरणासे होनेवाली साधनाके क्षेत्रमें कभी-कभी ऐसी भी स्थिति होती है, जिसमें ऐसी बात नहीं रहती कि साधक अपने किसी कामको या साधनको सोच-विचारकर करे।

इस स्थितिका दर्शन श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें मिलता है। जब उन्होंने घर छोड़ा, उसके पहलेकी बात है। उन्हें श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी दी। उन्होंने कहा—'मुझको श्रीकृष्ण पुकार रहे हैं।' वे समझदार थे और लोगोंने उनको समझाया, पर उनको तो श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी देती थी। उन्होंने कहा—'अब तो श्रीकृष्णकी पुकार-ही-पुकार सुनायी देती है, अब और कुछ नहीं। बस, अब उधर ही जाना है।' फिर कोई विचार या विवेक का

और कोई चीज उन्हें रोक नहीं सकी। गृह-त्यागके बाद भी यह पुकार सुनायी दी थी। यही हाल सिद्धार्थका हुआ।

गोपाङ्गनाओंने वंशीध्वनि सुनी और उनकी विचित्र स्थिति हो गयी। उस समयकी उनकी स्थितिके चित्रको देखें। कानोंमें वंशीकी ध्वनि सुनायी पड़ी। बस, उनके भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदि सबको छीन लिया उसने उसी क्षण। वे उन्मत्त हो गयीं। वह एक ऐसी चीज थी, जिसने सब चीजोंको भुला दिया। वह एक अन्तर्नाद था। उनको यह भी याद नहीं रहा कि जीवनमें क्या करना है? उस समय उनके द्वारा जो व्यावहारिक कार्य हो रहे थे, सारे-के-सारे कार्य ज्यों-के-त्यों स्थगित हो गये। उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि हाथका ग्रास हाथमें ही रह गया; एक आँख आँजनेके बाद दूसरी आँख आँजनेसे रह गयी; शरीरमें अङ्गराग चन्दन लगा रही थी, वह अधूरा ही रह गया; वस्त्र पहनना आरम्भ किया, पर जितना जैसे पहना गया, उतना वैसे ही पहना गया; छोटे-छोटे बच्चोंको स्तन पिलाना आधेमें ही छूट गया और पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थी, वह वैसे ही रह गयी। एक-दूसरीसे कुछ कहते भी नहीं बना। सब चल पड़ीं बड़े वेगसे।

यह पुकार, वह ध्वनि कुछ ऐसी आकर्षक थी, कुछ ऐसी अनन्यता लानेवाली थी कि उसने सर्वस्वका सहज त्याग करवा दिया। इस स्थितिमें यह बात नहीं रह जाती कि किसी चीजको विवेकपूर्वक त्याग करना है या वैराग्यसे त्याग करना है अथवा विवेकपूर्वक किसी चीजको प्राप्त करनेके लिये सोच-समझकर जाना

है। साधनाकी यह बहुत ऊँची स्थिति है, जो भगवत्कृपासे ही सुलभ होती है।

दूसरे प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है। विवेकपूर्ण साधनामें संसारके भोगोंको दुःखदायी, बन्धनकारक और अज्ञानकी वस्तु मानकर छोड़ा जाता है। भगवत्प्राप्तिका महत्त्व, उसका गौरव, उसके लाभ, परमानन्दकी प्राप्ति, बन्धनोंका कट जाना; मोक्षकी उपलब्धि, जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा आदि बातोंसे आकृष्ट, आश्वस्त और आस्थावान् होकर साधक साधनारूढ होता है। यह साधना भी बहुत ऊँची चीज है, पर यह साधना सविवेक है, वैराग्यपूर्ण है।

पर दूसरे प्रकारकी साधना ऐसी एक स्थिति होती है, जहाँ न विवेकका प्रवेश है और न वैराग्यको स्थान है। पर ये दोनों ही बलात् उसके साथ छिपे-छिपे लगे ही रहते हैं। वास्तवमें वहाँ जीवनमें एक स्वाभाविक गति है। एक ऐसी स्वाभाविक गति, जिसमें कोई प्रयास नहीं। सागरोन्मुखी गङ्गाकी धाराकी तरह कोई भी तनिक भी प्रयास नहीं। गङ्गाकी धाराकी सागरकी ओर स्वाभाविक गति है। रास्तेमें आनेवाले बाधा-विघ्न अपने-आप टूटते चले जाते हैं। बड़ी बाधा आनेपर गङ्गाकी धारा उसके बगलसे निकल जाती है, पर वह रुकती नहीं। रुकना चाहिये नहीं, इसीलिये कि गतिमें स्वाभाविकता है। किधरसे बहना चाहिये, कहाँ जाना चाहिये, जानेपर समुद्रसे मिलकर क्या होगा, क्या मिलेगा—इन सब प्रश्नोंको गङ्गाकी धारा नहीं जानती। समुद्रकी ओर उसकी सहज स्वाभाविक गति है। इसी प्रकारकी एक स्थिति साध

होती है। इस स्थितिकी ओर संकेत करनेके लिये गोपाङ्गनाओंका उदाहरण दिया जाता है।

सांसारिक लोग उन परमोच्च स्तरपर स्थित गोपियोंको बहुत नीचे उतार लाते हैं और उनकी पावन-पावन प्रेमचेष्टाओंमें सांसारिकता देखते हैं। भोगकी कल्पना करते हैं। पर वह भोग-जगत्—यह भौतिक संसार तो बहुत नीचे रह जाता है। संसारके आगेके दिव्य लोक जिसे छू नहीं सकते, मोक्षकी संज्ञाका जहाँ अस्तित्व नहीं है। और-तो-और भगवान्‌को ढूँढ़नेकी भी जहाँ आवश्यकता नहीं रह जाती, वह गोपाङ्गनाओंका विशुद्धतम प्रेम-जगत् है।

जहाँतक श्रुति-प्रतिपाद्य साधन है, वहाँतक श्रुतियोंका अनुसंधान है। परंतु श्रुतियोंके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। श्रुतियाँ जिनको खोज रही थीं, पर जिनको श्रुतियोंने नहीं पाया, उन भगवान् मुकुन्दको—श्रीकृष्णको गोपाङ्गनाओंने साक्षात् भजा, प्रत्यक्ष उनका सेवन किया। 'भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।' प्रेमकी साधनामें गोपियाँ आदर्श हैं। नारदजी पुकारते हैं—'यथा व्रजगोपिकानाम्।'

अन्तःप्रेरणासे होनेवाली इस साधनामें न विवेक है, न वैराग्य है; न विवेकका त्याग है, न वैराग्यका त्याग है। साथ ही, न विवेककी आवश्यकता है और न वैराग्यकी। इस स्थितिकी साधनामें एक स्वाभाविक गति है, उसका एक स्वाभाविक स्वरूप है। यह स्वरूप जब कभी किसीके जीवनमें आता है, वह धन्य है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें इस तरहकी बात मिलती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुका पहले नाम था श्रीनिमाई पण्डित। श्रीनिमाई पण्डित न्यायके प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय चलता ही है तर्कपर, न्यायका अर्थ ही है तर्कद्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करना। श्रीनिमाई पण्डित न्यायके इतने बड़े पण्डित थे कि बड़े-बड़े दिग्गज न्याय-शास्त्री शास्त्रार्थमें उनसे पराजित हो चुके थे। अवस्था कम होनेपर भी श्रीनिमाई पण्डित नवद्वीपके सर्वोपरि नैयायिक थे। दूर-दूरसे बड़ी-बड़ी उम्रवाले प्रौढ़ विद्वान् युवक श्रीनिमाई पण्डितके पास पढ़नेके लिये आया करते थे। श्रीनिमाई पण्डितके गुरुजी भी नवद्वीपमें ही थे, पर वे विद्वान् गुरुजीके पास न जाकर श्रीनिमाई पण्डितके पास ही पढ़नेके लिये आया करते थे।

ऐसे श्रीनिमाई पण्डित गया गये और गयामें भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका दर्शन करके वहीं उनका जीवन पलट गया। उनकी साधना बिल्कुल पलट गयी। गयासे लौटकर नवद्वीप आये और पूर्वाभ्यासवशात् पाठशाला गये। पढ़नेके लिये आये हुए विद्यार्थियोंने प्रणाम किया तथा पढ़ानेके लिये प्रार्थना की। श्रीनिमाई पण्डित बोले—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

विद्यार्थियोंने यही समझा कि सम्भवतः यह मङ्गलाचरण है। थोड़ी देर बाद फिर विद्यार्थियोंद्वारा पाठ पढ़ाये जानेकी प्रार्थना किये जानेपर श्रीनिमाई पण्डितने फिर वही दोहरा दिया और कहा—'पाठ ही तो दे रहा हूँ।' विद्यार्थियोंने जाकर गुरुजी आचार्य

श्रीगंगादासजीसे वस्तुस्थितिका निवेदन कर श्रीनिमाई पण्डितजीको समझानेके लिये प्रार्थना की। गुरुजीने श्रीनिमाई पण्डितको बुलाकर पूछा—'क्या तुम्हारे द्वारा ऐसा हुआ है?' श्रीनिमाई पण्डितने कहा—'हाँ।' गुरुजीने समझाते हुए कहा—'अब ठीकसे पढ़ाना।' श्रीनिमाई पण्डितने कहा—'हाँ, प्रयत्न करूँगा। पर मैं क्या करूँ, मेरे वशकी बात नहीं है।' पर प्रयत्न कैसे हो? चित्तकी तो दशा ही बदल गयी। यह परिवर्तन अपने आप ही हुआ था, विवेकजनित तो था नहीं।' फिर वही कीर्तन चला। वे विद्वान् विद्यार्थीगण लौट आये और फिर बादमें निराश होकर अपने-अपने घर वापस चले गये। श्रीनिमाई पण्डितके कीर्तनमें ऐसी मत्तता होती, वायुमण्डलपर उसका ऐसा प्रभाव होता कि जो भी समीपसे निकलता, वही नाचने लगता। अतः नवद्वीपके पण्डितोंने उस मार्गसे निकलना बंद कर दिया। इतना प्रभाव उस स्वाभाविक कीर्तनका पड़ा।

ऐसी स्थितिमें भगवान्‌के प्रति सर्वस्व सहज ही समर्पित हो जाता है। ऐसी ही स्थिति थी—ओरछाके श्रीहरिरामजी व्यासकी। श्रीव्यासजी शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। जहाँ जाते, ग्रन्थोंके छकड़े साथ-साथ चलते। कोई भी शास्त्रार्थमें उनके सामने टिक नहीं पाता था। पर जब जीवनमें परिवर्तन आया तो सारा कुछ बदल गया। सारी पोथियाँ छूट गयीं। निर्ग्रन्थ हो गये। सारी ग्रन्थियाँ वस्तुतः टूट गयीं और वृन्दावनमें वास किया। एक बार श्रीओरछा-नरेशजीने श्रीव्यासजीको बुलाया। वे नहीं गये तो उनको बुलानेके लिये अपने

दीवानजीको भेजा। दीवानजीको आया हुआ देखकर श्रीव्यासजीको बड़ी ही वेदना हुई। वृन्दावनसे जाना न पड़े, अतः श्रीव्यासजी एक-एक पेड़ और एक-एक लतासे लिपट-लिपटकर रोने लगे। सबसे कहने लगे—'देखो भाई! मुझे छोड़ना मत।' उनकी जाने लायक स्थिति नहीं देखकर श्रीदीवानजी यों ही लौट आये।

यह साधनाकी एक स्थिति है जो अपने-आप होती है। बनानेसे नहीं होती। भगवत्कृपासे ही ऐसी स्थिति जीवनमें अभिव्यक्त होती है। परंतु यह स्थिति भगवत्कृपासे वहीं व्यक्त होती है, जहाँ भूमिका तैयार रहती है। हर जगह तो व्यक्त होती नहीं। अतः इस भूमिकाके लिये प्रस्तुत होना है।

यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि मनुष्यका जीवन कदापि—कदापि भोगके लिये नहीं है। भोगके लिये मनुष्य-जीवन है—इस संकल्पको मनसे सर्वथा ही उठा देना चाहिये। यह बिल्कुल भ्रम है और अज्ञान है। पाप है। मानव-जीवन एक बहुत बड़ी निधि है और इसको खो देना बहुत बड़ा अपराध है। यह अपराध भगवान्‌के प्रति है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

भगवान्‌की दी हुई परम कृपापूर्ण सुविधाको जो अपने प्रमादसे हटा देते हैं, वे इस कृपा-प्रसादका तिरस्कार करते हैं और भगवान्‌के प्रति बड़ा अपराध करते हैं। इसीलिये वे आत्महत्यारे हैं।

मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भोग है, इस भावनाका पूर्णतः परित्याग कर देना चाहिये। भोगके महत्त्वके मनसे निकलते ही बहुत-

झंझटें अपने-आप मिट जाती हैं। निन्दा-स्तुति, मान-अपमान—यह सब केवल अपनी मान्यताकी बात है। इसी बखेड़ेमें हमारा सारा जीवन बीत रहा है। देश या जाति या विश्वके नामपर जो भी उधेड़-बुन चलती है, है तो भौतिक जीवनको लेकर ही और भौतिकतामें कभी सफलता मिलती नहीं। प्रकृतिके विस्तारका अन्त नहीं है। भोगकी आकाङ्क्षा चाहे व्यक्तिके लिये हो या समष्टिके लिये हो, यदि किसी जीवनमें है, तो असफलता ही हाथ लगेगी। तृष्णा कभी समाप्त होती नहीं। थोड़ा पानेवालेका थोड़ा बाकी रहता है और ज्यादा पानेवालेका ज्यादा बाकी रहता है।

भोग-जीवनमें आस्था और भोग-जीवनकी लिप्सा ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। इसमेंसे हम सभीको निकलना है। जो निकल गया, वह निकल गया। जो निकला नहीं, उसे निश्चित—निश्चित पछताना पड़ेगा। इसमें कोई संदेह नहीं। चाहे किसीकी समझमें आवे या न आवे; समझमें आकर स्वीकार करे या न करे, पर सत्य कभी असत्य हो नहीं सकता। मनुष्य-जीवनको प्राप्त करके जो भगवत्प्राप्तिके प्रयासमें नहीं लगा, उसको अवश्यमेव पछताना पड़ेगा।

इस अवसरके हाथसे निकल जानेपर क्या बचेगा। अतः जीवनमें मोड़ लाना है। भोगोंकी ओर उन्मुख जीवनको भगवान्‌की ओर लगाना है। भगवान्‌के सम्मुख होना है। गति मन्द हो तो कोई बात नहीं। एक ही पग आगे बढ़ पाये तो कोई चिन्ता नहीं, पर भोगोंको पीठ देकर भगवान्‌की ओर बढ़ना है। भगवान्‌की ओर

हम मुख करेंगे तो भगवान् हमारी ओर मुख करेंगे। भगवान्‌की ओर हम चलेंगे तो भगवान् हमारी ओर चलेंगे। परंतु हम चलेंगे अपनी चाल और भगवान् चलेंगे अपनी चाल। भगवान्‌ने पहुँचनेका संकल्प किया तो उनको पहुँचते क्या देर लगेगी? भगवान्‌के संकल्पमें संकल्प, संकल्पानुसार कार्य और कार्यकी सिद्धि—तीनों एक साथ होती हैं। इसीलिये उनका नाम सत्य-संकल्प है। भगवान्‌की ओर मुख होनेसे भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब नहीं होगा।

भगवान्‌की ओर सम्मुख होनेकी कसौटी क्या है? बिलकुल सीधी बात है। भोग सुहाये नहीं। भोगोंसे विमुख होनेपर वे सुहायेंगे कैसे? यदि भोग सुहाते हैं तो हम उनके सम्मुख हैं। भोगोंके सम्मुख और भगवान्‌के विमुख होनेसे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

राम बिमुख सपनेहुँ सुख नाहीं।

वे लोग अभागे हैं जो भगवान्‌का परित्याग करके विषयोंसे अनुराग करते हैं।

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

सौभाग्यशाली कौन है? जो विषयोंका वमनवत् परित्याग कर देता है और श्रीहरिके चरणकमलोंसे अनुराग करता है।

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

भोगोंसे विमुखता और भगवान्‌की ओर सम्मुखता, यहींसे मानवकी मानवताका आरम्भ होता है। अतः सभीको भगवत्साधनामें लगना चाहिये। जो लगे हैं, उनकी सहायता करना चाहिये।

साधनामें लगे हुए किसीको कभी हतोत्साहित नहीं करना चाहिये; क्योंकि असली काम तो वही कर रहा है। साधनामें हतोत्साहित करना पाप है।

साधक संसारकी परवा नहीं करे। सांसारिक हानि कोई हानि नहीं है। संसारमें होनेवाली हानिकी चिन्ता न करे। सांसारिक हानिकी, लौकिक मान-अपमानकी किसी प्रकारके अभावकी परवा न करे और साधक अपनी साधनामें लगा रहे। जगत्‌के लोग तिरस्कार कर सकते हैं। जगत्‌के लोग उसी साधुका अधिक आदर करते हैं, जिसके आशीर्वादसे और अधिक भोगोंके प्राप्त होनेकी सम्भावना हो। वैराग्यके नामपर विरक्त भगवत्प्रेमी साधु-संतोंका आदर करनेवाले लोग बहुत थोड़े होते हैं। जगत्‌के भय और प्रलोभनोंसे अत्यन्त उपरत होकर सतत साधना करता रहे। भगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे। सर्वोत्तम यही है कि जगत्‌की स्मृति हो ही नहीं। इस विवेकपूर्ण साधनामें सतत संलग्न रहनेसे ही उस भूमिका निर्माण होता है, जहाँ भगवत्कृपासे उस दिव्य साधनस्थिति-की अभिव्यक्ति होती है; जो विवेकातीत है और पूर्णतः निरपेक्ष है। जिस स्थितिके प्राप्त होनेपर जीवन धन्य हो जाता है, कुल पवित्र होता है, जननी कृतार्थ होती है और धरणी धन्य होती है तथा वह इतना पवित्र हो जाता है कि उसके जीवनमें पवित्रताकी धारा बह निकलती है जो जगत्‌के पाप-तापग्रस्त प्राणियोंको शीतल-शान्तिका पान कराकर धन्य करती है।

मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य

महात्मा श्रीचरणदासजीने एक जगह लिखा है—एक नगर था। उस नगरमें ऐसी प्रथा थी कि एक वर्ष पूरा हो जानेपर उस नगरके राजाको गद्दीसे उतार दिया जाता था और नये राजाको बैठाया जाता था। पुराने राजाको नावमें बैठाकर नदीपार भीषण वनमें अकेला छोड़ दिया जाता था। प्रतिवर्ष इस प्रकार होता था। यों कई मनुष्य राजा बने और वर्ष पूरा हो जानेपर जंगलमें जाकर दुःख भोगने लगे। एक वर्षतक राज्य-सुख-भोगमें वे इतने आसक्त रहते थे कि उन्हें एक वर्ष बाद क्या स्थिति होगी, इसकी याद ही नहीं रहती थी।

एक बार इसी नियमानुसार एक मनुष्यको राजगद्दी मिली। वह बहुत बुद्धिमान् था। उसने गद्दीपर बैठते ही पूछा—'यह कितने दिनोंके लिये है?' कर्मचारियोंने बताया—'एक वर्षके लिये है।' उसने पूछा—'फिर क्या होगा?' उसको बताया गया कि 'एक वर्ष पूरा होनेके बाद आपसे यह राज्यसत्ता छीन ली जाँ

आपकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि वस्त्र भी उतार लिये जायँगे। केवल एक धोती पहने आपको नदीके उस पार बीहड़ वनमें अकेले जाना पड़ेगा। नाववाले आपको वहाँ उतारकर लौट आयेंगे। यही यहाँकी सनातन प्रथा है।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'एक वर्ष तो बहुत है। इतने समयमें तो सब कुछ किया जा सकता है।' उसने राज्यका भार हाथमें लिया और सावधानी तथा ईमानदारीसे न्यायपूर्वक वह प्रजापालन करने लगा, पर एक वर्षकी अवधिको नहीं भूला। उसने अपने व्यक्तिगत सुखोंकी कुछ भी परवा नहीं की। नाच-मुजरे, अभिनन्दन-सम्मान, मौज-शौक, खेल-तमाशे आदि व्यर्थके कार्य सब बंद कर दिये और यह आदेश दे दिया कि 'नदीपारका जंगल काटकर वहाँ बस्ती बसायी जाय। नगर बने। प्रचुर मात्रामें साधन-सामग्री तथा काम करनेवाले योग्य पुरुष वहाँ भेज दिये जायँ। वर्ष पूरा होनेके पहले पहले वहाँ सब व्यवस्था ठीक हो जाय।'

इस प्रकार आदेश देकर वह अपना काम सम्हालने लगा। राज्य-सुख भोगनेमें उसने अपना समय नष्ट नहीं किया। किंतु एक वर्ष बाद उसे दुःख भोगना न पड़े और सब सुख-सुविधा बनी रहे, इसके लिये वह प्रयत्न करता रहा। एक वर्षकी अवधिमें वहाँ जंगलकी जगह एक छोटा-सा सुन्दर देश बस गया। सब सामग्रियाँ वहाँ सुलभ हो गयीं। एक वर्ष पूरा हो जानेके बाद उसको गद्दीपरसे उतार दिया गया। वह तो हँस रहा था। उसको किसी बातकी चिन्ता न थी। वह जब नावमें चढ़कर हँसता हुआ नदीपार जाने लगा,

तब नाविकोंने पूछा— और वर्ष तो जो लोग जाते थे, सभी रोते थे; आप कैसे हँस रहे हैं ?' उसने कहा—'भाई ! वे लोग एक वर्षतक राज्य सुख भोगते रहे, मौज-मजे करते रहे, विषयानन्दमें निमग्न रहे। उन्होंने भविष्यका विचार नहीं किया। इसीसे वे रोते गये। परंतु मैं सावधान था। मैं बराबर विचार करता रहा कि एक वर्षके बाद तो यह राज्य तथा यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। इसलिये मैंने सारे व्यर्थ कार्य रोक दिये, सारे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद बंद कर दिये और एक वर्षके बादकी स्थिति सँभालनेके लिये प्रयत्न करता रहा। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि एक वर्षकी राज्यसत्ताका मैंने पूरा लाभ उठा लिया है। इसीलिये मैं हँस रहा हूँ।'

यह एक दृष्टान्त है। सिद्धान्तमें यह समझना चाहिये कि हमको यह देव-दुर्लभ मानवशरीर एक नियत समयके लिये ही मिला है। नियत समय पूरा होनेपर यह हमसे छीन लिया जायगा और इसके सारे साज-सामान भी यहीं छूट जायँगे। जबतक जीवनका यह नियत काल पूरा न हो जाय, तभीतक मानव-जीवनका पूरा लाभ उठा लेना चाहिये। भगवान्‌का सतत स्मरण करना चाहिये और संसारके प्राणी-पदार्थोंमें मोह न रखकर, यहाँके भोगोंसे विरक्त और उपरत रहकर, पवित्र निष्पाप जीवन बिताते हुए इन्द्रिय-संयमपूर्वक सबमें भगवद्भाव रखकर सबकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख न उठाना पड़े। जीवन क्षणभङ्गुर है। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय।

एक भ्रमर सायंकालके समय एक कमलपर बैठकर उसका रस पी रहा था। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया। सूर्यास्त होनेपर कमल संकुचित हो जाता है। अतः कमल बंद होने लगा, पर रसलोभी मधुप विचार करने लगा—अभी क्या जल्दी है, रातभर आनन्दसे रसपान करते रहें—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार॥

'रात बीतेगी। सुन्दर प्रभात होगा। सूर्यदेव उदित होंगे। उनकी किरणोंसे कमल पुनः खिल उठेगा, तब मैं बाहर निकल जाऊँगा।' वह भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाय! एक जंगली हाथीने आकर कमलको डंडीसमेत उखाड़कर दाँतोंमें दबाकर पीस डाला। यों उस कमलके साथ भ्रमर भी हाथीका ग्रास बन गया। इस प्रकार पता नहीं, कालरूपी हाथी कब हमारा ग्रास कर जाय। मृत्यु आनेपर एक श्वास भी अधिक नहीं मिलेगा। मृत्युकाल आनेपर एक क्षणके लिये भी कोई जीवित नहीं रह सकता। उस समय कोई कहे कि 'मैंने वसीयतनामा (Will) बनाया है। कागज (Document) तैयार है। केवल हस्ताक्षर करने बाकी हैं। एक श्वास अधिक मिल जाय तो मैं सही कर दूँ।' पर काल यह सब नहीं सुनता। बाध्य होकर मरना ही पड़ता है। यह है हमारे जीवनकी स्थिति। अतएव मानव-

जीवनकी सफलताके लिये संसारके पदार्थोंसे ममता उठाकर भगवान्में ममता करनी चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी ममता राम सों ममता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार॥

हम प्राणी-पदार्थोंमें ममता बढ़ाते हैं, पर यह ममता स्वार्थमूलक है। स्वार्थमें जरा-सा धक्का लगते ही यह ममता टूट जाती है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं—'माता, पिता, भाई, स्त्री, शरीर, धन, सुहृद्, मकान, परिवार—सबकी ममताके धागोंको सब जगहसे बटोर लो। ममताको धागा इसलिये कहा गया है कि इसे टूटते देर नहीं लगती। फिर उन सबकी एक मजबूत डोरी बट लो। उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दो। अर्थात् मेरे चरण ही तुम्हारे रहें, और कुछ भी तुम्हारा न हो। सारी ममता मेरे चरणोंमें ही आकर केन्द्रित हो जाय। ऐसा करनेसे क्या होगा? देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

ऐसे सत्पुरुष मेरे हृदयमें वैसे ही बसते हैं, जैसे लोभीके हृदयमें धन। अर्थात् लोभीके धनकी तरह मैं उन्हें अपने हृदयमें रखता हूँ। अतः संसारके प्राणी-पदार्थोंसे ममता हटाकर एकमात्र भगवान्में ममता करनी चाहिये।

भगवान् और भोगमें बड़ा भारी अन्तर है। उनके स्वरूप, साधन और फलके बारेमें मैं आपको सात बातें बताता हूँ—

१—भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः यह सहज है।

भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है। प्रारब्धकर्मके बिना, चाहे जितनी प्रबल इच्छा की जाय, भोग नहीं मिलते।

२—भगवान् एक बार प्राप्त हो जानेपर कभी बिछुड़ते नहीं।

भोग बिना बिछुड़े रहते नहीं। उनका वियोग अवश्यम्भावी है, चाहे भोगोंको छोड़कर हम मर जायँ।

३—भगवान्‌की प्राप्ति जब होती है; पूरी ही होती है; क्योंकि भगवान् नित्यपूर्ण हैं।

भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी होती है; क्योंकि भोग कभी पूर्ण हैं ही नहीं।

४—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।

५—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें ही शान्ति मिलती है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ जाती है।

६—भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है।

भोगोमें मन रखते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है।

७—भगवान्‌को स्मरण करके मरनेवाला निश्चय ही भगवान्‌को प्राप्त होता है।

भोगोमें मन रखकर मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है।

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन ही करे। भगवान्‌का भजन नित्य, अखण्ड और पूर्ण शान्ति देनेवाला है। सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिससे भी हमारा व्यवहार पडे, उसीमें भगवद्भाव करे। न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका। आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भगिन-माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार

बर्ताव करे। यों ही वकील मवक्किलको, दूकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और इसी प्रकार अपराधी न्यायाधीशको, भंगिन उच्चवर्णके लोगोंको, मवक्किल वकीलको, ग्राहक दूकानदारको, रोगी डाक्टरको, मालिक नौकरको, पति पत्नीको, पिता पुत्रको भगवान् समझकर व्यवहार करे। बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी। भगवान्‌की नित्य-स्मृति बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकेगा। भगवान्‌ने कहा है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'—अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है। अतएव मानव-जीवनका परम कर्तव्य समझकर सभीको भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवामें जीवन बिताना चाहिये।

जूनागढ़ पवित्र तीर्थभूमि है; क्योंकि यहाँ भगवान्‌के परमभक्त श्रीनृसिंह मेहता निवास करते थे। यहाँपर सिद्धोंका निवास-स्थान परम पवित्र गिरनार पर्वत है। ऐसी पवित्र तीर्थभूमिको शतशः प्रणाम और इस भूमिके समस्त निवासियोंको भी प्रणाम। अन्तमें मैं आप सबको प्रणाम करके करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप सब लोग मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि भगवान्‌के पवित्र तथा निष्काम मधुर स्मरणमें मेरा चित्त सदा लगा रहे।

साधकका स्वरूप

चार प्रकारके मनुष्य होते हैं— १. पामर, २. विषयी, ३. साधक या मुमुक्षु और ४. सिद्ध या मुक्त। इनमें पामर तो निरन्तर पाप-कर्ममें ही लगा रहता है, विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये वह सदा-सर्वदा बुरी-बुरी बातोंको सोचता और बुरे-बुरे आचरण करता रहता है। उसकी बुद्धि सर्वथा मोहाच्छन्न रहती है तथा वह पुण्यमें पाप एवं पापमें पुण्य देखता हुआ निरन्तर पतनकी ओर अग्रसर होता रहता है। अतएव उसकी बात छोड़िये। इसी प्रकार सिद्ध या मुक्त पुरुष भी सर्वथा आलोचनाके परे है। उसकी अनुभूतिको वही जानता है। उसकी स्थितिका वाणीसे वर्णन नहीं

किया जा सकता तथापि हमारे समझनेके लिये शास्त्रोंने उसका सांकेतिक लक्षण 'समता' बतलाया है। वह मान-अपमानमें, स्तुति-निन्दामें, सुख-दुःखमें, लाभ-हानिमें सम है। उसके लिये विषयोंका त्याग और ग्रहण समान है, शत्रु-मित्र उसके लिये एक-से हैं। वह द्वन्द्वरहित एकरस स्वसंवेद्य स्वरूप-स्थितिमें विराजित है। किसी भी प्रकारकी कोई भी परिस्थिति, कोई भी परिवर्तन उसकी स्वरूपावस्थामें विकार पैदा नहीं कर सकते।

अब रहे विषयी और साधक। सो इन दोनोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं। दोनोंके दो पथ होते हैं। विषयी जिस मार्गसे चलता है, साधकका मार्ग ठीक उसके विपरीत होता है। विषयी पुरुषको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—वासना, कामनासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भोग। वह कामना-वासनाके वशवर्ती होकर, कामनाके द्वारा विवेकभ्रष्ट होकर कामनाके दुरन्त प्रवाहमें बहता हुआ विषयासक्त चित्तसे भोगोंकी प्राप्तिके लिये अनवरत कर्म करता है। साधकको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—भगवान्‌की आज्ञासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भगवान्‌की प्रीति। वह भगवान्‌की आज्ञासे प्रेरणा प्राप्त कर, विवेककी पूर्ण जागृतिमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे भगवान्‌में आसक्त होकर भगवान्‌की प्रीतिके लिये कर्म करता है। यही उनका मौलिक भेद है। विषयी मान चाहता है, साधक मानका त्याग चाहता है; विषयी निरन्तर बड़ाईका भूखा रहता है, उसे बड़ाई बड़ी प्रिय मालूम होती है, पर साधक बड़ाई-प्रशंसाको

महान् हानिकर मानकर उससे दूर रहना चाहता है। वह प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा'के समान त्याज्य और घृणित मानता है। विषयीको विलास-वस्तुओंसे सजे-सजाये महलोंमें सुख मिलता है तो साधकको घास-फूसकी कुटियामें आरामका अनुभव होता है। विषयी बहुत बढ़िया फैशनके कपड़े पहनता है तो साधकको उन कपड़ोंसे शर्म आती है और वह सादे साधारण वस्त्रका व्यवहार करता है। विषयी इत्र-फुलेल लगाता है तो साधकको उनमें दुर्गन्ध आती है। इस प्रकार विषयी पुरुष संसारका प्रत्येक सुख चाहता है, साधक उस सुखको फँसानेवाली चीज मानकर—दुःख मानकर उससे बचना चाहता है।

साधकमें सिद्धपुरुषकी-सी समता नहीं होती और जबतक वह सिद्धावस्थामें नहीं पहुँच जाता, तबतक समता उसके लिये आवश्यक भी नहीं है। उसमें विषमता होनी चाहिये और वह होनी चाहिये विषयी पुरुषसे सर्वथा विपरीत। उसे सांसारिक भोग वस्तुओंमें वितृष्णा होनी चाहिये। सांसारिक सुखोंमें दुःखकी भावना होनी चाहिये और दुःखोंमें सुखकी। सांसारिक लाभमें हानिकी भावना होनी चाहिये और हानिमें लाभकी। सांसारिक ममताके पदार्थोंकी वृद्धिमें अधिकाधिक बन्धनकी भावना होनी चाहिये और ममताके पदार्थोंकी कमीमें अधिकाधिक बन्धन-मुक्तिकी जगत्में उसका सम्मान करनेवाले, पूजा-प्रतिष्ठा करनेवाले, कीर्ति, प्रशंसा और स्तुति करनेवाले लोग बढ़ें तो उसे हार्दिक प्रतिकूलताका बोध होना

चाहिये और इनके एकदम न रहनेपर तथा निन्दनीय कर्म सर्वथा न करनेपर भी अपमान, अप्रतिष्ठा और निन्दाके प्राप्त होनेपर अनुकूलताका अनुभव होना चाहिये। जो लोग साधक तो बनना चाहते हैं पर चलते हैं विषयी पुरुषोंके मार्गपर तथा अपनेको सिद्ध मानकर अथवा बतलाकर समताकी बातें करते हैं, वे तो अपनेको और संसारको धोखा ही देते हैं। निष्काम कर्मयोगकी, तत्त्वज्ञानकी या दिव्य भगवत्प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातें भले ही कोई कर ले। जबतक मनमें विषयासक्ति और भोग-कामना है, जबतक विषयी पुरुषोंकी भाँति भोग-पदार्थोंमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है तथा राग-द्वेष है, तबतक वह साधककी श्रेणीमें ही नहीं पहुँच पाया है; सिद्ध या मुक्तकी बात तो बहुत दूर है। मनमें कामना रहते केवल बातोंसे कोई निष्काम कैसे होगा? और मनमें भोगसुखमें विश्वास रहते कोई उनकी कामना कैसे नहीं करेगा? मनमें मोह रहते कोई तत्त्वज्ञानी कैसे होगा और मनमें विषयानुराग रहते कोई भगवत्प्रेमी कैसे बन सकेगा? अतएव साधकको विषयीसे विपरीत मार्गमें अनुकूलता दिखायी देनेवाली मनोवृत्तिका निर्माण करना होगा। इसीलिये भगवान्‌ने 'बार-बार विषयोंमें दुःख-दोष देखने'की आज्ञा दी है—'दुःखदोषानुदर्शनम्।' संसारकी प्रत्येक अनुकूल कहानेवाली वस्तुमें, भोगमें और परिस्थितिमें साधकको सदा-सर्वदा दुःख-बोध होना चाहिये। दुःखका बोध न होगा तो सुखका बोध होगा। सुखका बोध होगा तो उनकी स्पृहा बनी रहेगी। मन उनमें लगा ही रहेगा। इस प्रकार संसारके भोगादिमें सुखका बोध

भी हो, उनमें मन भी रमण करता रहे तथा उनको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा भी बनी रहे और वह भगवान्‌को भी प्राप्त करना चाहे—यह बात बनती नहीं—

> जहाँ काम तहाँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
> तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रवि रजनी इक ठाम॥

जैसे सूर्य और रात्रि—दोनों एक साथ एक स्थानमें नहीं रह सकते, इसी प्रकार 'राम' और 'काम'—'भगवान्' और 'भोग' एक साथ एक हृदयदेशमें नहीं रह सकते। इसलिये साधकको चाहिये कि भोगोंको दुःख दोष-पूर्ण देखकर उनसे मनको हटावे। उसे यदि भोगोंके त्यागका या भोगोंके अभावका अवसर मिले तो उसमें वह अपना सौभाग्य समझे। वस्तुतः भोगोंमें सुख है ही नहीं, सुख तो एकमात्र परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान्‌में है। विषय-सुख तो मीठा विष है जो एक बार सेवन करते समय मधुर प्रतीत होता है पर जिसका परिणाम विषके समान होता है। भगवान्‌ने कहा है—

> विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
> परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
> (गीता १८।३८)

इसीलिये बुद्धिमान् साधक इन दुःखयोनि संस्पर्शज भोगोंसे कभी प्रीति नहीं करते, वे अपना सारा जीवन बड़ी सावधानीसे भगवान्‌के भजनमें बिताते हैं। देवर्षि नारदजी कहते हैं—

> विहाय कृष्णसेवां च पीयूषादधिकां प्रियाम्।
> को मूढो विषमश्नाति विषमं विषयाभिधम्॥

स्वप्नवन्नश्वरं तुच्छमसत्यं मृत्युकारणम् ।
यथा दीपशिखाग्रं च कीटानां सुमनोहरम् ॥
यथा बडिशमांसं च मत्स्यापातसुखप्रदम् ।
तथा विषयिणां तात विषयं मृत्युकारणम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्म० ८ । ३६—३८)

ऐसा कौन मूढ़ होगा जो अमृतसे भी अधिक प्रिय—सुखमय श्रीकृष्ण-सेवा (भजन) को छोड़कर विषम विषयरूप विषका पान करना चाहेगा ? जैसे कीट-पतंगोंकी दृष्टिमें दीपककी ज्योति बड़ी मनोहर मालूम होती है और वंसीमें पिरोया हुआ मांसका टुकड़ा मछलीको सुखप्रद जान पड़ता है, वैसे ही विषयासक्त लोगोंको स्वप्नके सदृश असार, विनाशी, तुच्छ, असत् और मृत्युका कारण होनेपर भी, 'विषयोंमें सुख है'—ऐसी भ्रान्ति हो रही है ।

साधक इस भ्रान्तिके जालको काटकर इससे बाहर निकल जाता है, अतएव जब उसके विषय-सुखका हरण या अभाव होता है, तब वह भगवान्‌की महती कृपाका अनुभव करता है । वास्तवमें है भी यही बात । मान लीजिये, एक दीपक जल रहा है; दीपककी लौ बड़ी सुन्दर और मनोहर प्रतीत होती है, उस लौकी ओर आकर्षित होकर हजारों पतंगे उड़-उड़कर जा रहे हैं और उसमें पड़कर अपनेको भस्म कर रहे हैं । इस स्थितिमें यदि कोई सज्जन उस दीपकको बुझा दे या दीपक और पतंगोंके बीचमें ऊंचा पर्दा लगा दे, पतंगोंको उधर जानेसे रोक दे तो बताइये, इसमें उन पतंगोंका उपकार हुआ या अपकार ? और इस प्रकार पतंगोंको जल मरनेसे बचानेवाला वह

मनुष्य उनका उपकारी हुआ या अपकारी ! बुद्धिमान् मनुष्य यही कहेगा कि उसने बड़ा उपकार किया जो पतंगोंको जलनेसे बचा लिया ।

इसी प्रकार यदि सहज सुहृद् भगवान् दया करके हमें भोगके भीषण दावानलसे बचानेके लिये भोगवस्तुओंका अभाव कर देते हैं, उनसे हमारा विछोह करा देते हैं तो वे हमपर बड़ा उपकार करते हैं । कीचड़में आकण्ठ धँसे हुए किसी प्राणीको यदि कोई उससे खींचकर निकाल लेता है तो वह बहुत ही अनुग्रह करता है । भगवान्ने बलिके साम्राज्य-वैभवका हरण कर लेनेके बाद ब्रह्माजीसे स्वयं कहा है—

> ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
> यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥
> (श्रीमद्भा० ८ । २२ । २४)

'ब्रह्माजी ! धनके मदसे मतवाला होकर मनुष्य मेरा (भगवान्‌का) और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है (इससे वह परमार्थके मार्गसे वञ्चित हो जाता है, अतः उसका कल्याण करनेके लिये) उसपर अनुग्रह करके मैं उसका धन (विषय-वैभव) हर लिया करता हूँ ।'

उसपर तो मेरी बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये कि जो मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादि विषयोंको पाकर उनका घमंड नहीं करता—

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २२ । २६)

आगे चलकर भगवान्‌ने इसी सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते हुए यहाँतक कह दिया कि—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
(श्रीमद्भा० १० । ८८ । ८-१०)

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका सारा धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ । जब वह धनहीन हो जाता है, तब उसके घरके लोग उसके दुःखाकुल चित्तकी परवा न करके उसे त्याग देते हैं । वह (यदि) फिर धनके लिये उद्योग करता है तो (उसके परम कल्याणके लिये मैं कृपा करके) उसके प्रत्येक प्रयत्नको असफल करता रहता हूँ । इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब उसका मन धनसे विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मन हटा लेता है, तब वह मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मैत्री करता है और तब मैं उसपर अहैतुक अनुग्रह करता हूँ । मेरी उस कृपासे उसे उस परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।'

साधकके तो जीवनका लक्ष्य ही परमात्माकी प्राप्ति है, अतः वह इस अवस्थामें भगवान्‌के अनुग्रहका प्रत्यक्ष अनुभव करके सहज ही प्रसन्न होता है। वह समझता है भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मुझको कीचड़से—दलदलसे, नरककुण्डसे निकाल लिया। भयानक विषपानसे बचा लिया। वह विषयोंके अभावमें सचमुच एक विलक्षण आध्यात्मिका, शान्तिका, भारमुक्तिका अनुभव करता है। यह सत्य है कि जिसको संसारमें जितनी सुख-सुविधा अधिक मिलती है, वह उतना ही अधिक रागसम्पन्न होकर संसारपाशमें बँधता है। इस दृष्टिसे जिसके पास ममत्वकी वस्तुएँ—मकान, जमीन, धन आदि अधिक हैं, जिसके आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, अनुयायी अनुगामी, शिष्य-प्रशिष्य जितने अधिक हैं, उतनी ही उसकी विषयोंमें आसक्ति अधिक है और वह उतना ही दुःखका, नरकयन्त्रणाके भोगका अधिक अधिकारी होगा। उसका नरकोंमें जाना और वहाँके भीषण कष्टोंको भोगना उतना ही सहज होगा; क्योंकि जहाँ विषयासक्ति बढ़ी होती है, वहाँ विवेक नहीं रहता। विवेकका नाश होते ही पापबुद्धि हो जाती है और पापका फल नरकभोग या संताप अनिवार्य है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि जो लोग कामोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, आशाओंकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामोपभोगकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहका प्रयत्न करते रहते हैं। जो कहते हैं कि आज हमने यह कमाया, हमारे और सब मनोरथ पूरे होंगे। हमारे पास इतना धन हो गया, और भी होगा। हमने उस शत्रुको मार दिया, दूसरोंको भी काम

समाप्त कर देंगे । हम ही ईश्वर हैं, हम भोगी हैं, हम सफल-जीवन हैं, हम बलवान् और सुखी हैं, हम बड़े धनी और जनताके नेता हैं । हमारे समान दूसरा है ही कौन ? हम यज्ञ करेंगे, हम दान देंगे, हम आनन्दसागरमें हिलोरें लेंगे । इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकचित्तविभ्रान्त और मोह-जालसमावृत, कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गीता १६ । १६)

ऐसे लोग चाहे अपनेको कितना ही सुखी और समृद्ध मानें, चाहे इनको कितनी ही सुख-सुविधा और मान-सम्मान प्राप्त हो, चाहे इनके कितने ही अनुयायी, शिष्य, अनुगामी, सहयोगी, सखा, मित्र, बान्धव हों, कितना ही ऊँचा इनको अधिकार या पद प्राप्त हो, कितने ही अधिक आरामसे विशाल सुसज्जित भवनोंमें इनका निवास हो, चाहे इनके सुख-ऐश्वर्यको देख-देखकर लाखों-करोड़ों लोग ललचाते हों, परंतु जिनकी मनोवृत्ति उपर्युक्त प्रकारकी है—उनका यह सारा सुख-वैभव उस दुःखपूर्ण विशद ग्रन्थकी भूमिका है, जो उनके लिये निर्माण हो रहा है या वह उस दुःख-यातनापूर्ण विशाल भवन—नरकालयकी नींव है जो उनके लिये बन रहा है । इसलिये साधकको बड़ी सावधानीके साथ इस भोगसुखाश्रयी आसुरी मनोवृत्तिसे बचना चाहिये और संसारके इस भोग-सुख-वैभवके अभाव-में सौभाग्यका अनुभव करना चाहिये । परमबुद्धिमती कुन्तीदेवीने भगवान्से वरदान माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५)

'जगद्गुरो ! हमारे जीवनमें सदा पद-पदपर विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर अपुनर्भव (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है । फिर जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं आना पड़ता ।'

कुन्ती इस बातको जानती थी कि भगवान् 'अकिञ्चन' (निर्धन) प्रिय हैं, 'अकिञ्चन' (निर्धन) के धन हैं और 'अकिञ्चन'को ही प्राप्त होते हैं । इसीलिये उन्होंने अपनी स्तुतिमें 'अकिञ्चनवित्ताय', 'अकिञ्चनगोचरम्' कहकर उनका गुणगान किया है ।

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय ।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल राम रटाय ॥

इसीलिये साधक भोगसुखमें परम हानिका प्रत्यक्ष करके भोगोंके अभावरूप दुःखका इच्छापूर्वक वरण करता है । पर याद रखना चाहिये कि भोगोंके स्वरूपतः त्यागसे ही इस भावकी पूर्णता नहीं होती । असलमें तो मनसे भोगोंका त्याग होना चाहिये । भोगोंमें मलिन-बुद्धि, दुःख-बुद्धि, दोष-बुद्धि, वमन-बुद्धि, मल-बुद्धि या विष-बुद्धि होनी चाहिये । अपने टाट पहन ली, पर यदि रेशमी वस्त्र पहननेवालोंके प्रति आकर्षण रहा, अपने झोपड़ीमें रहते हैं पर यदि महलोंमें रहनेवालोंका सौभाग्य मनपर प्रभाव डालता है, अपने रूखा-सूखा खाते हैं पर यदि मेवा-मिष्ठान्नोंपर मन चलता है, अपने सादगीसे रहते हैं पर यदि विलासी जीवनको देखकर उसके

सुखी और सौभाग्यवान् होनेकी कल्पना होती है; चाहे कोई दुःख प्रकट न करे, पर जबतक मनकी यह स्थिति है, तबतक भोगोंके अभावमें प्रतिकूलता बनी ही है। भोगोंका गौरव तथा महत्त्व मनमें वर्तमान है ही। साधकके लिये मनकी यह स्थिति बड़ी विघ्नकारक है। उसकी साधनामें यह एक महान् प्रतिबन्धक या अन्तराय है। अतएव साधकको अपने मनसे भोगोंका गुरुत्व, महत्त्व बिल्कुल निकाल देनेका प्रयत्न करना चाहिये।

एक बार काशीमें एक विधवा बहिन मिली थी। वह अपनी स्थितिमें बहुत ही संतुष्ट थी। उसने मुझे बताया कि 'विधवा होनेके बाद ही भगवत्कृपासे मेरी मनोवृत्ति बदल गयी। मैंने भोगोंके अभावमें सुखका अनुभव किया।' उसने कहा—'मैं यदि संसारमें भोग-जीवन बिताती, मेरे बाल-बच्चे होते, कोई बीमार होता, कोई मरता, किसीके विवाहकी चिन्ता होती। हजारों तरहके नये-नये अभावोंकी आगमें मुझे झुलसते रहना—जलते रहना पड़ता। अब मैं बड़ी सुखी हूँ, बिना किसी भय-आशङ्काके भगवान्का भजन करती हूँ। रूखा-सूखा जो मिल जाता है, खा लेती हूँ, जो मोटा-झोटा मिल जाता है पहन लेती हूँ। मेरे कोई आवश्यकता ही नहीं है। न मुझे शृङ्गारकी चिन्ता है, न आवश्यकता है, न मुझे जीभके स्वादकी चिन्ता है, न आवश्यकता है। यदि इसी प्रकार विधवा बहिनोंके, अभावग्रस्त भाई-बहिनोंके भाव बदल जायँ और वे अभावकी स्थितिमें अनुकूलताका अनुभव करने लगें तो सभी तुरंत सुखी हो सकते हैं। वस्तुतः संसारमें सुख-दुःख किसी वस्तुमें,

अवस्थामें, स्थितिमें या प्राणी-पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल मनकी भावनामें है। भावना बदल जाय, दुःखमें भगवत्कृपाके दर्शन हो तो दुःख नामक कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी। भावनामें ही दुःख-सुख रहते हैं। एक आदमी ध्यानका अभ्यास करनेके लिये कोठरीमें जाकर बाहरसे बंद कर लेनेको कहता है और दूसरे आदमीको कोई वैसी ही कोठरीमें बलपूर्वक बंद कर देता है। दोनो एक-सी कोठरीमें, एक-सी स्थितिमें हैं। दोनोंके ही चित्त चञ्चल है, ध्यानका अभ्यास करनेवालेका भी मन नहीं लग रहा है और दूसरेका मन तो चञ्चल है ही। पर उनमें जो स्वेच्छासे ध्यानके अभ्यासके लिये बंद हुआ है, वह सुखका अनुभव करता है और जिसको अनिच्छासे बंद किया गया है वह दुःखका। इसका कारण यही है कि पहलेकी उसमें अनुकूल भावना है और दूसरेकी प्रतिकूल। इसी प्रकार एक मनुष्य अपना सर्वस्व लुटाकर स्वेच्छासे फकीर बना है और एक दूसरेको डाकुओंने लूटकर घरसे निकाल दिया है। दोनो ही घर और धनसे रहित हैं, पर फकीर सुखी है और लुटा हुआ दुखी; क्योंकि उनमें फकीरकी अपनी स्थितिमें अनुकूल भावना है और लुट जानेवालेकी प्रतिकूल। यदि मनुष्य भगवत्प्राप्तिमें सहायरूप मानकर भोग-वस्तुओंके अभावको भगवत्कृपासे प्राप्त परम हितकी स्थिति मान ले तो उसकी अनुकूल भावना हो जायगी, और वह उसमें परम सुखी हो जायगा। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

> जाके प्रिय न राम बैदेही।
> तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

अथवा—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

बात ठीक ही है—हम यदि किसीके माता, पिता, सुहृद्, भाई, बन्धु, स्वामी, पत्नी हैं और उससे हमारा यथार्थ प्रेम है तो हम उसे उसी पथपर ले जाना या चलाना चाहेंगे, जो उसके भविष्यको उज्ज्वल और सुखमय बनानेवाला है। जो ऐसा उपदेश देते हैं कि जिसके पालनसे उसका अहित होता है, भविष्य अन्धकारमय होता है, उसे नरकोंमें जाना पड़ता है—वे तो उसका प्रत्यक्ष ही बुरा करते हैं। इस प्रकार चोरी, जारी, असत्य, हिंसा आदिमें लगानेवाले तो वस्तुतः उसके वैरी ही हैं, वे स्वयं भी नरकगामी होते हैं और अपने उस आत्मीयको भी नरकोंमें ढकेलनेमें सहायक होते हैं। देवर्षि नारदजीने कहा है—

पुत्रान् दारांश्च शिष्यांश्च सेवकान् बान्धवांस्तथा।
यो दर्शयति सन्मार्गं सद्गतिस्तं लभेद् ध्रुवम्॥
यो दर्शयत्यसन्मार्गं शिष्यैर्विश्वासितो गुरुः।
कुम्भीपाके स्थितिस्तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
स किं गुरुः स किं तातः स किं स्वामी स किं सुतः।
यः श्रीकृष्णपदाम्भोजे भक्तिं दातुमनीश्वरः॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ८। ५९—६१)

'जो मनुष्य पुत्र, स्त्री, शिष्य, सेवक और भाई-बन्धुओंको सन्मार्ग (भगवान्के मार्ग) में लगाता है, उसको निश्चय ही सद्गतिकी प्राप्ति होती है और जो गुरु अपने विश्वस्त शिष्यको (कोई भी गुरुजन अपने प्रिय सम्बन्धीको) असत् मार्ग (भगवद्विरोधी

पाप-मार्ग) में लगाता है, वह जबतक चन्द्रमा-सूर्य रहते हैं तबतक कुम्भीपाक नरकमें रहता है। जो गुरु, पिता, स्वामी, पुत्र अपने शिष्य, पुत्र, सेवक (या पत्नी) तथा पिताको श्रीकृष्ण-चरणारविन्द-की भक्तिमें नहीं लगा सकता, वह गुरु, पिता, स्वामी और पुत्र ही नहीं है।'

अतएव साधक जब भगवत्कृपासे भोगोंके अभावरूप यथार्थ सुखकी स्थितिमें पहुँचता है और उसके मनसे भोगासक्ति चली जाती है, तब यह समझना चाहिये कि उसके सौभाग्य-सूर्यका उदय हुआ है। यही जीवनका वह शुभ तथा महान् मङ्गलका मुहूर्त है, जब कि अनादिकालसे विषयासक्तिमें फँसा हुआ जीव उसके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेके लिये प्रयत्नशील होता है। यही उसके लिये बड़भागीपनका क्षण है।

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़ भागी॥

नहीं तो--

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

आज यह विषयानुरागका मोह मिटा, बस, आज ही जीवनका यथार्थ शुभ क्षण आरम्भ हुआ है, आज ही विपत्तिके विकराल वनसे निकलकर सुखमय प्रकाशमय पथपर पैर रखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। यही सच्चे सौभाग्यका महिमामय मार्ग है। यही यथार्थ त्याग है। घर छोड़ना त्याग नहीं है, कपड़े या नाम बदलना त्याग नहीं है। यदि मनमें विषयानुराग है तो वहाँ घरका नाम भवन या महल न होकर आश्रम या मठ होगा; नाममें भी संन्यासका संकेत

होगा। पर सच्चा संन्यास, सम्यक् त्याग तो तभी होगा, जब विषयानुरागका त्याग होगा। विषयीके सारे कार्य विषयानुरागसे ओत-प्रोत होते हैं और साधकके भगवदनुरागसे। यही उनका महान् अन्तर है। विषयीका मन सदा-सर्वदा विषयोंमें अटका रहता है, वह मृत्युके समयमें भी विषय-चिन्तनमें लगा रहता है और साधकका मन सदा विषयोंसे विरक्त रहता है, उनके त्यागमें उसे जरा-सी कठिनता नहीं प्रतीत होती। उसका चित्त निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें संलग्न रहता है। मौत चाहे जब आवे, वह तो उसे मिलेगा भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ ही। इसीसे उसको भगवान्‌की प्राप्ति सुनिश्चित मानी जाती है।

पर यदि कोई ऐसा अधिकारी हो कि भगवान् उसके पास प्रचुर मात्रामें भोग-पदार्थ रखकर ही उसे अपनी ओर लगाना चाहते हों, उसके द्वारा आदर्शरूपसे भोग-पदार्थोंका सेवन कराना चाहते हों, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। यदि कोई राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता है तो उसे भगवान् प्रसाद देते हैं अर्थात् वह अन्तःकरणकी प्रसन्नता या निर्मलताको प्राप्त होता है और उस प्रसादसे—निर्मलतासे उसके सारे दुःखोंका अभाव हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

बन्धनका प्रधान कारण है अनुकूल विषयोंमें आसक्ति या राग। जहाँ अनुकूलमें राग होता है वहाँ प्रतिकूलमें द्वेष होता ही है। अनुकूल वस्तुओंपर मनुष्य अपनी ममताकी मुहर लगाकर उनका स्वामी, भोक्ता बनना चाहता है, तब बन्धन और भी गाढ़ा हो जाता है। यदि वह अपनेको तथा भगवान्‌के द्वारा दिये हुए समस्त प्राणी-पदार्थोंको भगवान्‌का बना दे, भगवान्‌का मान ले, जो यथार्थमें हैं, अपने सहित अपना सर्वस्व भगवान्‌का बनाकर केवल भगवान्‌के चरणोंमें ही सारी ममताको लगा दे—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

—तो फिर भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब न हो। ऐसी अवस्थामें धन-वैभव, मकान-जमीन सभी कुछ रहें, कोई आपत्ति नहीं; वे रहेंगे भगवान्‌के और उनके द्वारा होगी केवल भगवान्‌की सेवा। भोगोंमें ममत्व जल जायगा। विषयोंकी आसक्ति नष्ट हो जायगी। सारी ममता और सारी आसक्ति अनन्य अनुरागके रूपमें भगवान्‌के चरणोंमें जाकर केन्द्रित हो जायगी। फिर वह साधक स्वयं कुछ नहीं करेगा, भगवान् ही उसके हृदयदेशमें विराजित होकर अपनी मनमानी करेंगे, क्योंकि वही भगवान्‌का अपना घर है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति

(कर्मानुसार गतियोंके भेद)

मनुष्य-जीवनका एकमात्र पवित्र उद्देश्य या परम ध्येय है—जन्म-मृत्युके चक्रसे नित्यमुक्ति । इसीको मोक्ष, आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, बोध, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कहते हैं। अनन्य तीव्र इच्छाके साथ उपयुक्त साधन करनेपर इसी जन्ममें मानवजन्म मिला है । पर वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है । साधनानुकुल कर्म भी कर सकता है और उसके सर्वथा प्रतिकूल भी । कर्मानुसार ही फल प्राप्त होता है । मनुष्य साधना करके मुक्त भी हो सकता है, सत्कर्म करके विपुल भोगमय स्वर्गकी प्राप्ति भी कर सकता है, असत्-कर्म करके घोर यन्त्रणामय नरकोंमें भी जा सकता है और पशु, पक्षी, कीट-पतंग तथा जड वृक्ष, लता-पाषाण भी बन सकता है। मानव-जीवनको व्यर्थ अनर्थके कार्योंमें खोकर अनन्तकालीन दुःखका भविष्य निर्माण कर सकता है इसीलिये कहा जाता है कि दुर्लभ मनुष्य-जन्मका एक क्षण भी व्यर्थ-अनर्थमें न खोकर केवल भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये । स्वर्गका भोग-सुख मिलेंगे, तो वे भी वस्तुतः विनाशी तथा दुःखप्रद ही होंगे। कहीं कर्मकी फलस्वरूप दुर्गति हो गयी, तब तो बहुत ही बुरी बात होगी । लेने-के-देने पड़ जायँगे ? पर वर्तमान कालमें अधिकांशमें मनुष्य ऐसा भोगासक्त हो गया है कि वह जीवनके असली उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भूलकर अहंता-ममता, राग-द्वेष एवं कामकी गंध-लोभसे अभिभूत हो ऐसे ही कर्म करता है, जिनसे जीवनभर यहाँ भी अशान्ति, दुःख, भय, विषाद तथा चिन्ता आदिसे ग्रस्त-संत्रस्त

रहता है और भोगोंकी प्राप्तिके लिये पापकर्ममें लगा रहनेके कारण मृत्युके बाद आसुरी योनियोंको तथा नरकोंकी घोर यन्त्रणाओंको प्राप्त होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(ऐसे लोगोंको) मेरी (भगवान्की) प्राप्ति तो होनी ही नहीं, वे मूढ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनि (राक्षस), पिशाच, भूत-प्रेत या कुत्ते, सूअर, गधे, आदिको प्राप्त होते हैं फिर उससे भी अति नीच गतिमें अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।' दुर्लभ मनुष्य-जीवनका यह कितना अवाञ्छनीय दुष्परिणाम है।

कर्मानुसार मनुष्य निम्नलिखित गतियोंको प्राप्त होता है—

(१) अहंता-राग-द्वेषसे सर्वथा रहित जीवन्मुक्त पुरुष अथवा इस भावके साधनसे सम्पन्न पुरुष, मरनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। सूक्ष्म कारण-शरीर नष्ट हो जाते हैं। यह सद्योमुक्ति है।

(२) भगवान्की भक्तिमें ही जीवन समर्पण कर देनेवाले भक्तको भगवान्के दिव्य पार्षद स्वयं आकर ज्योतिर्मय, स्वप्रकाश सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप नित्य परम धाम वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास आदिमें दिव्य विमानद्वारा ले जाते हैं। वह वहाँ उस दिव्य धाममें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, साष्टि आदि भगवत्-स्वरूपताको प्राप्त करके अचिन्त्य अनिर्वचनीय भगवत्स्थितिमें रहता है। पर, प्रेमी साधक इस स्थितिको भी स्वीकार नहीं करते, वे साक्षात् सेवारूप बनकर नित्य भगवत्-सेवापरायण ही रहते हैं। देनेपर भी उपर्युक्त

सालोक्यादिको ग्रहण नहीं करते। यही परभक्ति या प्रेमाभक्तिको प्राप्त पुरुषका भगवत्सेवामें नित्य प्रवेश है।

ये दोनों ही परम गति हैं। यही मानव जीवनकी परम सफलता है। वह अनादिकालसे भटकते हुए जीवका उससे मुक्त होकर नित्य सत्य परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होना है।

(३) निष्कामभावसे परमार्थ-साधन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष देवयान उत्तरायण या अर्चिमार्गसे दिव्य देवलोकोंमें देवताओंके द्वारा ले जाये जाकर, वहाँ अभ्यर्थित होते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं। संसारमें उनका पुनरावर्तन नहीं होता। यह क्रममुक्ति है।

(४) सकाम भावसे शास्त्रोक्त सत्कर्म करनेवाले पुरुष पितृयान दक्षिणायन या धूममार्गसे दिव्य चन्द्रलोकतक जाते हैं, यही भोगमय प्रकाशमय स्वर्गधाम है। इसके सहस्रों रूप हैं, पुण्यात्मा पुरुष क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आते हैं।

(५) ज्ञान-विज्ञानरहित मोहग्रस्त भोगासक्त पाप-परायण मनुष्य मरनेके बाद वायुके सहारे चलनेवाले (वायु प्रधान) दूसरे शरीरको धारण कर लेते हैं, जो रूप, रंग और अवस्था आदिमें ठीक पहले मृत-शरीरके जैसा ही होता है। यह शरीर माता-पिताके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। यह कर्मजनित होता है और यातना-भोगके लिये ही मिलता है। तदनन्तर शीघ्र ही उसे दारुण पाशसे बाँधकर घोर भयंकर आकृति क्रूरकर्मा यमदूत डंडोंसे पीटते तथा बड़ी बुरी तरह यातना देते हुए दक्षिण दिशामें यमलोककी ओर खींचकर ले जाते हैं। वहाँ कर्मानुसार उसे किस-लिये नरकादि यन्त्रणा-भोगकी व्यवस्था होती है।

(६) जो न तो मुक्त होते हैं, न देवयान-पितृयान मार्गसे जाते हैं और न नरकोंमें ही जाते हैं—ऐसे प्राणी कर्मानुसार यहीं मच्छर, मक्खी, जूँ, झिंगा घुन आदिकी योनिको प्राप्त करते हैं।

कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनुष्य मरते ही तत्काल यहीं दूसरे मनुष्य शरीरको अथवा पशु-पक्षी—तिर्यक् या वृक्ष-पाषाण आदिके शरीरको प्राप्त हो जाता है। अन्य लोकोंमें नहीं जाता। शाप-वरदानसे या प्रबल वासनायुक्त तत्काल पुनर्जन्मदायक कर्मोंके कारण ऐसा होता है। कई योगभ्रष्ट पुरुष भी मरनेपर तुरंत मनुष्य-शरीर प्राप्त करते हैं। इसके भी नियम हैं।

इन सब बातोंपर विचार करके मनुष्यको अपने जीवनके वास्तविक एकमात्र परम तथा चरम ध्येय भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही प्रवृत्त रहना चाहिये और वास्तवमें अहंता, राग-द्वेष अभिनिवेशरूप अविद्यासे मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूपता या भगवान्‌के दिव्य परमधामको प्राप्त कर लेना चाहिये। इसमें जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। भगवत्कृपासे प्राप्त मनुष्यशरीररूप सुअवसर भविष्यमें भयानक दुःख देनेवाले व्यर्थ-अनर्थके कार्योंमें चला न जाय। शरीर क्षण-भंगुर है, अतः किसी स्थितिविशेषकी प्रतीक्षा न कर भजन-परायण हो ही जाना चाहिये। नामरूपके अभिमान तथा राग-द्वेषसे छूटनेपर ही मनुष्य परम पद या भगवान्‌को प्राप्त कर सफलजीवन हो सकता है, केवल संत-महात्मा, भक्त-प्रेमी या ज्ञानी कहलानेमात्रसे नहीं। कहलाये चाहे नहीं, पर बने अवश्य।

रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता

स्वरूपतः तत्त्व एक होनेपर भी रसरूप भगवान् और रसकी साधना—प्रेम-साधना कुछ विलक्षण होती है। रस-साधनामें एक विलक्षणता यह है कि उसमें आदिसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है। जगत्‌में दुःख-दोष देखकर जगत्‌का परित्याग करना, भोगोंमें विपत्ति जानकर भोगोंको छोड़ना, संसारको असार समझकर इससे मनको हटाना—ये सभी अच्छी बातें हैं, बड़े सुन्दर साधन हैं, होने भी चाहिये। पर रसकी साधनामें कहींपर भी खारापन नहीं रहता। इसलिये किसी वस्तुको वस्तुके नाते त्याग करनेकी इसमें आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमकी—रसकी साधना स्वाभाविक चलती है रागको लेकर। रस ही राग है, राग ही रस है। अतः भगवान्‌में अनुराग-को लेकर रसकी साधनाका प्रारम्भ होता है। एकमात्र भगवान्‌में

अनन्य राग, तो अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। इसलिये किसी वस्तुका न तो स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता होती और न किसी वस्तुमें दोष-दुःख देखकर उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति होती है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण वहाँ द्वेष भी नहीं रहता। ये राग-द्वेष द्वन्द्व हैं। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है। द्वन्द्वकी वस्तु अकेली नहीं होती। इसीलिये उसका नाम 'द्वन्द्व' है। सो या तो ज्ञानी विचारके द्वारा द्वन्द्वातीत होते हैं या ये रसिक लोग—प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा ये अपने प्रियतम भगवान्‌को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं, कोई-सी वस्तु भी हेय नहीं। एवं उन वस्तुओंमें वहाँ आसक्ति है नहीं कि जो मनको खींच सके। इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌में रागको लेकर। राग बड़ा मीठा होता है। रागका स्वभाव ही है मधुरता। जिसमें हमारा राग हो जाय, जिसमें हमारा प्रेम हो जाय, उसका प्रत्येक पदार्थ, उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सुखप्रदायिनी हो जाती है, सुखमयी बन जाती है। यह रागका—प्रेमका स्वभाव है। वह राग जहाँपर भी है, जिस किसी वस्तुमें है, वही वस्तु सुखाकर हो जाती है और यह रससाधना शुरू होती है रागसे ही। इस साधनाकी बड़ी सुन्दर ये सब चीजें हैं समझनेकी, सोचनेकी, पढ़नेकी और वास्तवमें साधना करनेकी।

इस रसकी साधनामें सबसे पहला साधन होता है पूर्वराग। यह प्रियतम भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके, भगवान् श्रीराघवेन्द्रके, किसीके भी प्रेमास्पदके गुणको सुनकर, उनके नामको सुनकर, उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी बात सुनकर, उन्हें स्वप्नमें देखकर, उनकी मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनि सुनकर, उनकी चर्चा सुनकर, कहीं दूरसे उन्हें देखकर, उनकी लीलास्थलीको देखकर मनमें जो एक आकर्षण पैदा होता है, मिलनेच्छाका उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागका जहाँ उदय हुआ, वहीं जिसके प्रति रागका उदय हुआ, उसको प्राप्त करनेके लिये, उसको पुनः-पुनः देखनेके लिये, उसके बार-बार गुण सुननेके लिये, उसकी चर्चा करनेके लिये, उसकी निवासस्थली देखनेके लिये सारी इन्द्रियाँ, सारा मन व्याकुल हो उठता है। जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है; वहाँ यह भगवान्‌के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुख-स्वरूपा होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त जितने भी विषय हैं, जितने भी भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं, दुःखप्रद हैं, कोई भी वस्तुतः सुखस्वरूप नहीं है, इनमें तो सुखकी मिथ्या कल्पना की जाती है। ये भगवान् सर्वथा-सर्वदा अपरिमित अनन्त सुखस्वरूप हैं। यही बड़ा भेद है। जितने भी इस लोकके, परलोकके, जगत्‌के भोग हैं, कोई भी सुखस्वरूप नहीं है, आनन्दस्वरूप नहीं है। उनमें अनुकूलता होनेपर सुखकी कल्पना होती है, सुखका मिथ्या आभास होता है। उनमें सुखकी सत्ता नहीं है। भगवान् हैं अनन्त सुख-सागर। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है। आनन्द भगवान्‌में है, सो नहीं। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप ही है। वह

आनन्द नित्य है, अखण्ड है, अतुलनीय है और अनन्त है। वह आनन्द साक्षात् सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूप है। इसलिये उन आनन्दस्वरूप भगवान्में जिसका राग होता है, उसको आरम्भसे ही आनन्दकी ही स्फूर्ति होती है, अतः प्रारम्भसे ही उसे सच्चित्-आनन्दके दर्शन होते हैं, आनन्दका ही सतत सङ्ग, निरन्तर आस्वाद मिलता है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही सुखस्वरूप भगवान्में पूर्वराग होता है। सुखस्वरूप भगवान्में जो राग होता है, वह भगवान्की मिलनेच्छा उत्पन्न करता है और वह वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है। भगवान्के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अधिक ज्वालामयी होती है। वह महान् पीडा नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको दूर कर देती है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनः।

पर उस विषम वियोग-विषमें उस विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूप चिन्मयी स्मृति। भगवान्की यह स्मृति नित्यानन्द-सुखस्वरूप भगवान्को अंदरमें ला देती है। फिर वह विष विष नहीं रह जाता। भयानक विष होते हुए भी वह देवलोकातीत भागवत-मधुर विलक्षण अमृतका आस्वादन कराता है। इसलिये भगवान्के मिलनकी आकाङ्क्षाके समय भगवान्के जिस अमिलन-जनित तापमें जो परमानन्द है, वह परमानन्द किसी दूसरे विषयके अमिलनपर उसके मिलनेकी आकाङ्क्षामें नहीं। इस तापमें परमानन्द हुए बिना रह नहीं सकता; क्योंकि भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। भोग-वस्तुएँ

सुखस्वरूप नहीं हैं। इसलिये उनका अमिलन कभी सुखदायी नहीं हो सकता, वह दुःखप्रद ही रहेगा। अतएव इस रसकी साधनामें, प्रेमकी साधनामें प्रारम्भसे ही भगवान्‌का सुखस्वरूप साधकके रागका विषय होता है। भगवान्‌का कण-कण आनन्दमय है, रसमय है। वहाँ उस रसमयताके अतिरिक्त, उस रसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई भी सत्ता नहीं है, भाव नहीं है, अस्तित्व नहीं है, होनापन नहीं है। वहाँ प्रत्येक रोम-रोममें केवल भगवत्स्वरूपता भरी है और भगवत्स्वरूपताका परमानन्द उसका स्वाभाविक सहज रूप है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्‌की स्मृति है, वहाँ-वहाँ भगवद्रसका समुद्र लहरा रहा है। अतएव आनन्दमय भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, रसरूप भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, प्रेमके द्वारा प्रेमास्पद भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस प्रेम-साधनकी—रससाधनकी निष्ठा होती है, आरम्भसे ही उसमें वह परम सुखका—परम माधुर्यका आस्वादन मिलता है। तो फिर भगवान्‌के विरहमें दुःखका होना क्यों माना गया है? विष क्यों बताया गया है? उसमें कालकूटसे भी अधिक विषकी कटुता क्यों कही गयी है? इसका उत्तर यह है कि वह भगवान्‌के मिलनकी आकाङ्क्षा, संसारके भोगोंको प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे अत्यन्त विलक्षण होती है। यहाँ जो संसारका, संसारकी वस्तुओंका, प्राकृत पदार्थोंका प्राप्त होना है, वह यह अर्थ नहीं रखता कि वही वस्तु प्राप्त होनी चाहिये। एक वस्तुकी प्राप्ति न हो तो, दूसरी वस्तुसे संतोष हो सकता है। यहाँ तो विनिमय चलता है। एक वस्तु न मिली तो वैसी ही

दूसरी वस्तुसे काम चल गया। एक खिलौना न मिला तो बच्चेको दूसरा देखनेको मिल गया। पर वहाँ भगवान्‌के प्रेममें उस प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके मिलनेकी आकाङ्क्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती। किसी दूसरी वस्तुसे उस कामनाकी तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भगवान्‌के मिलनके मनोरथमें जो संताप होता है, वह संताप इतना तीव्र होता है कि दूसरी किसी वस्तुसे किसी भी परिस्थितिसे वह मिट ही नहीं सकता। इसीलिये वह अत्यन्त तीव्र होता है। उसकी तीव्रता जबतक भगवान् नहीं मिलते, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

यह अवश्य ही बड़ी मनोहर बात है कि भगवान्‌में परस्पर विरोधी गुण—धर्म युगपत् रहते हैं, जो भगवान्‌की भगवत्ताका एक लक्षण माना जाता है और यह कहा जाता है कि जिसमें परस्पर विरोधी गुण-धर्म एक साथ, एक समयमें रहें, वह भगवान् है। जहाँ गरमी है, वहाँ सर्दी नहीं है, जहाँ दुःख है, वहाँ सुख नहीं है, जहाँ मिलन है, वहाँ अमिलन नहीं है और जहाँ भाव है, वहाँ अभाव नहीं है। इस प्रकार दो विरोधी वस्तु जगत्‌में एक साथ एक समय नहीं रहतीं। यह नियम है। परंतु भगवान् ऐसे विलक्षण हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्।

(कठ० १।२।२०)

वे अणु-से-अणु भी हैं और उसी समय वे महान्-से-महान् भी हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

(ई० ५)

'वे चलते हैं और नहीं भी चलते, वे दूर हैं और पास भी हैं।' वे एक ही समय निर्गुण भी हैं, उसी समय वे सगुण भी हैं। वे निराकार है; उसी समय वे साकार भी हैं। उनमें युगपत्—एक साथ परस्पर-विरोधी गुण-धर्म रहते हैं। और जिस प्रकार भगवान्में परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ निवास करते हैं, उसी प्रकारसे वे परस्पर-विरोधी गुण-धर्म भगवत्प्रेममें, भगवत्प्रेमकी साधनामें भी एक साथ रहते हैं। वहाँ प्रेम-साधनामें और प्रेमोदयके पश्चात् भी हँसनेमें रोना और रोनेमें हँसना चलता है। रोना विरह विकलताजनित पीड़ाका और हँसना मधुरस्मृतिजनित आनन्दका। दोनों साथ-साथ चलते हैं। क्यों साथ चलते हैं? यह बिल्कुल युक्तिसंगत बात है। जिसके लिये वे रोते हैं, उसकी स्मृति है; स्मृति न हो तो किसके लिये रोना और स्मृति है तो उसके सांनिध्यका आनन्द साथ है। अतः रोना और हँसना—ये दोनों इस रसके साधनमें साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः वह रोना भी हँसना ही है। वह रोना भी मधुर है, मधुरतर है। फिर एक बात—ये मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भावामें, प्रेमीजनोंकी अनुभूतिमें समान 'रति' है। तथापि यदि कोई उनसे पूछे कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा—संयोग या वियोग?' यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणाराम है, जो प्राणप्रियतम है, जो प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका विछोह भी अत्यन्त असह्य है, जिसके बिना प्राण

नहीं रह सकते, वह मिले या उसका वियोग रहे ! हमसे पूछा जाय कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो' तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे—'हम मिलन चाहेंगे, संयोग चाहेंगे, वियोग कदापि नहीं।' पर इन प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे यदि एक मिले तो हम वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं चाहते। भाई, क्यों नहीं चाहते ! बड़ी विलक्षण बात है। तो कहते हैं कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं है; यद्यपि वियोगमें बाहरसे दर्शन नहीं है, बाहरी मिलन नहीं है, तथापि अभ्यन्तरमें, अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं। और असली मिलन होता भी है मनका; हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी खुली आँखें भी हैं, पर मनकी वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है तो सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। योगसाधनमें तो ऐसा एक स्तर भी होता है कि जहाँपर, कहते हैं कि आँखें खुली हैं, पर कुछ दीखता नहीं है। यह क्यों होता है। इसलिये कि आँखोंमें जो देखनेवाला है, जो देखनेकी वृत्ति है, वह नहीं रहती। अतः आँख खुली रहनेपर भी नहीं दिखायी पड़ता। इसी प्रकारसे वियोगमें नित्य संयोग रहता है, प्रियतम भगवान् सर्वथा मिले रहते हैं और वहाँ निर्बाध लीला चलती है। यों बाह्य वियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन तो है ही, उसमें एक विलक्षणता भी है। वियोगके संयोगमें और संयोगके संयोगमें क्या विलक्षणता है ! संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। उसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है, सब समझ सकते हैं।

बोले—भाई! आज आपसे मिलनेका समय हमने निश्चित किया है, दिनमें तीन बजे। उसके बाद दूसरा काम करना है, फिर तीसरा काम करना है। और अमुक स्थानपर मिलना है। इस प्रकार यह मिलन स्थान-सापेक्ष है, यह मिलन समय-सापेक्ष है। फिर वह बाहरका मिलन कैसा है? जैसे राजदरबारमें राजपुत्र भी जाकर दरबारके नियमानुसार राजासे मिलता है, वह सीधा जाकर गोदमें नहीं बैठता। सबके अलग-अलग स्थान निश्चित रहते और तदनुसार ही आसन लगे होते हैं। राज-दरबारमें एक मर्यादा है, तदनुसार ही अलग-अलग आसन हैं। यह नहीं कि महलमें जैसे राजकुमार पिताकी छातीपर बैठकर उनकी दाढ़ी नोचने लगे, वैसे ही दरबारमें भी करे। अलग-अलग मर्यादा होती है मिलनकी स्थानके अनुसार। अतः संयोगके मिलनमें स्थान निर्बाध नहीं, मिलनमें समय निर्बाध नहीं। मिलनमें व्यवहार निर्बाध नहीं। और वियोगके मिलनमें जो अंदर मिलन होता है, वह कितनी देर होता है? कोई देर-सवेरकी अपेक्षा नहीं। लगातार दिनभर होता रहे, कौन रोकता है? और कहाँ होता है? जहाँ भी वह अंदर प्रकट हो जाय, वहीं होता है—जंगलमें, वनमें, घरमें, बाहर, बाजारमें—कहींपर भी। वह स्थानकी अपेक्षा नहीं रखता कि अमुक स्थानमें मिलन होगा। फिर मिलनमें व्यवहार कैसा होगा? वहाँ न राजदरबार है न महल है। जैसा मनमें आये, वैसा ही निर्बाध स्वच्छन्द व्यवहार। इस प्रकार व्यवहारका स्वातन्त्र्य, समयका स्वातन्त्र्य और स्थानका स्वातन्त्र्य जैसा अन्तरात्मासे अभ्यन्तर मिलनमें है वैसा बाह्य मिलनमें नहीं है। अवश्य ही अन्तरात्माके मिलनमें,

अभ्यन्तरके मिलनमें यदि वास्तविक मिलन न होता, तब तो यह वियोग बहुत बुरी चीज थी; क्योंकि भगवान्‌का, प्रियतमका वियोग तो सदा जलानेवाला ही है। पर यह प्रियतम श्रीभगवान्‌का वियोग है, संसारी वस्तुका नहीं है; इसलिये यह वियोग विलक्षण—परम सुखमय होता है। संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है, तब वह बार-बार याद आती है, पर मिलती नहीं। इससे वह उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है। हमारे एक मित्र हैं, बड़े अच्छे पुरुष हैं, बड़े विचारशील हैं, बड़े विद्वान् हैं, बड़े देशभक्त हैं, बड़े धार्मिक हैं—सब गुण हैं उनमें। उनके सुयोग्य पुत्रका कुछ वर्षों पूर्व देहावसान हो गया था। अतः वे जब-जब मिलते हैं, तब-तब कहते हैं, 'भाईजी! मैं उसको भुला नहीं सकता।' विचारशील हैं, वे समझते हैं कि जिस पुत्रका देहान्त हो गया, वह मिलेगा नहीं। वे दूसरोंको उपदेश कर सकते हैं, करते हैं; पर जब-जब एकान्तमें मिलते हैं, तब वही दशा देखी जाती है। वह वियोग क्यों दुःखदायी है? इसीलिये कि उसमें स्मृति तो है, पर स्मृतिमें मिलन नहीं है। मिलनकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् तो स्मृतिमें स्वयं प्रकट होकर सुखदान करने लगते हैं। पर जगत्‌की प्रत्येक वस्तुका वियोग केवल दुःखदायी ही होता है; क्योंकि उसमें मिलन है ही नहीं। प्रियतम भगवान्‌की बात इसीसे विलक्षण है। उसमें जहाँ बाहरका अमिलन हुआ, वहीं भीतरका मिलन प्रारम्भ हो गया। जरा-सी देरका भी वियोग प्रेमीको सहन होता

नहीं—वियोग रहता भी नहीं । वियोगकी जो असहिष्णुता है, वियोगका जो महान् संताप है, वह तुरंत प्रियतमकी स्मृतिको मनमें उदित कर देता है बड़े विलक्षण रूपसे और वह स्मृति प्रियतमकी सुखस्वरूपा केवल स्मृति होकर नहीं रहती, वह प्रियतम भगवान्के साक्षात् मिलनका अनुभव कराती है। अतः जिस वियोगमें ऐसे मिलनका अनुभव हो, जिसमें समयकी, स्थानकी और मिलनके व्यवहारकी सर्वथा स्वतन्त्रता हो, वह अच्छा या वह परतन्त्र स्थान, परतन्त्र समय और परतन्त्र व्यवहारवाला थोड़े कालका मिलन अच्छा ? इन दोनोंको देखकर ही प्रेमी कहता है कि संयोग-वियोग दोनोंमेंसे किसी एककी बात आप पूछें तो हम कहेंगे कि 'हमें वियोग दीजिये, संयोग नहीं ।' वियोगमें मिलनका अभाव नहीं है और संयोगमें वियोगकी सम्भावना है। इसलिये उसमें वियोगका दुःख भी रहता है—भावी वियोगका दुःख होता है कि कहीं मिली हुई चीज चली न जाय। अतः इस रसकी साधनामें प्रारम्भसे ही जहाँ वियोग है—जहाँ मिलन नहीं हुआ है, वहाँ पूर्वराग प्राप्त होता है और उस पूर्वरागके कारणसे प्रियतमकी अपने प्रेष्ठ भगवान्की जो नित्य मधुर स्मृति रहती है, वह स्मृति सुखस्वरूपा होनेके कारण मार्गका प्रारम्भ होते ही माधुर्यका आस्वादन आने लगता है। इसीलिये यह रसका मार्ग—सर्वथा मधुर मार्ग है, मधुर मार्ग ।

दूसरी बात है—इस वियोगमें, इस मधुर मार्गपर चलनेमें जो आराध्य प्रियतम भगवान् हैं, एकमात्र उन्हीं प्रियतमकी अनन्य

आकाङ्क्षा रहती है, दूसरी आकाङ्क्षा रहती ही नहीं। भगवान्‌को छोड़कर, जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय। उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस रसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वल रस'। मधुर रस और उज्ज्वल रस एक ही चीज हैं। 'काम अन्ध तम, प्रेम निर्मल भास्कर'। इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दुःखके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द, भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌का गन्ध और भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहते हैं। जहाँ शुरूसे भगवद्रस साथ हो, वही रसकी साधना है। यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों भोगरूप विषय जहाँ इन्द्रियचरितार्थताके लिये हैं, जहाँ ये प्राकृतिक विषय हैं, वहाँ ये बड़े गंदे, सर्वथा हेय और त्याज्य हैं तथा जहाँ इनको लेकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका अप्रतिम सौन्दर्य नित्य नूतन रूपमें बढ़ता रहता है और जहाँ ये भगवान्‌की सुषमा-सामग्रीके रूपमें हैं, वहाँ ये रसस्वरूप हैं, वहाँ ये पवित्र हैं, परम पावन हैं। केवल पवित्र ही नहीं हैं पवित्र करनेवाले हैं। इस साधनामें कहीं भगवान्‌की सुरीली मुरली-ध्वनि सुनायी पड़ती है,

कहीं भगवान्‌के इस स्वरूपकी मनोहारिणी झाँकी होती है, कहीं भगवान्‌का मधुर प्रसाद प्राप्त होता है, कहीं भगवान्‌के चरणोंका कल्याण-सुखमय स्पर्श होता है और कहीं भगवान्‌का दिव्य अङ्ग-सुगन्ध प्राप्त होता है। इसलिये ये जितने भी मधुरतम पदार्थ हैं, जितने भी भगवान्‌के रसस्वरूप पदार्थ हैं—ये आरम्भसे ही साधनाके अङ्गरूपमें साथ रहते हैं; क्योंकि इन्हींको साथ लेकर साधक रसमार्गपर अग्रसर होता है, इनका त्याग नहीं करता। जहाँ ज्ञानका साधक वैराग्यकी भावनासे विषयोंका त्याग करता हुआ, जगत्‌को देख-देखकर उससे घबराता हुआ, उसको छोड़ता हुआ, उसे बलात् हटाता हुआ आगे बढ़ता है (और वह सर्वथा उचित तथा युक्तियुक्त ही है), वहाँ इस रस—प्रेमका साधक इनको हटाता नहीं, दूर नहीं करता, मारता नहीं, वह तो बड़े चावसे इन सबको भगवान्‌की सुखसामग्री मानकर साथ लेता चलता है। वह भगवान्‌के शब्दको, भगवान्‌के रसको, भगवान्‌के रूपको, भगवान्‌की अङ्ग-सुगन्धको, भगवान्‌के संस्पर्शको सदा साथ रखता है; क्योंकि यही स्मरण करता है न वह। यही उसकी साधना है और इस प्रकारसे वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंको भगवान्‌के सौन्दर्यका पोषक देखकर ही इनका तथा भगवान्‌का सतत स्मरण करता है। वह विषय-जगत्‌का और उन विषयोंके त्यागका स्मरण नहीं करता। वह इनके भगवान्‌के द्वारा ग्रहण किये जानेका स्मरण करता है। इसमें यह बड़ा अन्तर है। जगत्‌को दुःखमय जानकर विरक्त होना, उसे छोड़ना—यह दुःखका स्मरण कराता है, भयका स्मरण कराता है। इसमें रहेंगे तो बड़ा भय होगा, बड़ी दुर्दशा

होगी, बड़ा विषाद-शोक प्राप्त होगा, बड़ी हानि होगी, यह बड़ा ही दुःखद है, बड़ा भयानक है—इस प्रकारकी धारणा होती है और उस साधनामें यह आवश्यक और उचित भी है। उस साधनाका यह एक स्वरूप है। विषयोंमें वैराग्य होना ही चाहिये। परंतु यह रागकी साधना वैराग्यकी साधना नहीं है। इसीलिये इसका नाम रागात्मिका, रागानुगा या प्रेमाभक्ति है। इस रागकी साधनामें जगत्की, जगत्के दुःखोंकी, उनके त्यागकी स्मृति करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र भगवान्की स्मृतिमें जगत्की आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। वह केवल भगवान्की स्मृतिको साथ रखकर चलता है। उसे निरन्तर भगवान्के इन पाँचों दिव्य विषयोंका अनुभव होता रहता है। कभी वह भगवान्का मधुर-मनोहर स्वर सुनता है, भगवान् कैसे मीठे बोलते हैं, नन्दबाबासे बोल रहे हैं, यशोदा मैयासे मचल रहे हैं, कौसल्या मैयासे हँस-हँसकर बोल रहे है, कितने मीठे हैं। इनके शब्दोंमें कैसा माधुर्य है, ये स्वर कितने—कितने आकर्षक हैं। बेचारे कवियोंने स्वर-माधुरी, रूप-माधुरी, गति-माधुरी, वर्ण-माधुरी आदिमें भगवान्के अङ्गोंकी पशु-पक्षियोंसे उपमा दी। पर वास्तवमें भगवान्का सौन्दर्य कभी पशुओं पक्षियोंकी तुलनामें थोड़े ही आता है। वह तो सर्वविलक्षण है। रसमार्गके साधक पहले भावनासे अपने इच्छानुसार मनमाने रूपमें उनकी धारणा करते हैं, यों भगवान् पहले उनकी भावनामें आते हैं। फिर भगवान् उनमें उस भोगके स्थानमें अपने सच्चे शब्दको, सच्चे रसको, सच्चे स्पर्शको, सच्चे रूपको और सच्चे गन्धको प्रकट कर देते है। तात्पर्य यह कि इस रसका साधक

चलता है इन्हींको लेकर, इनमें रागको लेकर। भगवान्‌में रागको लेकर चलना और जगत्‌में विरागको लेकर चलना—ये साधनके दो विभिन्न स्वरूप होते हैं। दोनों ही अच्छे हैं, दोनोंका फल भी तत्त्वकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति है। फलमें तात्त्विक भेद नहीं है, पर भेद इस मानेमें है कि इस रसमें कहीं दुःखका गन्ध नहीं है, दुःखका भय नहीं है, दुःखजनित विषाद नहीं है और कहीं किसी वस्तुके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल सुख-ही-सुख है, केवल मधुरता-ही-मधुरता है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है। सारी वस्तुएँ भगवान्‌की पूजाकी सामग्री होनेके कारण किसीके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। इस रसका साधक प्रारम्भसे ही--पहलेसे ही भगवान्‌के रागको साथ लेकर चलता है। पूर्वरागके जो लक्षण हैं, उससे यह विदित हो जाता है कि कहीं तो भगवान्‌की मुरली-ध्वनि सुनकर वह मोहित हुआ, तो उस मुरली-ध्वनिका ध्यान होने लगा। कहीं किसीके द्वारा भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा सुनी तो उससे उन गुणोंका चिन्तन होने लगा। कहीं किसी सखीके द्वारा भगवान्‌की मधुर लीलाओंका वर्णन सुना, किसी दूत या दूतीके द्वारा, किसी भगवद्भक्त-के द्वारा उनकी प्रेमपराधीनताका वर्णन सुना तो उन लीलाओंका स्मरण होने लगा। कहीं भगवान्‌के अङ्ग-सुगन्धकी चर्चा सुनी—कहीं जा रहे थे, दूरसे सुगन्ध आ गयी, अब वह सुगन्ध तो नहीं रही, पर उसका स्मरण होने लगा। कहीं स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन हो गये तो वहाँ भगवद्रूपके स्वप्नके दर्शनका स्मरण करता हुआ साधनमें लग गया। अभिप्राय यह कि उसकी साधनामें प्रत्येक

भगवान्‌के विषयमें ही राग रहता है। वह सतत भगवद्विषयोंका अनुरागी होकर चलता है और जितने भी भगवद्विषय हैं, सब-के-सब परम मधुर हैं, सब परम उज्ज्वल हैं, सब परम सुखस्वरूप हैं, सब परम आनन्दमय हैं। अतः रागकी साधनामें आनन्द-ही-आनन्द है।

अवश्य ही इसमें एक डर है। वह डर है कि कहीं विषयोंमें——भोगोंमें वह भगवान्‌की चीजको न मान ले। भोगोंके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं होती। भोग कहीं पड़े रहते हैं या वे भगवान्‌के भोग्य बन जाते हैं। उसको तो भगवान्‌की आवश्यकता है। वह भगवान्‌को साथ लेकर चलता है, पर कहीं भोगोंमें आसक्ति बनी रहे और भगवान्‌के नामपर कहीं उसका भोगोंमें प्रवेश हो जाय और भोग उसके जीवनपर छा जायँ तो बड़ी भारी दुर्दशा हो सकती है। इसलिये रसकी साधना जहाँ बड़ी मधुर, बड़ी आनन्द-दायिनी है, वहाँ उसमें यह एक बड़ा खतरा है। किंतु वैराग्यकी साधनामें, जहाँ पहलेसे ही विवेकके द्वारा भोग-वैराग्य प्राप्त है, यह खतरा नहीं है। पर उसमें खतरा नहीं है तो वह आनन्द भी नहीं है। हमारे साथ-साथ भगवान् चलें और भगवान्‌के साथ-साथ हम चलें। हम भगवान्‌को देखते चलें, सुनते चले, सूँघते चलें, चखते चलें और उनको छूते चलें। कितना बड़ा आनन्द है। चाहे जब भगवान्‌को चख लें, उनका रसास्वादन कर लें, भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त कर लें, भगवान्‌के स्वर सुन लें, भगवान्‌की हम सुगन्धको सूँघें, भगवान्‌के सुन्दर मधुर रूपको देखें। कितनी बढ़िया चीज है।

इन चीजोंका रस लेते हुए चलें। रसके साधककी यह विशेषता है कि वह इन चीजोंका रस लेता हुआ चलता है और यदि ये सब चीजें भगवान्को लेकर हैं तो वहाँ भोग आते ही नहीं। क्यों नहीं आते? इसीलिये कि वहाँ वे रह नहीं सकते—वैसे ही, जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं टिक सकता। वास्तवमें यह पवित्र रस-साधन ही ऐसा है, जिसमें इन्द्रियदमन तथा विषयत्यागकी आवश्यकता नहीं होती, वरं समस्त इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषय सच्चिदानन्दमय भगवान्का नित्य संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं। पर वस्तुतः मूलमें ही भूल रहती है। प्रारम्भमें ही मामला गड़बड़ रहता है। भगवान्के रसका नाम लेते हैं और होती है भोगलिप्सा। शुरुआत-में—आरम्भमें जब गलती रहती है, तब उसका फल भी वैसा ही होगा। किंतु वास्तवमें जो रसके मार्गपर चलनेवाले हैं, उनके पास भोग आ नहीं सकते। वे तो सदा भगवान्के रागमें संलग्न रहते हैं—वहाँ ये भगवद्विषयक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श होते हैं। इनके स्थानपर संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं आ सकते। इनका प्रवेश उसमें वैसे ही नहीं होता, जैसे बर्फमें गरमी नहीं आती, जैसे अमृतके साथ विष नहीं मिलता। यदि कहीं विष आकर अमृतमें मिले तो अमृत उस विषको खा जायगा, विष भी अमृत बन जायगा। अमृतमें जो शक्ति है, वह शक्ति विषमें नहीं है। अमृत विषमें मिलकर विष नहीं होगा, किंतु विषको अमृत बना लेगा। इसी प्रकारसे संसारके भोग भी भगवद्-रसको कभी दूषित नहीं बना सकते। ये स्वयं वहाँ जाकर पवित्र बन जाते हैं। जो भी संसारका भोग भगवान्के साथ समर्पित हो जाता है, वह

पवित्र बन जाता है । रूप देखना इन्द्रियतृप्तिकर भोगके लिये और रूप देखना भगवान्‌के पवित्र सौन्दर्य-सुधाका आस्वादन करनेके लिये दोनोंमें बड़ा अन्तर होता है। अतः भगवान्‌के साथ सम्बन्धित होनेपर जितने भी दोष हैं,—भले ही उनके नाम काम, क्रोध, लोभ ही रहें,—वे पवित्र प्रेमके ही अङ्ग बन जाते हैं। कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ।' गोपाङ्गनाओंके 'प्रेम' को 'काम' कहते हैं, पर वह हम लोगोंवाला सद्‌वृत्तिनाशक दूषित काम थोड़े ही है। 'काम' शब्दसे चिढ़ नहीं होनी चाहिये। 'सोऽकामयत' भगवान्‌ने कामनाकी,—'एकोऽहं बहु स्याम्'—मैं एकसे ही बहुत हो जाऊँ।' और हो गये।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।'

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

'अर्जुन ! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ, धर्मसे अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है।' अतः 'काम' शब्दसे डरनेकी जरूरत नहीं। काम यदि भगवद्रसकाम हो,—भगवान्‌के गुणानुवादकी कामना खूब जगे, भगवान्‌के मिलनकी कामना खूब बढ़े, भगवान्‌के गुण-श्रवणकी कामना कभी मिटे ही नहीं। ये सब भी काम ही हैं, पर ये काम वह दूषित काम नहीं है। भगवत्काम 'प्रेम' है और विषय-प्रेम 'काम' है। वैसे विषय-प्रेम भी काम है और भगवत्प्रेम भी काम है; पर दोनोंमें बड़ा अन्तर है। भगवान्‌के रसके मार्गमें ये भोग बाधक नहीं हो सकते। ये बाधक वहीं होते हैं, जहाँ मूलमें भूल होती है। इस रसके

मार्गमें पहली चीज है भगवान्में पूर्वराग होना—केवल भगवान्में। जीवनमें ऐसा मौका लगता रहे, जिसमें बाहरी ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा न हो, चर्चा हो केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरकी, अपने भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यकी—उनके रसकी, उनके स्वरूपकी, उनके रूप-तत्त्वकी। किसीकी बात सुनें, किसीकी बात कहें, किसी-की बात सोचें तो क्या होता है? उसमें पूर्वराग पैदा होता है। वह यदि भोगोंमें हो गया तो आसक्ति, कामना, क्रोधके क्रमसे सर्वनाशका कारण होगा और वह यदि भगवत्स्वरूपमें हो गया तो वह क्रमशः प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ता हुआ महाभावके उच्चस्तरपर ले जायगा। भगवत्स्वरूपमें रागका मार्ग आगे बढ़ेगा सदा निरा-पदरूपमें। इसमें बाधा नहीं आयेगी। क्यों नहीं बाधा आयेगी? यह एक बड़ी विलक्षण बात है। भगवान्को किसी वस्तुकी चाह नहीं है, उनको किसी वस्तुकी क्षुधा-पिपासा नहीं है; परंतु यह भगवान्का स्वभाव है कि वे प्रेमरसके भूखे-प्यासे बने रहते हैं। भगवान्को प्रेमकी क्षुधा-पिपासा लगी रहती है, जब कि प्रेमस्वरूप भगवान् ही हैं। जहाँपर भगवान्को विशुद्ध प्रेम-रस मिलता है, वहाँ भगवान् उस रसका आस्वादन करनेके लिये मनका निर्माण कर लेते हैं। महारासरात्रिमें भगवान्ने मनका निर्माण कर लिया रमणके लिये—'रन्तुं मनश्चक्रे।' वह रमण क्या भोग-रमण था या क्या वह योगियोंका आत्मरमण था? दोनों ही नहीं, दोनोंकी ही भगवान्को आवश्यकता नहीं। दोनोंसे परे भगवान्। यह तो भगवान्का स्वरूप-वितरण था, भगवान्का रसास्वादन था, रस-वितरण था। रस-वितरणमें सुखमय भगवान्को

सुख मिलता है । यह बड़ी विलक्षण बात है । जो नित्य निष्काम हैं, उनमें कामना उत्पन्न हो जाती है इस प्रेमसे । तो जहाँ प्रेमीजनको भगवान् देखते हैं, वहाँ वे उससे मिलनेको स्वयं आतुर हो जाते हैं और जहाँ भगवान् मिलनेको आतुर हुए, वहीं उसके मार्गके सारे विघ्न—सारी बाधाएँ अपने-आप हट जाती हैं । यह बड़े सुभीतेकी बात है । रसके मार्गमें, यदि यह ठीक रसके मार्गमें चल रहा है तो, वे रसिकशेखर भगवान् स्वयं रस-पानके लिये—रसास्वादनके लिये उसको शीघ्र-से-शीघ्र अपनी संनिधिमें बुला लेंगे । मार्गकी दूरीको, मार्गके व्यवधानोंको, मार्गके विघ्नोंको वे स्वयं सहज ही हटा देंगे—अपने-आप; क्योंकि वहाँपर वह भक्त ही नहीं, अपितु स्वयं भगवान् भी भक्तकी भाँति इच्छुक हो जाते हैं रस—मधुर दिव्य रसका पान करनेके लिये । भगवान्‌में इच्छा पैदा नहीं होती, वे स्वयं ही इच्छा बन जाते हैं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं । वे स्वयं इच्छारूप हो जाते हैं । इसलिये यह रसका मार्ग बड़ा विलक्षण है । यह परम पवित्र है—इसलिये कि इसमें प्रारम्भसे ही भोगोंकी आसक्तिका अभाव रहता है । तभी तो भगवान्‌में राग होता है । जिसमें भोगासक्तिका अभाव है, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ दुःख नहीं, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ विषाद नहीं और जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ भय नहीं । जगत्‌में तो दो ही चीजें हैं । हजारों-हजारों 'भय'के स्थान हैं और सैकड़ों 'शोक'के स्थान हैं—'भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च ।' जो प्रिय वस्तु, जो ममताकी वस्तु हमें प्राप्त है, वह कहीं चली न जाय—यह 'भय' हम सबको लगा होता है; और वह वस्तु चली गयी

तो फिर रोना है—शोक है, विषाद है। ये भय और शोक हैं और इन्हींमें सारा संसार डूबा हुआ है। कौन संसार? जो विषयासक्त है—भोगासक्त है। भोगासक्तिके साथ भय, विषाद, शोक रहेंगे ही। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। किंतु जहाँ भगवान्‌का राग जगता है, वहाँ भोगासक्ति नहीं होती और वह भगवदनुराग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त विशाल भावका—प्रेमका समुद्र बन जाता है। फिर भी उसका बढ़ना बंद नहीं होता; क्योंकि वह उसका सहज स्वभाव है। उस नित्यवर्धनशील महान् रस-सागरमें भक्त-भगवान्—प्रेमी-प्रेमास्पद—दोनों लीला करते हैं। ये लीलामें नित्य दो होकर नित्य एक हैं और नित्य एक होकर नित्य दो हैं। भगवान्‌का यह विलक्षण रस-साम्राज्य है। वस्तुतः यह रस-साम्राज्य भगवान्‌से भिन्न नहीं है तथापि सर्वथा भिन्न है। इस रस-साम्राज्यमें जो रसिक नहीं हैं, उनका प्रवेश नहीं होता—वे चाहे महाज्ञानी हों। याज्ञवल्क्य रसके सागरमें नहीं आ सकते, नारद आ सकते हैं, शुकदेव आ सकते हैं। शुकदेव परम ज्ञानी होते हुए भी इस रस-सागरमें डुबकी लगाया करते हैं। इसलिये यह रस-सागर बड़ा अनुपम, अतुल, विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीन बनकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। यह अनादिकालीन है, अनन्तकालीन है, इसमें कभी विराम नहीं, कभी इसमें रुकावट नहीं, कभी इसका बंद होना नहीं, कभी इसका ह्रास नहीं, कभी इसका विनाश नहीं। यह नित्य नव रूपमें प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वर्तमान रहता है।

विलक्षण भाव-जगत्

विषयी और साधकका जगत् अलग-अलग होता है। विषयी और साधकके पथ और लक्ष्य दोनोंमें ही बड़ी विभिन्नता है। विषयीका रुख संसारकी ओर होता है और साधकका रुख भगवान्‌की ओर।

शुद्ध विषयी भी भगवान्‌को भजते हैं। पर वे भजते हैं विषयकी कामनाको लेकर। इच्छित विषयको पानेके लिये वे सकाम भावनासे भगवान्‌की आराधना करते हैं। उनकी उस आराधनामें प्रेरणा है विषय-प्राप्तिकी और उसका फल भी संसारके विषय ही होते हैं। भगवान् विषयीकी कामनाको भी पूरा करते हैं और आगे चलकर उसकी सकामताको हर भी लेते हैं। अतः किसी प्रकारसे भी भगवान्‌से संयोग होना—भगवान्‌की आराधनामें लगना तो अच्छा ही है; क्योंकि वह आराधना भी अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी हेतु बन सकती है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि।'

पर विषयी व्यक्ति साधक नहीं होता। विषयीकी चाहसे साधककी चाह सर्वथा विपरीत होती है। विषयीको सम्मान-धन प्रिय लगते हैं और वह उनकी कामना करता है, साधकको

सम्मान-धन बुरे लगते हैं और वह उनका विषवत् त्याग करना चाहता है। विषयी जो चाहता है, उसीका साधक त्याग करता है। विषयी चाहता है विषय-सुख और साधक इसीसे दूर भागता है। अभिप्राय यह कि संसारके द्वन्द्वोंमें विषयी प्रिय मानकर जिसे चाहता है, उसीका साधक अप्रिय अनुभव करके त्याग करता है।

भगवान्को लोग अपनी-अपनी आँखोंसे देखते हैं। देखनेकी सबकी दृष्टि अपनी-अपनी है। श्रीकृष्णको कंसकी सभामें सबने अपनी-अपनी विभिन्न दृष्टिसे देखा। वे मल्लोंको वज्रके रूपमें, साधारण मनुष्योंको नरश्रेष्ठ, रमणियोंको मूर्तिमान् मदन, गोपोंको स्वजन, असतोंको दण्डदाता, वसुदेव-देवकीको बच्चे, कंसको साक्षात् मृत्यु, विद्वानोंको विराट्, योगियोंको परतत्त्व और वृष्णियोंको परमदेवताके रूपमें दिखायी दिये। इसी तरह विषयी और साधकको भगवान् अलग-अलग दिखलायी देते हैं। विषयीके लिये भगवान् साधन हैं और साधकके लिये भगवान् साध्य हैं। कामी भगवान्से सुख लेना चाहता है और प्रेमी भगवान्को सुख देना चाहता है।

साधकोंकी दो श्रेणियाँ हैं, इनके दो प्रधान भेद हैं। एक मुक्तिकामी और दूसरे प्रेमी। एकमें अहंके मङ्गलकी कामना है और दूसरेमें अहंकी सर्वथा विस्मृति है।

मुक्तिका अर्थ है—छुटकारा। बन्धनके अभावमें छुटकारेका कोई अर्थ नहीं, कोई स्वारस्य नहीं। अतः मुक्ति चाहनेवाला किसी

बन्धनमें है, जिससे छुटकारा चाहता है। मुमुक्षुमात्र, कहीं भी हो, कैसा भी हो, कभी भी हो, बन्धनसे छूटना चाहता है। जितनी तीव्र लालसा होगी, छुटकारा पानेकी जितनी उत्कट उत्कण्ठा होगी, उतनी ही उसकी मुमुक्षा—मोक्षकी इच्छा मुख्य तथा अनन्य होगी और उतनी ही जल्दी उसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। अतः जो बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह मुक्तिकामी है। अहं बन्धनमें है। मुक्तिकामी बन्धनसे मुक्त होकर अपने अहंका मङ्गल चाहता है। यह ज्ञानकी साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। षट्-सम्पत्तिकी प्राप्तिके बाद मुमुक्षुत्वकी जागृति होती है और फिर आत्मसाक्षात्कार स्वरूपकी प्राप्ति।

दूसरा वर्ग प्रेमी साधकोंका है। ज्ञानोत्तर कालमें और सीधे भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। प्रेमी साधक मुक्ति नहीं चाहता, पर वह संसारके बन्धनमें भी नहीं रहता। जगत्के बन्धनसे मुक्त ही भगवत्प्रेमी होता है। उसके पवित्र प्रेमके एक झटकेमें ही सारे बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं। फिर भी वह बन्धनमें रहता है। उसका यह बन्धन है—प्रेमका बन्धन, जो नित्य मुक्तस्वरूप भगवान्‌को उसके साथ बाँधे रखता है।

भगवान् विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी हैं। उनमें युगपत् विरोधी धर्मगुण है। वे निराकार होकर भी साकार हैं। कठोर होकर भी अत्यन्त कोमल हैं। अजन्मा-अविनाशी होते हुए भी जन्म लेते और अप्रकट होते हैं। व्रजसे जाकर भी व्रजसे बाहर नहीं गये। भगवान्‌के सिवा ऐसा कोई नहीं है, जिसमें एक साथ विरुद्ध गुण-

धर्म रहते हों। इसी तरह भगवान्‌के प्रेमी भी विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी होते हैं। वे नित्य मुक्त होकर भी नित्य बन्धनमें रहते हैं और उस बन्धनसे कभी छूटना नहीं चाहते।

प्रेमीको किसी प्रकारका सांसारिक बन्धन नहीं है। जो संसारके किसी प्रकारके बन्धनमें है, वह प्रेमी नहीं। जो संसारके भोगोंके साथ-साथ पवित्र भगवत्-प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, वे भूलमें हैं, भ्रममें हैं। प्रेम-पथपर पैर रखते ही सारा संसार समाप्त हो जाता है। सारी सांसारिक कामनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, फिर सांसारिक बन्धन कैसा? प्रेमीके एकमात्र बन्धन भगवान्‌का है। प्रेमी भगवान्‌के साथ प्रेम-रज्जुसे बँध जाता है। भगवान् नित्य मुक्त हैं, भगवान्‌में बन्धनकी कल्पना नहीं, वे भगवान् स्वयं लालसायुक्त होकर प्रेमीके बन्धनमें रहते हैं। उस बन्धनमें सुखस्वरूप भगवान्‌को सुख मिलता है। यह सुखस्वरूपका सुख-विलास है। यह प्रेमका बन्धन नित्य, असीम और अनन्त है।

इस प्रेमके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं। प्रेमीमें एक पवित्र विलक्षण प्रेम-जगत् लहराता रहता है। वह बड़ा विचित्र है। इस प्रेम-जगत्‌का जो नित्य मिलन है—वह है सर्वथा भावमय।

यह 'भाव' भावनामय—कल्पनामय नहीं है, ध्यानजनित ध्येयाकार वृत्ति-जगत् नहीं है, अज्ञानमें स्थित कोई वस्तु नहीं है, पाञ्चभौतिक नहीं है, क्रियाशून्यता नहीं है। इसका एक-एक रहस्य समझनेयोग्य है, सब अर्थ-गर्भ है। लोग कहते हैं 'प्रेमी तो केवल

कल्पनाके जगत्में रहता है, वस्तुतः उसको भगवान् मिलते नहीं। वह केवल भगवान्की भावना भर करता रहता है।' किंतु कल्पना या भावना तो मायाकी चीज है और भगवान् मायासे अतीत हैं। अतः यह भाव-जगत् माया-जगत्की वस्तु नहीं ? इसी प्रकार ध्येयाकार वृत्तिको ध्यान कहते हैं। जबतक वृत्ति टिकी है तबतक भाव-जगत्का अस्तित्व स्वीकार करें और जब वृत्ति छूट जाय तो भाव-जगत्का अस्तित्व समाप्त हो जाय। ऐसी बात इस भाव-जगत्के साथ नहीं है। इससे वृत्तिका सम्बन्ध नहीं; क्योंकि वृत्तिजनित मानसमात्र नहीं है। सत्य है—नित्य है। इसी प्रकार यह भाव-जगत् पाञ्चभौतिक नहीं। पाञ्चभौतिक वस्तु अनित्य है और भाव-जगत् नित्य है। अवश्य ही भाव-जगत्की सारी चेष्टाएँ—भावनाएँ प्राकृत जगत्के समान दिखायी देती हैं और प्राकृतिक शब्दोंसे, नामोंसे ही उनका निर्देश किया जाता है, परंतु वास्तवमें वे अप्राकृतिक हैं, भगवत्स्वरूप हैं।

व्रजकी जितनी लीला हैं, सारी भगवान् श्रीकृष्णके ११ वर्षकी उम्रसे पहले-पहलेकी है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है कि मथुरासे जानेके बाद १०० वर्षोंतक गोपाङ्गनाओंसे श्रीकृष्णकी भेंट नहीं हुई। मथुरा थी ही कितनी दूर, परंतु न तो गोपियाँ मथुरा गयीं और न भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें आये। गोपियाँ क्यों आयीं नहीं और श्रीकृष्ण क्यों नहीं गये ? केवल इसीलिये कि वहाँ स्व-सुखकी कल्पना नहीं, त्याग-ही-त्याग है। प्रियतम-सुख ही सर्वस्व है। गोपियाँ विरहसे अत्यन्त व्याकुल हैं, उनमें अत्यन्त मिलनोत्कण्ठा है, फिर भी गोपियाँ नहीं गयीं। तो क्या फिर मिलन हुआ ही नहीं ?

सच बात तो यह है कि उनके प्रियतम श्रीकृष्णका उनसे कभी वियोग ही नहीं हुआ। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि ११ वर्षकी उम्रके बाद प्राकृतिक—पाञ्चभौतिक जगत्‌के अनुरूप दीखनेवाली लीला नहीं हुई। भगवान् सर्व-समर्थ हैं, चाहते तो वह भी कर सकते थे, किंतु लोक-संग्रहके लिये, आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये उसे नहीं किया। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे गीतामें कहा है कि तीनों लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य न होने तथा मुझे कुछ भी प्राप्त करनेकी अपेक्षा न होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये मैं विहित कर्म करता हूँ। इसी कारण पाञ्चभौतिक जगतके अनुरूप दिखलायी देनेवाली लीला मथुरा जानेके बाद उनमें दिखायी नहीं दी, अन्यथा, वहाँ तो नित्य लीला-विलास चलता ही रहता है। गोपियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्ण भावरूपसे निरन्तर उनके पास रहे, वे व्रजसे गये ही नहीं। परंतु यह सब लीला अधिकारियोंके लिये ही थी। अतः बाहर इनका प्रकाश नहीं था। शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको गाली दी; किंतु उसने इस गोपीप्रेमकी बात नहीं कही। शिशुपालवाले जगत्‌को व्रजके भाव-जगत्‌की बातका ज्ञान ही नहीं था। हाँ, द्रौपदीको कुछ-कुछ पता था। कौरव-सभामें विवस्त्र होते समय रक्षा पानेके लिये द्रौपदीने अपनी प्रार्थनामें 'द्वारकावासिन्'के साथ-साथ 'गोपीजन-प्रिय' भी सम्बोधन किया था। यह महाभारतकी चीज है।

व्रजकी गोपियोंमें भाव-जगत्‌का नित्य एवं निरवधि विलास है। भाव-जगत् ऐसा है जहाँ कभी वियोग है ही नहीं। यह परम सत्य है कि भगवान् मिलकर कभी बिछुड़ते नहीं। मिलकर बिछुड़नेका क्रम प्रापञ्चिक जगत्‌की वस्तुका है।

भाव-जगत्में बिछुड़नेकी कल्पना ही नहीं। भाव-जगत्में आलिंगन-की जो लीला होती है, वह भी मिलनकी ही एक तरंग है। त्यागमय प्रेमकी पराकाष्ठापर नहीं पहुँचे हुए साधकोंको वह लीला नहीं दिखलायी देती। जहाँ मुक्तिका भी परित्याग हो जाता है वहाँ इस लीलाका विकास होता है। उसके अधिकारी अलग-अलग हैं।

भगवान् श्रीरामने अपनेको भगवान् कहा है, पर छिपे-छिपे। भगवान् राम मर्यादाका अधिक ख्याल रखते हैं। कहीं देवताओंके सामने, कहीं ऋषियोंके सामने भगवान् रामने अपनेको भगवान् कहा है; परंतु भगवान् श्रीकृष्णने तो बारंबार स्पष्ट कहा है। द्वारकामें श्रीकृष्ण भगवान् होकर भी द्वारकापति हैं। जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ वे मर्यादानुकूल कार्य करते हैं। द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या है। वे उषाकालमें शय्या त्यागकर ध्यान करते हैं। स्मृतियोंके अनुकूल शौच-स्नान करते हैं, संध्या करते हैं, अग्निहोत्र-गोदान करते हैं, अपने माता-पिताको प्रणाम करते हैं। जहाँ जैसी लीलाका प्रयोजन है, तदनुकूल आचरण करते हैं। जिस तरह प्रेमियोंके प्रेम-जगत्में प्रेमरसास्वादनके लिये प्रेमास्पद भगवान्‌का अवतरण होता है, वैसे ही लोकमें धर्मकी स्थापनाके लिये उनका अवतरण होता है। गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।८)

साधुका परित्राण, पापका विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। जब जैसी लीला होती है, भगवान् वैसे बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी दामोदरलीलामें काम, क्रोध, लोभ, भय, पलायन, बन्धन सभी हैं और सच्चे रूपमें हैं। यह सब भगवान् श्रीकृष्णका न नाटक है, न मिथ्या विलास है और न दम्भ है। जैसी लीला करनी होती है, वे स्वयं ही वैसे ही बन जाते हैं। जिस समय ब्रह्माने बछड़ोंको तथा गोपबालकोंको चुरा लिया, उस समय भगवान् क्या-क्या नहीं बन गये ? रस्सी, बछड़े, बालक, उनके कपड़े, काली कमली, जूतो, लकुटी—सभी कुछ तो बने। भगवान् रासमें अगणित रूपोंमें प्रकट हो गये। यह रास भगवान्‌का अपनेमें अपना ही रसास्वादन है और है प्रेमियोंमें स्वरूपभूत रसका वितरण। यह भोगियोंका भोगरमण नहीं, यह योगियोंका आत्मरमण नहीं, यह है प्रेमस्वरूप रसस्वरूप भगवान्‌का रस-वितरण तथा रसास्वादन-विलास।

रासमण्डलमें प्रवेश पानेके लिये देवता तथा ऋषियोंको गोपी बनना पड़ा। आकाशमें देवता और देवपत्नियाँ थीं, पर क्या वे रासकी अन्तरङ्ग सभी लीला देख पायीं ? अर्जुनको अर्जुनी बनना पड़ा। अर्जुनको इच्छा हुई कि इस प्रेम-जगत्‌का उन्हें दर्शन मिले। पहले तो भगवान् श्रीकृष्णने टलाया। बहुत आग्रह करनेपर मन्त्र बताया, उसका जप करना पड़ा, कात्यायनीकी उपासना करनी पड़ी, प्रेम-ह्रदमें स्नान करना पड़ा, फिर गोपीका रूप मिला, फिर सखी अर्जुनीको निकुञ्जमें ले गयी। अर्जुनी केवल एक रात ही

वहाँपर रह पायी। पुनः ह्रदमें स्नान कराया गया, वे तुरंत अर्जुन बन गये और वापस भेज दिये गये। शिशुपाल आदिको इस रासका पता नहीं था, हाँ, भीष्मजीको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। केवल अन्तरङ्ग लोगोंको ही इसका पता था।

वियोगमें भी भगवान्‌का मिलन रहता है। भगवान्‌की वियोगलीला-में नित्य संयोग रहता है। प्रेमीसे पूछा जाय क्या चाहते हो, मिलन या वियोग। तो सच्चा प्रेमी विरह ही माँगता है। संयोगमें समय, स्थान, मर्यादा आदिके अनेक बन्धन हैं, पर वियोगमें तो नित्य-निर्बाध मिलन है। भगवान्‌को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे तो नित्य सर्वत्र विराजमान हैं। प्रेमी भक्तका हृदय उनका अनन्त प्रलोभनीय प्यारा आवास है। वे वियोग देते हैं विशेष रसास्वादनके लिये—प्रगाढ़ रसास्वादनके लिये। वस्तुतः देखा जाय तो प्रेमी साधकको वियोग होता ही नहीं।

प्रेममें भुक्ति-मुक्तिकी कोई आकाङ्क्षा होती ही नहीं। आकाङ्क्षा-की अपूर्तिमें दुःख होता है, क्योंकि उससे मनमें एक प्रतिकूलताका उदय होता है। वही दुःख है। प्रेम-जगत्‌में प्रतिकूलता होती ही नहीं। प्रेममें जो कहीं प्रतिकूलताकी लीला होती है, वह वस्तुतः महान् अनुकूलताकी एक लहर मात्र है, क्योंकि उस प्रतिकूलतामें प्रियतमका सुख निहित है जो परम अनुकूलताका स्वरूप है। मिलन और विरहके रूपमें ये तरंगे उठती-गिरती रहती हैं। भूख बिना भोजनका मजा क्या? विरहके बिना मिलनका आनन्द क्या? विरह और मिलन प्रेम-सरिताके दो तट हैं। इन्हींके बीचमें यह सतत

प्रेमास्पद-सागरकी ओर प्रवाहित है । प्रेमास्पद प्रेमीके पाससे जाते ही नहीं । एक प्रेमिका गोपीने उद्धवसे अपना अनुभव बताया—'लोग भले कहें, पर मुझे तो प्रियतम कहीं जाते दीखते ही नहीं । लोग कहते हैं कि गये, पर वे तो सदा मेरे पास हैं । मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सामने दूसरोंकी बात कैसे मानूँ ! अब भ्रम किसको है, मुझको या लोगोंको ? लोगोंको ही है । मैं तो नित्यमिलनानन्दका रस लेती हूँ ।' विरहकी अनुभूति तत्त्वतः सुखरूप है !

प्रेमी मुक्तिकामी नहीं होता, क्योंकि प्रेममें अनन्त जीवन है और अनन्त सुख है । इस प्रेम-जीवनमें न कमी होती है और न रुकावट आती है । ज्ञानीके लिये जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त हो गया । अब उसे कुछ भी करना-पाना नहीं—'तस्य कार्यं न विद्यते ।' किंतु प्रेमीके जीवनमें प्रेमधारा सर्वदा बहती रहती है और बहती ही रहेगी । उस धारामें निरन्तर अधिकाधिक तीव्रता, मधुरता और उज्ज्वलता आती रहेगी ।

प्रेमीमें यदि वस्तुतः कोई क्षोभ होता है तो अवश्य मानना चाहिये कि उसके अन्दर स्व-सुखकी कोई वासना अवश्य है । किसी कामनासे ही विक्षोभ उत्पन्न होता है । अवश्य ही कोई चाह है, भले ही वह छिपी हो । वास्तवमें प्रेमी प्रत्येक द्वन्द्वमें पवित्र लीलानन्दका अनुभव करता है । वह सतत लीला-समुद्रमें निमग्न रहता है । प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है ।

जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो, वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है। यही भाव-जगत्‌का 'विधि-निषेध' है। वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है। अवश्य ही मनरहित भगवान्‌में मनका पवित्र निर्माण प्रेमियोंमें दिव्य सुख-वितरणके लिये ही होता है। प्रेमीके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है। जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीमें आने लगती है। मनमें स्वतः स्फुरित होने लगती है। फिर उसे कुछ कहना नहीं पड़ता। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

> मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
> जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

मेरे मनकी बात तो तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं। परम प्रेमास्पद भगवान्‌के मनमें क्या है, इसको बस, सर्वत्यागी परम प्रेमी जानता है और जानकर वह प्रेमी वही बोलता है, वही करता है। वही उसकी विधि है, भाव-जगत्‌में शास्त्र देखनेकी फुरसत किसको है, कौन देखता है? तो क्या उनके आचरण शास्त्र-विरुद्ध हैं? नहीं। प्रेमीका प्रत्येक विचार तथा कर्म सहज ही भगवान्‌के अनुकूल, भगवान्‌के प्रीत्यर्थ होता है। वही तो शास्त्रका साफल्य है। वही तो शास्त्रका फल है। अतः प्रेमी जो करता है, वही विधि है, वही शास्त्र है। प्रेमीके अन्दर लौकिक प्रपञ्च नहीं है, कोई भी जागतिक वासना नहीं है। उसके अन्दर भगवान् हैं। उसकी चेष्टा, उसकी वाणी भगवान्‌की चेष्टा और वाणी है। वह तीर्थोंको तीर्थ बनाता है। जहाँ ऐसे प्रेमी संत रहे, वे तीर्थ बन गये। उन्होंने

जो कुछ कहा वही शास्त्र बन गया और जो आचरण किया वही शास्त्रकी विधि बन गयी।

शास्त्रकी अन्य किसी विधिका बन्धन वहाँ नहीं है, क्योंकि वहाँ शास्त्रकी विधिका फल फलित हो चुका है। जो पवित्र प्रेम प्राप्त कर चुके हैं, उनपर शास्त्रका बन्धन नहीं है। जबतक यह स्थिति नहीं आती है, तबतक शास्त्रकी प्रत्येक विधि लागू होगी। जो वासनाबद्ध मनुष्य प्रेमके नामपर शास्त्रकी मर्यादाका उल्लङ्घन करते हैं, विधिकी अवहेलना करते हैं, उनको अवश्य ही सावधान हो जाना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा किया तो हम भी ऐसा ही करें। यह मानना ठीक नहीं। भगवान्‌के सब आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। भगवान्‌ने दावानल पान किया, क्या हम भी पान कर सकेंगे। भगवान्‌ने सात दिनोंतक कनिष्ठिका अङ्गुलिपर गोवर्धन धारण किये रक्खा। क्या हम एक घंटे भी एक सेरका पत्थर भी अङ्गुलिपर रखकर खड़े रह सकते हैं? कलालके घरकी शराब और सुनारके यहाँ ढलाईघरका तप्त गला हुआ शीशा शंकराचार्यजी पी सकते हैं पर क्या सभी पी सकते हैं? इसीलिये भगवान्‌के आचरणोंका अनुकरण नहीं, उनके आज्ञानुसार व्यवहार करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में आता है। भलीभाँति वेदाध्ययन सम्पन्न करानेके बाद आचार्य अपने विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर कहते हैं—

'यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि
त्वयोपास्यानि नो इतराणि'

'हमारे आचरणोंमें भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, तुमको उन्हींका सेवन करना चाहिये। दूसरोंका कभी नहीं।' अतः

गोपियोंकी नकल कभी नहीं करनी चाहिये। विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमें साधकको तो विषयीसे उलटे चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर सुकोमल-वदन थे। पर जब संन्यास ले लिया तो उन्होंने कठोर नियमोंका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे। जयदेवजीका गीत-गोविन्द सुना करते थे, पर साथ ही बड़े संयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे महान् विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने अपने शिक्षाष्टकमें बताया है कि भगवान्के कीर्तनका कौन अधिकारी है? जो राहमें पड़े हुए तिनकेसे भी अपनेको नीचा मानता हो, जो वृक्षसे भी अधिक सहनशील हो और जो मान न चाहकर दूसरोंको मान देता हो, उसीके द्वारा भगवान्का कीर्तन होता है और उसीको भगवान् मिलते हैं।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रिय-भोगको स्थान नहीं है। भाव-जगत्में भोगको स्थान है, पर उसी पवित्र भोगको जो 'तत्सुखसुखित्वम्'से अनुप्राणित हो। गोपियोंके जीवनमें भोग है, पर वह केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णके लिये है। वहाँ रागका एकमात्र

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

'भाव' जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार 'कृष्णरति' या 'भगवद्रति' ही 'स्थायिभाव' है। भगवद्रतिका प्रत्येक 'स्तर' 'स्थायिभाव' ही है, परंतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृङ्गार, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने 'शान्त' रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव-महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोंका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'माधुर्य' (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य,

सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रम विकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसी ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है। नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें—शब्द एक गुण है।

वायु या महत्में—शब्द, स्पर्श—दो गुण हैं।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—तीन गुण हैं।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—चार गुण हैं।

क्षिति या पृथ्वीमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं। इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये।

शान्तरस—निष्ठामय है।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोच-शून्यता) मय है।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और सम्पूर्ण आत्मसमर्पणमय है। इनमें सर्व प्रथम है—शान्तरस! इसकी आधारभूता है—स्थायिभावकी शान्तिरति। शान्तिका अर्थ 'शम' है। श्रीमद्भागवतके अनुसार 'भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही'

'शम' है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है। भगवान्‌में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है। ऐसे शान्त-रसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्‌की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है। शान्तरसके भक्तमें भगवान्‌में निर्बाध निष्ठा, समस्त दैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं। यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है। इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर 'विशुद्ध भगवत्प्रेमका' महान् प्रसाद निर्मित होता है।

पर इस शान्तरसमें भगवान्‌के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है। इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। उसे दास्यरस कहते हैं। 'प्रेम' की यह आरम्भिक अवस्था है।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्‌का अनुग्राह्य हूँ, अनुग्रहका पात्र हूँ। अनुग्रह-पात्र 'दास' भी हो सकता है अथवा 'लाल्य' भी। अतः इस रसमें दो प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—'सम्भ्रमप्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।

इनमें 'दास' भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्‌से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्‌की कृपा-प्राप्तिके

लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इसीसे 'सम्भ्रम'का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम'में भगवान्‌के प्रति भक्तका पराया भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्‌की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति'-युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्‌के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुरुष अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थमात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं—पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल संगादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास' भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१—अधिकृत, २—आश्रित, ३—पारिषद् और ४—अनुग। 'अधिकृत' दासभक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित'

दासभक्तोंके तीन भेद हैं—(१) शरणागत, (२) ज्ञाननिष्ठ (३) सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें वन्दी राजागण, और कालियनाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्के दिव्य समग्र स्वरूप तथा लीलातत्त्वको जानकर, जिन महानुभावोंने मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवान्का ही परमाश्रय लेकर उनके भजन-रसके आस्वादनमें ही अपनेको लगा रक्खा है—ऐसे सनत्कुमार, शौनक, नारद और शुकदेव आदि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं। और जिन्होंने भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहासे अतीत होकर केवल भगवत्सेवामें ही अपनेको लगा रक्खा है और दिये जानेपर भी मुक्तिको स्वीकार न करके जो सदा सेवापरायण ही हो रहे हैं, ऐसे श्रीहनुमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु पुण्डरीक आदि, 'सेवानिष्ठ' दास भक्त हैं। 'पारिषद्' भक्त वे हैं जो सारथि आदि कार्योंके द्वारा सेवा करते हैं तथा सेवाके लिये साथ रहते हुए समय-समयपर सलाह आदि भी दिया करते हैं—जैसे उद्धव, विदुर, संजय, भीष्म, शक्रजित आदि। अब रहे 'अनुग' दासभक्त, जो सदा प्रभुकी सेवामें ही लगे रहते हैं। ये दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' हैं; और रक्तक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' भक्त हैं। इतना स्मरण रहे कि भगवान्का दास न किसी दूसरेका 'दास' होता है न किसी दूसरेको 'दास' बनाता है।

परंतु इस दास्यरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्यभाव'में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्य-रति' है। सख्य होता है—दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें। उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा—संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—

'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'व्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्य भक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृद् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रिनर्म सखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, भद्रवर्द्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विजय आदि 'सुहृद् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिलाषी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु,

कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी बराबरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेला करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कभी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते हैं, कभी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते हैं और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकण, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरंग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्‌के सभी प्राणियोंके प्रति सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच सम्भ्रम न होकर विश्रम्भका भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परिस्थितिकी कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सारा समय और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। वे बाधाएँ बहुत अंशमें वात्सल्य—रसमें पहुँच जानेपर हट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। इसमें एक विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके पुत्र होकर रहते हैं।

श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान करके तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना नहीं। इस वात्सल्य-रसकी ऐसी विलक्षणता है कि यह भगवान्‌की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी देती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव देवकी भगवान्‌के आनन्दांशसे सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न रखते हों यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्य-रसके आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वलोक-महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्यवान स्वरूपको नन्हेसे नन्दकुमारके रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्वर्य-स्वरूपकी कभी-कभी झाँकी भी करा देते हैं। भगवान्‌ने मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-लीलामें ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदामैयाके उमड़ते मातृभावके सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्य-रसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़ता रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। यह मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस श्रृङ्गाररसका अतीन्द्रिय दिव्यस्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस माधुर्य-रसको लौकिक नर-नारियोंके दाम्पत्य प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। इन मनुष्योंमें प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं सभी स्वार्थमूलक हैं। अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवत्प्रेम-रस, जिसकी आस्वादनलीला व्रजमें हुई थी

केवल और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही है। लौकिकप्रेम अहंसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्यागपूर्ण 'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे वह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो—वह इस दिव्यभावतक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही कलंक-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषीगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्य-देवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपांगनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्य-रतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकालीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समञ्जसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोंका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्‌के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थधर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा भी है, यह 'साधारणी-रति' है। जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना 'आत्म-सुख' और 'प्रियतम-सुख'का मिश्रण यों 'समरस-विलास' है, वह

'समञ्जसा-रति' है। परस्पर गुणजनित सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी 'समर्था रति' नहीं है। 'समर्था-रति' तो केवल श्रीगोपांगनाओं-में ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेश-गन्धकी भी कल्पना नहीं है। रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं। इन श्रीगोपीजनोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—श्रीराधाजी। वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं। श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं, श्रीलक्ष्मीजी, महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंश विभूति' महिषीगण' वैभवविलास' और 'व्रजाङ्गनाएँ' 'काय व्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है। यह सदा बढ़ता ही रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण सुखरूप है। यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप सर्वोच्च प्रेम परम पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भाँति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपालाभ सम्भव है।

रास-रहस्य

[त्यागकी पराकाष्ठा]

आज रासपूर्णिमा है । 'रास' शब्दको सुनकर हमलोग प्रायः रास-मण्डलियोंद्वारा जो रासलीला होती है, इसीकी बात सोचते हैं, दृष्टि उधर ही जाती है । अवश्य ही यह रासलीला भी उसका अनुकरण ही है, उसीको दिखानेके लिये है, इसलिये आदरणीय है । परंतु भगवान्‌का जो दिव्य रास है, उसकी विलक्षणता थोड़ी-सी समझ लेनी चाहिये ।

'रास' शब्दका मूल है—'रस' और रस है—भगवान्‌का रूप—'रसो वै सः' । अतएव वह एक ऐसी दिव्य क्रीड़ा होती है, जिसमें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें अभिव्यक्त होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करता है—वह एक ही रस अनन्त रसरूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, स्वयं ही आस्वादक, स्वयं ही लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें लीलायमान हो जाता है और तब एक दिव्य लीला होती है—उसीका नाम 'रास' है । रासका अर्थ है—'लीलामय भगवान्‌की लीला'; क्योंकि लीला लीलामय भगवान्‌का ही स्वरूप है, इसलिये 'रास' भगवान्‌का स्वरूप ही

है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान्‌की यह दिव्य लीला तो नित्य चलती रहती है और चलती रहेगी, इसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं। कबसे प्रारम्भ हुई और कबतक चलेगी—यह कोई बता भी नहीं सकता। कभी-कभी कुछ बड़े ऊँचे प्रेमी महानुभावोंके प्रेमाकर्षणसे हमारी इस भूमिमें भी 'रास-लीला'का अवतरण होता है। यह अवतरण भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके समय हुआ था। उसीका वर्णन श्रीमद्भागवतमें 'रासपञ्चाध्यायी'के नामसे है। पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन है। इन पाँच अध्यायोंमें सबसे पहले वंशीध्वनि है। वंशीध्वनिको सुनकर प्रेमप्रतिमा गोपिकाओंका अभिसार है; श्रीकृष्णके साथ उनका वार्तालाप है, दिव्य रमण है, श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका अन्तर्धान है, पुनः प्राकट्य है। फिर गोपियोंद्वारा दिये हुए वसनासनपर भगवान्‌का विराजित होना है। गोपियोंके कुछ कूट प्रश्नोंका, गूढ़ प्रश्नोंका, प्रेम-प्रश्नोंका उत्तर है। फिर रास-नृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वन-विहार—इस प्रकार अन्तमें परीक्षित्‌के सदेहान्वित होनेपर बंद कर दिया जाता है—रासका वर्णन।

यह बात पहलेसे ही समझ लेनी चाहिये। यह भगवान्‌की लीला है। याद रखनेकी बात है यह! इसीलिये इस रास-पञ्चाध्यायीमें सबसे पहला शब्द आता है—'भगवान्'।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
(श्रीमद्भागवत १०। २९। १)

'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' का क्या अर्थ होता है। भला, शरद्-ऋतुमें मल्लिका कहाँसे प्रफुल्लित हुई? परंतु इसके विचित्र भाव हैं और विचित्र अर्थ हैं। यह अनुभवकी वस्तु है, कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु इतनी बात तो जान लेनी चाहिये कि यह जो कुछ है—सब भगवान्में है और भगवान्का है। जडकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें होती है। अज्ञानयुक्त हमारी आँखोंमें है—उसकी सत्ता। भगवान्की दृष्टिमें जडकी सत्ता ही नहीं है। देह और देहीका जो भेदभाव है, वह प्रकृतिके राज्यमें है, जडराज्यमें है। अप्राकृतिक लोकमें, जहाँ प्रकृति भी चिन्मय है, वहाँ सब कुछ चिन्मय है। वहाँ अचितकी कहीं-कहीं जो प्रतीति होती है—वह केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है, वस्तुतः वहाँ अचित् कुछ है ही नहीं। इसलिये होता यह है कि जीव होनेके कारण हमारा मस्तिष्क, क्योंकि जड राज्यमें है, इसलिये जड राज्यमें हम प्राकृतिक वस्तुओंको जडरूपमें ही देखते हैं। इसीलिये कभी-कभी जब हम अप्राकृतिक वस्तुका भी विचार करते हैं, जैसे— भगवान्का दिव्य लीला-प्रसङ्ग या भगवान्की रासलीला इत्यादिका, जो सर्वथा अप्राकृतिक चिन्मय वस्तु हैं, तो हमारी यह बुद्धि जडमें प्रविष्ट रहनेके कारण वहाँ भी जडको ही देखती है। इस प्रकार अपनी जड-राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको लेकर हम उसीका दिव्य राज्यमें भी आरोप कर लेते हैं। अपनी

सड़ी-गली-गंदी विकृत-विष कर्दमभरी आँखोंसे हम वही सड़ी-गली-गंदी चीजोंकी, हाड़-मांस-रक्तके शरीरकी—जिसमें विष्ठा-मूत्र-श्लेष्म भरा है—कल्पना करते हैं—इसीको देखते हैं। चिन्मय राज्यमें हम प्रवेश ही नहीं कर पाते और इसलिये दिव्य-रासमें भी हमलोग इन जड़ स्त्री-पुरुषोंकी और उनके मिलनकी ही कल्पना करते हैं। किंतु यह बात सर्वदा ध्यानमें रखने की है कि भगवान्‌का यह रास परम उज्ज्वल, दिव्य रसका प्रकाश है। जड़जगत्‌की बात तो दूर रही, हम यहाँतक कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि ज्ञान या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। इतना ही नहीं, जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है, उस परम दिव्य, चिन्मय तत्त्वमें भी इस दिव्य रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फुर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा, कृष्णगृहीतमानसा उन श्रीगोपीजनोंके मधुर हृदयमें होती है और गोपीका वह मधुर हृदय नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये इस रासलीलाके अथाह स्वरूपको और परम माधुर्यको समझनेके लिये सबसे पहले यह समझना चाहिये कि यह 'भगवान्‌की दिव्य-चिन्मय लीला' है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवत्स्वरूपा हैं, चिन्मयी हैं, सच्चिदानन्दमयी हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी, इन्होंने जडशरीरका मानो इस तरहसे त्याग कर दिया। सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले आनन्दस्वरूपका भी त्याग कर दिया। इनकी दृष्टिमें क्या है? गोपियोंकी दृष्टिमें क्या है—यह बहुत गम्भीर समझनेकी वस्तु है, साधनाकी ऊँची-से-ऊँची साध्य वस्तु। गोपियोंकी दृष्टिमें है—केवल

और केवल चिदानन्दस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्ण प्रियतम और इनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला निर्मल परम प्रेमामृत छलकता रहता है नित्य। इसीलिये श्रीकृष्ण उनके हृदयके प्रेमामृतका रसास्वादन करनेके लिये लालायित रहते हैं, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्दीपन-मञ्चकी रचना की, गोपाङ्गनाओंका आह्वान किया और इसीलिये शरद्की रात्रियोंको उन्होंने चुना और आमन्त्रित किया। यहाँपर यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि यहाँ कोई जडराज्य है। गोपियोंके वास्तविक स्वरूपको पहचानना चाहिये। शास्त्रोंमें आता है—ब्रह्मा, शंकर, नारद, उद्धव और अर्जुन-जैसे महान् लोगोंने बड़े-बड़े त्यागी ऋषि-मुनियोंने यहाँतक कि स्वयं 'ब्रह्मविद्या'ने दीर्घकालतक तप-उपासना करके गोपीभावकी थोड़ी-सी लीला देखनेके लिये वरदान प्राप्त किया। अनुसूया, सावित्री इत्यादि महान् पतिव्रता देवियाँ भी गोपियोंकी चरण-धूलिकी उपासिका थीं। एकमात्र श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई पति है ही नहीं—इस बातको देखनेवाली परम पतिव्रता तो एकमात्र श्रीगोपियाँ ही हैं। दूसरी कोई थी ही नहीं और कभी ऐसा कोई हुआ ही नहीं।

इस स्थितिका भाव जब हम देख सकें, तभी हम गोपियोंकी दिव्य लीलापर विचार कर सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं। सबसे पहले यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह 'भगवान्'की लीला है। भगवान् सच्चिदानन्दघन दिव्य हैं, अजन्मा हैं, अविनाशी हैं, हानोपादानरहित हैं, सनातन हैं, सुन्दर हैं। इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाएँ भी भगवान्की स्वरूपभूता, श्रीराधा-रानीकी कायव्यूहरूपा हैं। ये सब इनकी अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य एवं दिव्य

है। भाव-राज्यकी यह लीला स्थूलशरीर, स्थूल मनके परेकी वस्तु है। इसीलिये जब गोपियोंका आवरण भङ्ग हुआ, तब इस लीलामें लीलाके लिये भगवान्ने उनको संकेत किया—दिव्य रात्रियोंका। उसी संकेतके अनुसार भगवान्ने इनका आह्वान किया। यहाँसे आरम्भ होता है यह दिव्य मधुर प्रसङ्ग। बहुत संक्षेपमें तीन-चार श्लोकोंकी बात कह देनी है, अधिक नहीं, वह भी बहुत नीचे उतरकर।

भगवान्का यह मिलन कब होता है? जब और किसी वस्तुकी कल्पना भी मनमें नहीं रह जाती और जब भगवान्के मिलनके लिये चित्त अनन्यरूपसे अत्यन्त आतुर हो जाता है। यह दशा जब होती है और भगवान् जब इसको देख लेते हैं कि अब यह तनिक-सा संकेत पाते ही, सर्वस्वका त्याग तो कर ही चुका है, उस सर्वस्वके त्यागको प्रत्यक्ष करके आ जायगा। इस प्रकारकी स्थिति जब भगवान् देखते हैं, तब वे मुरली बजाते हैं और वह मुरली-ध्वनि उन्हींको सुनायी भी देती है। व्रजमें भी उस समय मुरली तो बजी और मुरलीकी जो ध्वनि दिव्य लोकोंमें पहुँच-पहुँचकर वहाँके देवताओंको भी स्तम्भित कर देती है, नचा देती है—उस मुरलीकी ध्वनिको भी उस दिन—आजके दिन—शारदीय रात्रिके दिन—सबने नहीं सुना। वह ध्वनि केवल उन्हींके कानोंमें गयी जो भगवान्से मिलनेके लिये आतुर थे, जिनका हृदय अत्यन्त उत्तप्त था भगवत्-मिलन-सुधाके लिये। केवल उन्हींके हृदयमें, उन्हींके कानोंमें भगवान्की वह मुरली-ध्वनि पहुँची। मुरली-ध्वनि क्या थी—भगवान्का आह्वान था; क्योंकि उनकी

साधना पूर्ण हो चुकी थी। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प जो कर लिया था।

मुरली बजी—तब क्या हुआ? बड़ी सुन्दर भावना है। बड़ी सुन्दर बात लिखी है श्रीमद्भागवतमें—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(१०।२९।४)

यह स्थिति होती है भगवान्‌के यथार्थ विरही साधककी। बड़ी ऊँची स्थिति है यह। कहते हैं—मुरली बजी और मुरलीकी गीत-ध्वनि उन्होंने सुनी। वह गीत कैसा था? 'अनङ्गवर्धक' था। ये जितनी भी संसारमें हम प्रकृतिकी वस्तुएँ देखते हैं, इसमें कोई भी अनङ्ग नहीं है। प्रकृति स्वयं अनङ्ग नहीं है, अङ्गवाली है और ये अङ्गवाली कोई भी चीज गोपियोंके मनमें नहीं रही।

किंतु वह 'अनङ्ग' कौन है? भगवान् हैं—प्रेम है। और कोई भी अनङ्ग है ही नहीं। इस अनङ्गकी, इस प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वह वेणु-ध्वनि इनके कानोंमें पड़ी। किनके कानोंमें पड़ी? एक शब्द बहुत सुन्दर है—'कृष्णगृहीतमानसाः,—जिनके मनोंको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। गोपियोंका मन अपने पास नहीं, वे 'कृष्णगृहीतमानसा' हैं। जो कृष्णगृहीतमानसा नहीं होंगी, उनको भयके कारण मोहसे छुटकारा नहीं मिल सकता; वे भगवान्‌के आह्वानको नहीं सुन सकते, उनका मन तो घरमें फँसा

है। उनको तो घरकी ही पुकार सुनायी देती है चारों तरफसे। मुरलीकी पुकार कहाँसे सुनायी देगी? मुरलीकी पुकार तो सारे व्रजमें गयी, किंतु उन्हीं व्रजबालाओंने सुनी जो कृष्णगृहीतमानसा थीं। घरके अन्य लोगोंने नहीं सुनी; क्योंकि घरमें ही उनका मानस रम रहा था, घरने ही उनके मानसको पकड़ रक्खा था। किंतु ये कृष्णगृहीतमानसा व्रजबालाएँ कैसी थीं-इनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। इनके पास इनका मन था ही नहीं। वैसे तो हमारे पास भी हमारा मन नहीं है। हमने भी खुला छोड़ ही रक्खा है उसे विषयके बीहड़ वनमें विचरनेके लिये। जहाँ चाहता है, हमको ले जाता है। किंतु यह यथार्थ खुला छोड़ना नहीं, यह तो किसीमें लगाकर छोड़ना है। विषयोंमें लगे हुए मनको हम खुला छोड़ना कहते हैं—पर वह तो विषयोंसे आबद्ध है। खुला छोड़नेका अर्थ क्या है? विषयोंसे सर्वथा इसको विमुख करके खुला छोड़ दें। जब हम विषयोंको मनसे निकालकर, विषयोंसे मनको हटाकर मनको खुला छोड़ देंगे; जहाँ मन सचमुच निर्बन्ध हुआ कि 'भगवान् इसे ले जायँगे' यह बिलकुल सच्ची बात है।

भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको खुला नहीं देखते। भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको किसीके द्वारा पकड़ा हुआ देखते हैं, हमारे मनमें किसीको बैठा हुआ पाते हैं। तब भगवान् देखते हैं कि इसका मन तो अभी खाली नहीं है, बँधा हुआ है—तब वे लौट जाते हैं। किंतु गोपियोंने मनको खुला छोड़ दिया था। सब चीजोंसे मनको खोल दिया था। मनके सारे बन्धनोंको काट दिया था उन्होंने।

'ता मन्मनस्काः' अब क्या हुआ? जब मन इनका ऐसा हो गया, जिसमें संसार रहा नहीं तो भगवान्‌ने आकर उसको पकड़ लिया। और मनको पकड़कर क्या किया? गोपियोंके मनको अपने मनमें ले गये और अपने मनको उनके मनमें बैठा दिया। 'ता मन्मनस्काः' का यही अर्थ है कि गोपियोंका अपना मन था नहीं और उनके मनमें, श्रीकृष्णका मन आ बैठा, तो उनका मन कहाँ गया? जब हम गोपीभावकी बात करें तो उसके पहले यह देख लेना चाहिये कि हमारा मन संसारसे मुक्त होकर, खाली होकर, भगवान्‌के द्वारा पकड़ा जा चुका है या नहीं। भगवान्‌ने हमारे मनको पकड़ लिया है या नहीं। यदि नहीं पकड़ा है तो हम 'गोपी' नहीं बन सकते।

जिस वेणुगीतको भगवान्‌ने गाया, वह 'अनङ्गवर्धन' गीत था। अनङ्ग—प्रेम, भगवत्प्रेमके बढ़ानेवाले उस गीतको उन लोगोंने ही सुना, जिन श्रीगोपाङ्गनाओंका मन श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। उनको सुनते ही क्या हुआ? जिस प्रकार लोभी आदमीको, जो धनका अत्यन्त लोभी हो और उसको पता भी लग जाय कि अमुक जगहपर धन पड़ा है, जाते ही मिल जायगा। धन लुट रहा है, तो वह कोई साथ नहीं बटोरेगा, सलाह नहीं करेगा कि अमुक-अमुक आदमी साथ चलो। जहाँ उसने बात सुनी कि भागा, चला, न किसीसे बातचीत की, न किसीसे सलाह ली। कहते हैं—इसी प्रकार व्रज-सुन्दरियोंने भी 'अन्योन्यम् अलक्षितोद्यमाः' किसीसे कहा नहीं कि हम जा रही

हैं, तुम भी चलो । इसका एक कारण और भी आयेगा—आगे । उन्होंने किसीसे कहा नहीं; क्योंकि वे तो कृष्णगृहीतमानसा थीं । आह्वान मिलते ही बिना किसीको कहे-सुने चल दीं । चलीं कैसे ? धीरे-धीरे नहीं, मौजसे नहीं, द्रुतगतिसे दौड़ीं । अपने-आपको रोक नहीं सकीं, ठहर नहीं सकीं, चालमें धीमापन नहीं ला सकीं—दौड़ीं—जितना तेज दौड़ सकती थीं । बताते हैं दौड़नेमें क्या हुआ 'जवलोल-कुण्डलाः' उनके कानोंके कुण्डल सब-के-सब अत्यन्त हिलने लगे । वे दौड़ पड़ीं इसीका यह एक संकेत बताते हैं । वे इतनी जोरसे चलने लगीं कि उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे । असलमें आभूषण भी वही है जो भगवान्‌से मिलनेके लिये हिलते हैं, आतुर हो उठते हैं, नहीं तो जड हैं, पत्थर हैं, उन पत्थरोंमें रक्खा क्या है । इस प्रकार वे गयीं और पहुँच गयीं । 'यत्र सः कान्तः' जहाँपर उनके कान्त, स्वामी, अपने प्रियतम थे ।

'प्रियतम' एक भगवान् ही हैं भला । संसारमें कोई भी प्रियतम—कान्त नहीं है । हमलोगोंने न मालूम किस-किसको कान्त बना रक्खा है । स्त्रियोंके ही 'कान्त' नहीं होते हैं, पुरुषोंके भी होते हैं । हम सब लोगोंके न मालूम कितने 'कान्त' हैं ? पता नहीं है । किंतु वे तो असली 'कान्त' के पास जा पहुँचीं । प्रश्न हुआ—वे एक-एक गयीं या साथ गयीं । घरके काम-काजको सँभालके, सहेजके गयी होंगी न ? और भाग गयीं ? तो

कैसे भाग गयीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा थीं—मुरलीकी ध्वनि सुनते ही दौड़ पड़ीं। दौड़ क्यों पड़ीं? क्योंकि समुत्सुका भी थीं—श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये परम उत्सुक—परम आतुर थीं। और यही प्रेमी साधकका रूप होता है। ये विशेषण—'**कृष्णगृहीतमानसाः**' एवं '**समुत्सुकाः**' बताते हैं उनकी स्थितिको। वे इतनी उत्सुका थीं भगवान्से मिलनेके लिये कि जहाँ मिलनेकी बात, किसी भी रूपमें आयी, इनको और कुछ सूझा ही नहीं। आगे बताते हैं—(**काश्चिद् दुहन्त्यः···दोहं हित्वा**) कुछ गोपियाँ गाय दुह रही थीं, गायका थन हाथमें है, नीचे बरतन रक्खा है। मुरलीकी ध्वनि कानमें आयी, वैसे ही दुहना छोड़कर दौड़ीं। किधर दौड़ीं—जिधरसे वह वेणुनाद आ रहा था। (**अभिययुः**) उस वेणुनादकी ओर लक्ष्य करके, वे भागीं। यह तो हुई दुहनेवालियोंकी दशा। और कुछ गोपियोंने दूधको चूल्हेपर रख दिया था औटानेके लिये। जहाँ आह्वान आया, अब औटावे कौन? जैसे दूध दुहते भागीं, वैसे ही कुछ दूध चूल्हेपर ही छोड़कर दौड़ीं। चाहे उफन जाय, जल जाय!

जबतक जगत्की स्मृति रहती है, तबतक हम भगवान्का आह्वान नहीं सुनते। भगवान्का आह्वान सुनते ही जगत्की स्मृति वे भूल गयीं। साधनाका एक ऊँचा स्तर है यह। जगत्को याद रखते हुए हम जो भगवान्की ओर जाते हैं, यह भगवान्की ओर नहीं जाते, जगत्में ही रमते हैं। जगत्की स्मृति मनमें रहती है। किंतु गोपियोंको तो जहाँ भगवान्का आह्वान कानोंमें सुनायी दिया, वे जगत्को

सर्वथा भूल गयीं । दूध दुहना भूल गयीं और दूधको चूल्हेपर भूल गयीं । भागवतकार आगे कहते हैं, एक तो हलुआ बना रही थी (संयावम्) । हलुआ बना रही थी तो हलुआ उतार देती । किंतु उतार देती कौन ? होश रहता तब न । (अनुद्वास्य अपराः ययुः) बिना उतारे ही भाग गयी । हलुआ जल जायगा इतना सोचनेका अवकाश कहाँ ? यही विरही साधककी स्थिति होती है । जब भगवान्‌का आह्वान सुनता है, साधक उस समय जगत्‌की ओर नहीं देखता । बुद्धने भी नहीं देखा जो प्रेमके साधक नहीं थे । जरा-सा एक बार मुड़कर देखा, फिर मुँह मोड़ लिया । बादमें प्रश्न होता है कि 'यह तो अपना-अपना काम था । दूसरेका काम करती होतीं, तब तो इस प्रकार छोड़कर नहीं जा सकती थीं ।' किंतु यह भी हुआ । (परिवेषयन्त्यः तत् हित्वा) घरवालोंको भोजन परोस रही थीं यह तो सभ्यता भी होती है कि परोसना-तकके कामको तो पूरा करके जातीं । किंतु उसको भी छोड़कर दौड़ चलीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा—समुत्सुका थीं वे । फिर प्रश्न होता है कि खैर, यह तो कोई बात नहीं । बच्चे तो बड़े प्यारे होते हैं । तो कोई बच्चोंको दूध भी पिला रही होंगी । किंतु (शिशून् पयः पाययन्त्यः) शिशुओंको दूध पिलाते हुए भी छोड़कर भाग गयीं, शिशु रोते ही रह गये । (काः चित् पतीन्) कुछ पतिव्रताएँ अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं । वे भी दौड़ पड़ीं । इसका उल्टा अर्थ कोई ले लेगा तो भूल ही करेगा; क्योंकि यहाँ लौकिक जगत् नहीं है । यह तो परम पवित्र साधना, परम

पावन उस उच्च साधनाकी वस्तु है, जहाँपर जगत् नहीं रहता। इतना ही नहीं; कुछ गोपियाँ खा रही थीं। आदमी खाता है तो सोचता है खाकर ही चलें। किंतु (भोजनम् अपास्य) भोजन करते हुए बीचमें ही दौड़ पड़ीं। थाली पड़ी रही। (अन्याः लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः) कुछ जो अङ्गराग लगा रही थीं, कुछ उबटन लगाकर नहा रही थीं, उबटन लगाकर नहाना था, उबटन लगा ही रह गया। उबटन कहीं लगा, कहीं लगा ही नहीं—ऐसे ही लगा रह गया। कुछ काजल डाल रही थीं नेत्रोंमें (लोचने अञ्जन्त्यः) एक आँखमें काजल पड़ा और दूसरेमें रह गया, ऐसे ही छूट गया। (काः चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः) पहन रही थी चोली और सोचा कि ओढ़नी है, उसे सिरपर डाल लिया। उल्टे कपड़े पहन लिये। हाथका गहना पैरमें पहन लिया। कानका गहना उँगलीमें डाल लिया। पता ही नहीं, गहना है कि क्या है। (व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकम् ययुः) उल्टे-सीधे गहने-कपड़े पहननेसे विचित्र शृङ्गार हो गया। चली गयी श्रीकृष्णके समीप। जहाँतक शृङ्गार दीखता है, वहींतक शृङ्गारका दासत्व है। किंतु वहाँ तो जब भगवान्का आह्वान होता है तो यहाँके शृङ्गारका कोई मूल्य नहीं रहता। यहाँका सारा शृङ्गार बिगड़कर वहाँका शृङ्गार होता है।

इनके लिये एक शब्द और आया है 'गोविन्दापहृतात्मानः'—गोविन्दने इनके अन्तःकरणका अपहरण कर लिया था। यह

हमलोगोंका परम सौभाग्य हो कि हमारे भी मनको भगवान् हरण कर लें, चुरा लें। किंतु वे क्यों चुरा लें? यहाँ एक बात समझनेकी है कि हम यह कामना करें, मिथ्या ही करें, चाहें कि हमारे 'मनको गोविन्द हरण कर ले जायँ।' गोविन्द तो लेनेके लिये तैयार हैं। किन्तु कब ले जायँगे? जब हम अपने मनको उनके लिये खाली रक्खेंगे तब। जब भरा हुआ बोझा है, कौन उठाकर ले जाय इसको। मनको हरकर भी ले जायँगे, चोरी करके भी ले जायँगे। पर पहले हम अपने मनको जगत्से खाली करें। इसमें जो कूड़ा-करकट भर रक्खा है उसको निकाल दें, तब गोविन्द अवश्य इसको हरकर ले जायँगे। गोपियोंने सब कुछ निकाल दिया था अपना, अपने मनसे। इसलिये उनके मनको भगवान् हरण करके ले गये।

इस रासपञ्चाध्यायीमें इसी परम त्यागकी, सबसे ऊँची समर्पणकी लीलाका वर्णन है। उनमें आपसमें कोई भेद है ही नहीं। लोगोंको दिखानेके लिये वे दो बने हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही दो बने हुए हैं। पर इसमें यह दिखाया गया है कि कितना ऊँचे-से-ऊँचा त्याग होना चाहिये—भगवान्‌की ओर जाना चाहता है उस साधकमें। इसमें उल्टी बात है। लोग देखते हैं, इसमें भोग-ही-भोग है, पर वस्तुतः है इसमें केवल त्याग-ही-त्याग। कहीं भोग है ही नहीं इसमें। इसी त्यागसे आरम्भ होता है यह और त्यागमें ही इसका पर्यवसान है। उनका सब कुछ त्याग होकर श्रीकृष्णमें विलीन हो गया। उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनके सारे काम, उनकी कुल चेष्टाएँ

श्रीकृष्ण-सुखमें विलीन हो गयीं। इस प्रकारका त्यागमय जीवन है श्रीगोपीजनोंका।

हम सब भी गोपी बन सकते हैं। यदि किसीको गोपी बनना हो तो तीन बात करनी है उसको। (१) अपने मनसे जगत्को निकाल देना। (२) भगवान्को देनेके लिये मनको तैयार कर देना। उनसे कहना है कि ले जाओ इस मनको नाथ! और (३) किसी भी कारणसे, किसी भी हेतुको लेकर, कहींपर भी अटकनेकी भावना न रहे। कहीं भी अटके नहीं। भगवान्को मन देनेके लिये तैयार कर ले और मनको जगत्से खाली कर ले।

जहाँतक हमारे मनमें विषय भरे हैं और विषयोंको मनसे निकालकर भी जहाँतक हम ज्ञान-विज्ञानकी ओर जाते हैं तो हम अपना मन भगवान्को सौंपना नहीं चाहते। ऐसी स्थितिमें भगवान् लेते भी नहीं हमारे मनको। मन अमन होता है। मन मिट जाता है, मर जाता है पर भगवान्का नहीं होता। और तीसरी बात है, जो सबके लिये आवश्यक है, मनका कहीं न अटकना, यह अटकना गोपीमें नहीं है। गोपियाँ कहीं अटकीं नहीं। न गहनेने अटकाया, न कपड़ेने अटकाया, न भोजनने अटकाया, न घरवालोंने अटकाया, न मान-प्रतिष्ठाने अटकाया। एकको उसके पतिने अटकाया। वह पहले ही पहुँच गयी। आगे बात आती है।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावना युक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥

एक गोपीको उसके पतिने रोका, पर वह पहले पहुँच गयी। प्राणोंको देकर पहुँच गयी।

अतएव आजकी जो शारद्-पूर्णिमाकी रात्रि है, ऊँची बातोंको छोड़ भी दें तो इतनी बात तो समझनी ही है कि यह रात्रि साधनाके लिये बड़े ऊँचे आदर्शको बतलानेवाली रात्रि है। इस दिन साधनाकी परिपूर्णताका जो परम फल होता है, वह प्राप्त किया श्रीगोपाङ्गनाओंने। कैसे किया? बड़ी विलक्षण बात है। इसमें श्रीकृष्णसे लाभ उठानेके लिये गोपिकाएँ नहीं दौड़ पड़ी थीं। उन्होंने अपने हृदयमें विशुद्ध प्रेमामृत भर रक्खा था। उस प्रेमामृतकी आकाङ्क्षा भगवान्‌को हो गयी। उस निष्काममें, परम अकाममें, पूर्णकाममें उस पवित्र मधुर प्रेम-रसास्वादनकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। अतएव वे भगवान्‌को सुख देने गयीं, सुख लेने नहीं। यही सार है गोपी-प्रेमका। जहाँतक हम भगवान्‌के द्वारा सुख चाहते हैं, वहाँतक हम भगवान्‌के भक्त नहीं हैं। हम भोगोंके दास हैं, सुखके दास हैं। एक प्रेमी ही जगत्‌में ऐसा है जो भगवान्‌को सुख देना चाहता है, और कोई है ही नहीं। बड़े-बड़े भक्त भी भगवान्‌से सुख चाहते हैं। वे भी कहते हैं—'प्रभु! समीप ही रहें। आपके अथवा आपके लोकको ही प्राप्त कर लें। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य ही प्राप्त कर लें। दर्शन देते रहो—हमको।' पर ये प्रेमी भक्त तो कहते हैं कि दर्शन न देनेसे यदि तुमको सुख होता हो, तो दर्शन भी मत दो। कभी मत दो, नहीं चाहिये। भोगकी तो बात ही

नहीं। तुम्हारा दर्शन भी यदि तुम्हें सुखकर न हो तो हमें नहीं चाहिये। हमें चाहिये केवल तुम्हारा सुख।' इस प्रकार भगवान्‌को सुख देनेवाले एकमात्र प्रेमी भक्त ही होते हैं। जिज्ञासु साधक भी मुमुक्षा—मोक्ष चाहता है। कहता है—'महाराज! हमको मोक्ष दे दो। छुटकारा मिल जाय बन्धनसे।' सकामीकी तो बात ही नहीं होती यहाँ। भोगोंको चाहनेवाले हमलोग तो नरकके कीड़े हैं, उनकी तो बात ही नहीं है।

प्रेमी भक्त भगवान्‌को देते हैं। कुछ लेनेकी, कुछ माँगनेकी तो कल्पना ही नहीं। गोपियाँ गयीं वहाँपर भगवान्‌को देनेके लिये; क्योंकि भगवान्‌को कुछ देकर उन्हें सुख मिलेगा। जब भगवान्‌को कुछ दिया, भगवान्‌को सुखी देखा तो अपनेको परम सुखी अनुभव किया और इसी प्रकार इनको परम सुखी देखकर भगवान्‌को भी परम सुख होता है। एक-दूसरेको सुखी बनाकर सुखी होना, इसीका नाम 'रास' है। यह रास नित्य चलता है। यह रासपूर्णिमा त्यागकी पराकाष्ठाका रूप बतानेवाली है। प्रेमके साध्यका रूप बतानेवाली है। हम तो साधक भी नहीं बन सके अभीतक। बल्कि बाधक हैं; क्योंकि भोगोंमें रहनेवाला तो अपने श्रेयमें बाधा ही देता है।

अपने सारे भोगोंसे हटाकर, सारे भोगोंका परित्याग करके, भगवान्‌के पवित्र आह्वानपर गोपियाँ अपने-आपको ले गयीं वहाँ और भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दमें पहुँचकर उन्होंने भगवान्‌को सुख-दान दिया। यही रासका रूप है। यों तो रासकी बड़ी-बड़ी बहुत बड़ी-बड़ी ऐसी-ऐसी बातें हैं जो कभी चुकतीं ही नहीं और उनमें भी आजका तो ऐसा भाव है, जिसके लिये केवल यही कहा जा सकता

है कि यह एक बहुत ऊँचा भाव है। इसके अन्तर्गत भी बहुत ऊँचे-ऊँचे दूसरे भाव भी हैं। जिन भावोंको कहनेके लिये न तो अवकाश है और न हम जानते ही हैं। इसलिये इतनी-सी बात जो अपने लिये आवश्यक है कि भगवान्‌के लिये त्याग करें—संसारकी आसक्ति, ममताका त्याग करें। सारी आसक्ति, सारी ममता एकमात्र भगवान्‌में प्रतिष्ठित हो जाय। इतना ही हम गोपी-भावसे सीख लें। इतना ही यदि हम राससे ले लें, तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो जाय। रास-मण्डलमें तो कभी भगवान् ले जायँगे, कहीं उनकी इच्छा होगी, श्रीराधारानीकी कृपा होगी, वे किसी मंजरीको नियुक्त कर देंगी तो वे स्वयमेव ले जायँगी। अपने पुरुषार्थसे हम नहीं जा सकते; क्योंकि हमारा पुरुषार्थ जहाँ समाप्त हो जाता है, वहींसे प्रेमका पाठ प्रारम्भ होता है। जहाँ चारों पुरुषार्थोंकी सीमा इस ओर ही रह जाती है, वहाँसे प्रेमकी सीमा प्रारम्भ होती है। यही गोपी-प्रेम है—और रास तो उसका एक प्रत्यक्ष पूर्ण स्वरूप है। पूर्णतम प्रेम तो कहा ही नहीं जा सकता। प्रेम पूर्ण होता ही नहीं है। इस राज्यमें तो सारा-का-सारा अपूर्ण ही रहता है। जितना भी मिला, उतना ही थोड़ा होता है। इसमें प्रवेश करनेवालोंके लिये श्रीगोपीजनोंका आचरण परम आदर्श वस्तु है। सारे जगत्‌को भूलकर, सारे जगत्‌को त्यागकर, केवल श्रीकृष्णगृहीतमानसा होकर वे अपनेको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर देती हैं, श्रीकृष्णको सुखी बनानेके लिये और यह विलक्षण भाव ही गोपीभाव है।

भक्तका एकाङ्गी प्रेम

भगवान्‌के सच्चे भक्त भगवान्‌से लौकिक या पारलौकिक सुख नहीं चाहते। वे तो चातककी भाँति केवल प्रेम ही करते हैं और उन्हें किसी भी अवस्थामें, कैसी भी बुरी स्थितिमें अपने प्रियतम भगवान्‌से किसी प्रकारकी शिकायत नहीं होती। उनमें भगवान्‌के प्रति एकाङ्गी प्रेम होता है। वे सुख-दुःख सभीमें भगवान्‌के कोमल कर-कमलका संस्पर्श पाते हैं और इसीमें परम प्रसन्न रहते हैं। न उन्हें शिकायत है, न कामना है, न रंज है, न दुःख है। वे मस्त हैं और इसीमें सुख तथा गौरवकी अनुभूति करते हैं। भगवान्‌के एक भक्तने अपनेको भगवान्‌के द्वारा परित्यक्ता सती पत्नीके रूपमें देखकर कहा है—

सच्ची सुहागिन, मैं सुहागिन, हूँ मेरे भर्तारकी।
भूखी हूँ मैं अपनत्वकी, भूखी नहीं सत्कारकी॥
मुझको वे अपनी जानते हैं, याद रखते नित मुझे।
इसीसे डरते नहीं हैं, दुःख देनेमें मुझे॥

हैं सताते वे मेरे प्यारे मुझे दिल खोलकर।
हूँ सदा उनकी, हिचकते हैं नहीं यह बोलकर॥
दुःख देनेमें मुझे यदि उनको मिलता तनिक सुख।
यही तो सौभाग्य मेरा, यही मेरा परम सुख॥
चाहती हूँ मैं नहीं उनसे निजेन्द्रिय-सुख कभी।
इसीसे सुखदायिनी हैं हरकतें उनकी सभी॥
उनकी अपनी चीजपर उनका सदा अधिकार है।
मारें, ठुकरायें, सतायें, चूँकि वे भर्तार हैं॥
अपने मनसे बर्तते, कर भोगमें वञ्चित मुझे।
यही तो आत्मीयता है, इसीका गौरव मुझे॥*

उसके मनमें इसीका परम संतोष होता है कि मेरे प्रियतम भगवान् मुझे स्मरण तो करते हैं, कैसे ही करें। वह किसी समय किसी प्रकार भी प्रत्याशा नहीं करता, अपने ही भावमें मस्त रहता है। प्रियतम भगवान्का दोष तो उसके चित्तमें कभी आता ही नहीं—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न ओख॥

पर ऐसा भक्त क्या दुखी रहता है? वह तो अपने प्रियतम भगवान्के हृदयका अधिकारी होता है। भगवान् उसे लोभीके धनकी भाँति सदा अपने हृदयमें ही बसाते हैं।

---

* इस प्रसङ्गको पढ़कर संसारमें कोई पति यह न समझे कि मैं इस प्रकार अपनी पत्नीको सतानेका अधिकारी हूँ, यों समझनेवाला भ्रममें रहेगा और पापके गड्ढेमें ही गिरेगा।

श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण

श्रीश्रीकृष्णो जयति जगतां जन्मदाता च पाता
हर्ता चान्ते हरति भजतां यश्च संसारभीतिम् ।
राधानाथः सजलजलदश्यामलः पीतवासा
वृन्दारण्ये विहरति सदा सच्चिदानन्दरूपः ॥
ज्योतीरूपं परमपुरुषं निर्गुणं नित्यमेकं
नित्यानन्दं निखिलजगतामीश्वरं विश्ववीजम् ।
गोलोकेशं द्विभुजमुरलीधारिणं राधिकेशं
वन्दे वृन्दारकहरिहरब्रह्मवन्द्याङ्घ्रिपादम् ॥
नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
वर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
राधामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

आज पवित्रतम श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव है। भाद्रपदके अँधियारे कृष्णपक्षके मध्यकी अँधेरी अष्टमीको, अँधेरी मध्यरात्रिके घोर तमोऽभिभूत कालमें, तमोमय काले कर्म करनेवाले क्रूरहृदय कंसके अन्धकारपूर्ण कारागारमें अद्वितीय परमोज्ज्वलतम परमेश्वर श्रीकृष्णका कृष्णरूपमें आविर्भाव हुआ था। उनके प्रकट होनेके साथ ही कारागारकी उस अन्धकारमयी कालकोठरीमें दिव्य प्रकाश छा गया था। साथ ही विश्वके समस्त सत्पुरुषोंके हृदय, जो तमोमयी निराशासे आच्छादित थे, अकस्मात् अलौकिक प्रकाशसे सुदीप्त हो

उठे तथा तमाम प्रकृतिमें उल्लासकी उज्ज्वल तरङ्गें नाचने लगी थीं। वसुदेव-देवकी, जो मन, प्राण, बुद्धि, आत्माकी सारी स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंसे शून्य-से होकर क्रूर कंसके कारागारमें सर्वथा परतन्त्र, सब ओरसे निराश, विषण्णहृदय हो श्रृङ्खलाबद्ध पड़े थे और सब प्रकारसे परित्राण करनेवाली एकमात्र दिव्य परम प्रकाश-स्वरूपा महान् शक्तिको अन्तस्तलकी करुण ध्वनिसे पुकार रहे थे एवं उसकी एकान्त आकुल प्रतीक्षा कर रहे थे, आज इस चिरभिलषित अद्भुत प्रकाशके परमोदयसे परमाह्लादित हो गये। वास्तवमें जब व्यष्टि या समष्टि मानव इस प्रकार शक्तिशून्य हो, सब ओरसे सर्वथा निराश होकर अनन्यभावसे उस एकमात्र त्राणकर्ता परमाश्रयको पुकारता है, तभी वे सहज-सुहृद्, सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर भगवान् स्वयं प्रकट होकर उसका परित्राण करते हैं। उस समय असुरभाराक्रान्त धरादेवीके सभी साधु पुरुष पीड़ित थे, इसीसे सर्वत्राणकारी भगवान्का दिव्य प्राकट्य हुआ था।

'यह दिव्य प्राकट्य क्यों होता है?'

'साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश तथा धर्मकी भलीभाँति स्थापनाके लिये'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय ....॥

'कब होता है?'

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है'—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः
अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति ।

'प्राकट्य किनका होता है ?'

'जो अजन्मा हैं, अविनाशी हैं तथा चराचर प्राणियोंके ईश्वर हैं, उनका'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

'वे कैसे प्रकट होते हैं ?'

'अपनी प्रकृति—निज स्वभावको अपने अधीन करके—'स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय' । वे भगवान् स्वरूपभूता मायासे—'आत्ममायया' अपनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छासे प्रकट होते हैं ।—'

उनका यह प्राकट्य 'प्रकृतिस्थ जीवोंकी भाँति कर्मपरवश नहीं होता, न उनका कोई कर्म ही किसी प्राकृतिक संस्कार-विशेषकी प्रेरणासे होता है । उनका जन्म (प्राकट्य) और उनके सभी कर्म दिव्य भगवत्स्वरूप ही होते हैं । यहाँतक कि उनके इन 'दिव्य जन्म-कर्मोंके रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यका जन्म होना बंद हो जाता है । वह शरीर त्यागकर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, भगवान्‌को ही प्राप्त होता है । इसकी घोषणा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने इन दिव्य शब्दोंमें की है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'जिनका परित्राण किया जाता है, वे साधु कौन हैं ?'

(क) वर्णाश्रमधर्म तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सामान्य मानवधर्मोंका पालन करनेवाले, संयम-सदाचार-परायण, सर्वभूतहितमें रत, वैराग्य-ज्ञानयुक्त दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष।

(ख) भगवान्‌के प्रत्यक्ष मङ्गल-दर्शनके लिये व्यथित, तपश्चर्या करनेवाले तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें लगे हुए भगवद्भक्त।

(ग) प्रेम-लीलामय परम प्रेमास्पद भगवान्‌के पवित्र प्रेम-लीलारस-आस्वादनके लिये परमोत्सुक भुक्ति-मुक्ति-त्यागी परम प्रेमीजन।

'दुष्कृत कौन है ?'

(क) साधुपुरुषोंपर अत्याचार करनेवाले, हिंसा, असत्य, चोरी, छल, व्यभिचार आदि दुर्विचार तथा दुष्कर्मोंमें लगे हुए, शास्त्रविरुद्ध अन्यायाचरण करनेवाले, निषिद्ध भोगोंमें आसक्त आसुरी सम्पत्तिवान् उच्छृङ्खल मनुष्य।

(ख) भगवान्‌का विरोध तथा खण्डन करनेवाले असदाचारी, यथेच्छाचारी नास्तिक व्यक्ति।

(ग) विशुद्ध प्रेमके बाधक उच्च-नीच भोग-कामनाओंके भाव तथा उनके अधिष्ठाता पुरुषविशेष।

ऋषिस्वभावसम्पन्न, सत्त्वगुण-विशिष्ट, सदाचारी सत्पुरुषोंका तथा उनके पवित्र कार्योंका अत्यन्त ह्रास हो जाना 'धर्मकी ग्लानि' है और दुष्कृतों—दुराचारी लोगोंके द्वारा दुराचार,

अनाचार, अत्याचार, असदाचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार आदिका बढ़ जाना ही 'अधर्मका अभ्युत्थान' है।

इसी अधर्मके नाश, साधुपरित्राण, दुष्कृतिविनाश और धर्मसंस्थापनके लिये भगवान्का प्राकट्य होता है। परंतु साधारणतया सामान्य अधर्मनाश, धर्मसंस्थापन और साधुत्राण तथा दुष्कृत-विनाशके लिये प्रायः भगवान्का अवतार नहीं होता। ये कार्य तो निरन्तर भगवान्की सृष्टि, पालन, संहार करनेवाली शक्तिके द्वारा होते ही रहते हैं। भगवान्का अवतार तो विशेष स्थितिमें होता है। ऐसे साधुओंके लिये, जिनका भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए बिना अदर्शनजनित भयानक दुःख दूर नहीं हो सकता और ऐसे असुर-राक्षसोंके लिये, जिनका भगवान्के अपने हाथ मारा जाना सुनिश्चित या अनिवार्य होता है, भगवान्को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यों भगवान्के दर्शनकी प्रबल इच्छाजनित दुःखसे दुखी भक्तोंको दर्शन देकर उनका परित्राण करना और हिरण्यकशिपु, रावण आदि शाप या वरदान-प्राप्त दुष्कृतोंका अपने हाथों वध करना—भगवान्के अवतारद्वारा ही सिद्ध हो सकता है। पर इन कार्योंके लिये भी भगवान्के पूर्णावतार या स्वयं भगवान्के प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं भगवान्का प्राकट्य तो होता है भुक्ति-मुक्तित्यागी, अनन्य उत्कण्ठारूप विरहतापसे परम संतप्त प्रेमी भक्तोंको दर्शन देकर तथा परम मधुर दिव्य लीला-प्रमोद-रसका आस्वादन करवाकर उनका उस दुःखसे परित्राण करनेके तथा लौकिक भोग-काम-धर्मके स्थानपर पवित्र प्रेमधर्मकी संस्थापनाके

लिये; विशिष्ट असुरवध, विशिष्ट साधु-परित्राण तथा साधारण धर्म-संस्थापनके लिये नहीं।

'स्वयं भगवान्'के प्राकट्यकालमें भगवान्के अंश-कला आदि अवतारोंका उन्हींमें समावेश रहता है, अतएव वे सब अपने विभिन्न ऐश्वर्यप्रधान लीला-कार्य भगवान् श्रीकृष्णस्वरूपसे ही करते रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'एते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' अतएव उनके द्वारा सभी अवतारोंके लीला-कार्य सहजरूपमें हो सकते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के अनुसार तो भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकसे भूमिपर अवतरण करनेके समय भगवान् महाविष्णु, विष्णु, नारायण ऋषि आदि सभी आकर उन राधिकेश्वर-विग्रहमें विलीन हो जाते हैं और यहाँ उन्हींके द्वारा अपना लीला-कार्य करते हैं। वैसे तो 'अंशी' भगवान् श्रीकृष्णमें सभी 'अंशों'का सदा-सर्वदा ही समावेश रहता है। इस जगत्में जब स्वयं अंशी 'स्वयंरूप' श्रीकृष्णका प्राकट्य होता है, तब उन-उन अंश-कलारूप अवतारोंके कार्योंकी उनमें अभिव्यक्ति होती है और जब विभिन्न कालमें विभिन्न लीला-कार्यके लिये उन-उन अंश-कला-अवतारोंका प्राकट्य होता है, तब वे स्वतन्त्ररूपसे अपना-अपना लीला-कार्य सम्पन्न करते हैं। स्वरूपतः सभी अवतार नित्य शाश्वत, हानोपादानरहित और प्रकृतिसे पर एक ही परमात्म स्वरूप हैं। भगवान्के किसी अवतार-स्वरूपमें भगवत्ताकी या भागवती-शक्तिकी न्यूनता नहीं है। भगवान् सदा, सर्वत्र, सर्वथा परिपूर्ण

हैं। अवतारोंमें शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही 'अंशी' और 'अंश' भावमें कारण है। सभी अवतारोंमें पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। जिस अवतार-लीलामें जितनी शक्तिका प्रकाश प्रयोजनीय होता है, उतना ही प्रकाश होता है। जैसे अग्निमें समस्त वस्तुओंके दाहकी शक्ति है, पर जहाँ उसके सामने छोटा-सा काष्ठखण्ड होता है, वहाँ वह उसीको जलाती है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्निकी शक्ति उतने ही काष्ठको जलानेमें सीमित है। इसी प्रकार भगवान्‌के अवतारोंको देखना चाहिये।

लीलाभेदसे भगवान्‌के अवतार तीन प्रकारके होते हैं—

(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार और (३) लीलावतार।

(१) पुरुषावतारके तीन भेद हैं—

(क) प्रकृतिका ईक्षण करनेवाले कारणार्णवशायी महाविष्णु। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
(१। ३। १)

"भगवान्‌ने आदिमें लोकसृष्टिके निर्माणकी इच्छा की और उन्होंने महत्तत्त्व आदिसे निष्पन्न 'पुरुष' रूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं।" भगवान्‌का चतुर्व्यूह है—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न

और अनिरुद्ध । उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवान्' शब्द 'श्रीवासुदेव'के लिये प्रयुक्त है और आदिदेव नारायण भी यही हैं।

आद्य पुरुषावतार उपर्युक्त चतुर्व्यूहमें 'श्रीसंकर्षण' हैं। 'कारणार्णवशायी' तथा 'महाविष्णु' इन्हींके नामान्तर हैं। यही 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' रूपमें पुरुषसूक्तमें वर्णित हैं। आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं। (ख) द्वितीय पुरुषावतार चतुर्व्यूहमें 'श्रीप्रद्युम्न' हैं। यही गर्भोदशायी हैं। इन्हींके नाभिकमलमें हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव होता है। (ग) तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे व्यष्टि जीवमात्रके अन्तर्यामी हैं।

(२) गुणावतार भी तीन हैं—(क) विश्वके सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्मा, (ख) विश्वके पालनकर्ता क्षीरोदशायी श्रीविष्णु और (ग) विश्वके संहारकर्ता श्रीमहेश्वर। इनका आविर्भाव गर्भोदशायी द्वितीय पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्नसे है। एक ही गर्भोदशायी परमात्मा विश्वकी स्थिति, पालन और संहारके लिये (सत्त्व, रज, तम) तीन गुणोंसे युक्त हैं; परंतु पृथक्-पृथक् अधिष्ठाताके रूपमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संज्ञाको धारण करते हैं।

(३) लीलावतार—"जिस कार्यमें किसी भी प्रकारका आयास-प्रयास न हो, जो सब प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अधीन हो और अनन्त प्रकारकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण नित्य-नवविलास और उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त हो, उस कार्यको 'लीला' कहते हैं।" इस प्रकारकी लीलाके लिये भगवान्के जो अवतार

होते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। ऐसे लीलावतार २५ हैं। इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त चौदह 'मन्वन्तरावतार' और चार 'यज्ञावतार' हैं। यों कुल मिलाकर ४३ हैं। भगवान्‌के उपर्युक्त सभी अवतार (१) 'आवेश', (२) 'प्राभव', (३) 'वैभव' और (४) 'परावस्थ' रूपसे विभक्त हैं।

'परावस्थ' अवतारोंकी अपेक्षा 'वैभवावतारों'में शक्तिकी अभिव्यक्ति कम होती है और 'प्राभव' अवतारोंमें 'वैभवावतारों'-की अपेक्षा न्यूनता होती है। 'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं तथा वैभवावतार २१ माने गये हैं।

सर्वोपरि 'परावस्थ' अवतार तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। ये षड्गुणपरिपूर्ण हैं—

'नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्।'

—और समान 'परावस्थ' के हैं। यही तीनों मुख्य अवतार हैं। अतएव इनमें न्यूनाधिक तारतम्यकी कल्पना करना एक प्रकारसे बड़ा अपराध है। वास्तवमें लीलावतारोंका तत्त्व, महत्त्व तथा रहस्य अप्रमेय और अचिन्त्य हैं। लीलाकी अभिव्यक्तिके भेदसे इनके मङ्गलमय भेदकी लीला गायी जाती है। भगवान् श्रीनृसिंहमें अधिकांशमें केवल 'ऐश्वर्य'का प्रकाश है, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें माधुर्यके साथ ऐश्वर्यका 'विशेष' प्रकाश है और भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनों ही परिपूर्णतमरूपमें प्रकाशित हैं। स्वयंरूप भगवान् होनेसे श्रीकृष्ण 'अवतारी' और 'अवतार'

दोनों हैं। ये ही 'सर्वाश्रय-आश्रय' हैं। ये साक्षात् परब्रह्म, परात्पर, पुरुषोत्तम, सर्वकर्ता, अप्रमेय, आनन्दस्वरूप, अप्राकृत दिव्य-शरीरी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वातीत, अनन्त कल्याण-गुणगणस्वरूप, नित्य निर्गुण, अंश-कलापूर्ण, परिपूर्णतम-स्वरूप, सर्वोद्धार-प्रयत्नात्मा, दोष-कल्पनाशून्य तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। साथ ही ये दीनबन्धु, विशुद्ध, सत्त्व, पुण्यमय, प्रेममय, दयामय, आप्तकाम, कर्मयोगी, असुरहन्ता, धर्मात्मा, वेदज्ञ, नीतिज्ञ, लोकहितैषी, न्यायशील, क्षमाशील, निरपेक्ष, मित्रमित्र, सुहृद्, ब्रह्मण्य, वदान्य, उदार, शास्ता, अत्याचारनाशक, अहंता-ममतारहित, तपस्वी, शरणागतवत्सल एवं शक्तिमान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी एक विलक्षण विशेषता यह है कि ये आदर्श मानव भी हैं। प्राकट्यके समयसे ही इनकी परमाश्चर्यमयी भगवत्ताका प्रकाश हो गया था। उस समयके व्यास-नारद-सरीखे महर्षि देवर्षि, मुनि मार्कण्डेय-कश्यप-परशुरामसदृश ऋषि-मुनि-प्रतापी, भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्मक्षत्र-शक्तिसम्पन्न ज्ञानी तथा धर्मज्ञ, विदुर-जैसे साधुस्वभाव नीतिज्ञ, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, अर्जुन-सहदेव-जैसे विवेकी शूरवीर, कुन्ती-गान्धारी तथा द्रौपदी-जैसी सन्नारियाँ—सभी भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् परमात्मा परमेश्वर परब्रह्म भगवान् मानते थे और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेमें गौरव, पुण्य तथा सौभाग्यका अनुभव करते थे। महाभारत और श्रीमद्भागवतमें ऐसे असंख्य प्रसङ्ग हैं। यहाँ कुछ चुने हुए प्रसङ्गोंके वाक्य दिये जाते हैं—

श्रीभीष्मपितामह—

(१)

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन, अकृतव्रण आदि ऋषियों, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मणों, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, वसुदेव, द्रुपद, अश्वत्थामा, द्रुम, भीष्मक, शल्य तथा कर्ण आदि वयोवृद्धों तथा शूरवीरोंकी उपस्थितिमें पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे असंतुष्ट तथा क्षुब्ध शिशुपालके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए पितामह कहते हैं—

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥
(महाभारत, सभापर्व ३८ । ९)

'महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है; ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ।'

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ।
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥
वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥
ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः॥
(१४-१५; १७-१८; २०, २२)

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
(२३, २४, २५)

'चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है। श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो। वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर, जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके

परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं । दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि, और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं । श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य' स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं; इसीलिये हमने इन अच्युतकी अग्रपूजा की है ।

'भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं । यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है । ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः ये भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं । महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ।'

(२)

इसी प्रसङ्गमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा-का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ।
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥

'ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं। इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं।'

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परः स्थितः॥
सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः॥
ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः॥
अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एव भगवान् प्रभुः।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः॥
एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम्॥
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान्॥

'इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदिकारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें स्थित) हैं। देवाधिदेव भगवान्

नारायण चतुर्मुख भगवान् (के रूपमें ये ही) ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं। ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं। जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है। युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है। ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और लीलावश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ।'

तदनन्तर वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी कथा संक्षेपमें कहकर अन्तमें बतलाते हैं—

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया॥
स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत्॥
कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान्।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः॥

"वासुदेव"के नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी

इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है। ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी 'मधुसूदन' नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है। मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार *भी लोकहितके लिये ही हुआ है।"*

(२)

(भीष्मपर्व, अ० ५९)

महाभारत-युद्धके तीसरे दिन भीष्मपितामहने घोर संहार आरम्भ कर दिया। पाण्डवपक्षमें हाहाकार मच गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भीष्मके संहारकी इच्छा की और सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शन हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। उनके भयानक पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँप उठीं—'संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम्।' मानो समस्त जगत्का संहार करनेको उद्यत उठी हुई प्रलयाग्निके समान भगवान्को चक्र हाथमें लिये वेगसे आते देख, तनिक भी भय या घबराहटका अनुभव न करते हुए 'इच्छामृत्यु' परम ज्ञानी श्रीभीष्म अपने धनुषको खींचते हुए अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करते हुए बोले—

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे।

प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥
त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके ।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात् ॥ ९८ ॥

'आइये, आइये, देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है । हाथमें चक्र धारण किये हुए माधव ! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये । श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा । अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर ! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी ।'

उसी क्षण अर्जुन पीछेसे दौड़कर भगवान्‌के चरणोंको पकड़-कर उन्हें लौटा ले गये ।

(४)

(भीष्मपर्व, अ० १०६)

इसी प्रकार नवें दिन पुनः भीष्मजीके द्वारा पाण्डव-सेनामें प्रलयका-सा दृश्य उपस्थित देखकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें केवल चाबुक लिये बारंबार सिंहनाद करते हुए भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े । आज भी भीष्मने कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख तनिक भी

भयभीत न हो, अपने विशाल धनुषको खींचते हुए व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके कहा—

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ६४ ॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥ ६५ ॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ॥ ६६½ ॥

'आइये! आइये! कमलनयन! देवदेव! आपको नमस्कार है। सात्वतशिरोमणे! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये। देव! पापरहित श्रीकृष्ण! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा। गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। अनघ! मैं आपका दास हूँ। आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।'

(५)

पितामह भीष्म दुर्योधनको श्रीकृष्णकी महिमा समझाते हुए कहते हैं—

(भीष्मपर्व, अ० ६६)

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ॥ ३९ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ॥ १७ ॥
एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम् ।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ॥ २८ ॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम् ।)
यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता ।
कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५॥

'तात ! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे । उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं । भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है । भरतकुल-भूषण ! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी, प्रभु, परमात्मा, लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ । सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं ?'

'ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं ।

सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।'

(भीष्मपर्व, अ० ६७)

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत्।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥
नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात्।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः॥ १२ ॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥
एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरम् गुरुम्।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २१ ॥
यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत्।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥
स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

'इन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया। उनसे सनातन देवाधिदेव

नारायणका प्रादुर्भाव हुआ। नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं।'

"नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें 'हृषीकेश' कहते हैं। इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है। जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते; भगवान् जनार्दन उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं। भरतवंशी नरेश! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है।"

(१)

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—

(वनपर्व, अ० १२)

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः॥ १७॥

'केशव! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), समस्त भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं'।

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम॥२१-२२॥

'परंतप! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचर-गुरु, सृष्टिकर्ता और अजन्मा आप ही हैं'।

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजुः॥ ३५॥

'मधुसूदन! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है?'

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥
(१० । १२—१५)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं । आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं । देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास भी ऐसे ही कहते हैं । स्वयं आप भी मेरे प्रति यही कहते हैं । केशव ! मेरे प्रति आप जो कुछ भी कहते हैं, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ । भगवन् ! आपके स्वरूपको न दानव जानते हैं, न देवता ही । भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेको जानते हैं ।'

वनमें भगवान् श्रीकृष्णसे द्रौपदी कहने लगी—

(वनपर्व, अ० १२)

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ५१ ॥
ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ॥ ५२ ॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ॥ ५४ ॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५५ ॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥

'दुर्धर्ष मधुसूदन ! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं, आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं; जैसा कि जमदग्निनन्दन श्रीपरशुरामजीका कथन है । पुरुषोत्तम ! महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं । सत्यसे उत्पन्न यज्ञ भी आप ही हैं । यह श्रीकश्यपजीका कहना है । भूतभावन ! भूतेश्वर ! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं, नारदजीने आपके सम्बन्धमें यह कहा है । नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, वैसे ही आप ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओंके साथ बार-बार खेलते रहते हैं । प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है । ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं । आप सनातन पुरुष हैं । लोक, लोकपाल,

नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा तथा सूर्य आपमें प्रतिष्ठित हैं। महाबाहो! पृथ्वीके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा समस्त जगत्‌के सारे कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित हैं।'

वनमें मुनि मार्कण्डेयजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—

(वनपर्व, अ० १८९)

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥ ५२॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम॥ ५३॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेय पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः॥ ५४॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः॥ ५५॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम्॥ ५६॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥ ५७॥

'नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन पद्मदललोचन देव भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था,

तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं। कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। ये वृष्णिकुलभूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापक अचिन्त्यस्वरूप, पुराणपुरुष श्रीहरि हैं, जिन्होंने पहले बालरूपमें मुझे दर्शन दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते दीख रहे हैं। श्रीवत्स जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, ये भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं। इन आदिदेवमय, विजयशील, पीताम्बरधारी, परमपुरुष, वृष्णिकुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे उस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है। कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और माता हैं, ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरण ग्रहण करो।'

(१)

श्रीकृष्ण-तत्त्वके ज्ञाता भक्त संजय राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ६८)

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥ ७॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ११ ॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥
कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च ।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः ।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥
तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः ।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

'एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ।'

'जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।'

'ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं । मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं । महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं । भगवान् केशव

अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल इन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे इनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ।'

(२)

राजा धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय श्रीकृष्णके कुछ नामोंका रहस्य बतला रहे हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ७०)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ ५ ॥
पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥
यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्त्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥
न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित् ।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥
हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

'कृष' धातु 'सत्ता' अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द 'आनन्द' अर्थका बोध कराता है; इन दोनो भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं । नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम 'पुण्डरीक' है । उसमें स्थित

होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा 'पुण्डरीक'—कमलके समान उनके 'अक्षि'—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम 'पुण्डरीकाक्ष' है।) दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे ही अलग होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्त्वत' है। 'आर्ष' कहते हैं वेदको। उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही ये 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं। (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वृषभेक्षण' नामकी सिद्धि होती है।) शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और 'दम' (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार 'दाम' और 'उदर' इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस

पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है।"

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः॥ १०॥
पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात्॥ ११॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते।
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्॥ १२॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।
विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते॥ १३॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।
अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः॥ १४॥

"श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं, इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं। श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य इनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं,

अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है। विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे (भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं।) वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं। वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं।"

संजयके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुनकर उससे प्रभावित हो धृतराष्ट्र स्तवन करने लगे—

(उद्योगपर्व, अ० ७१)

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं परं परेशं शरणं प्रपद्ये॥
त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधानमिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये॥
(५—७)

'जो परम सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलके सदृश सुलभ होनेवाले हैं,

जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पक्षयुक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हरनेवाले तथा विश्वके आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्य धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य एवं परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ। जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है, जो ज्ञानी नरेशोंमें प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

देवर्षि नारद श्रीयुधिष्ठिरसे श्रीमद्भागवत (७। १५) में कहते हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ ७५॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ ७६॥

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ ७७॥

"युधिष्ठिर! इस मनुष्यलोकमें तुमलोग बड़े ही सौभाग्यशाली हो; क्योंकि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यके रूपमें तुम्हारे घरमें गुप्तरूपसे निवास करते हैं। इसीसे संसारभरको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं। बड़े-बड़े महापुरुष, जिन मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म परमात्माको ढूँढ़ते रहते हैं, वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूजनीय, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं। शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे यह हैं'—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके, फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं! हम तो मौन, भक्ति तथा संयमके द्वारा ही उन श्रीकृष्णकी पूजा करते हैं। वे भक्तवत्सल भगवान् हमारी यह पूजा स्वीकार करके हमपर प्रसन्न हों।"

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(५।२९)

'अर्जुन ! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(७ । २५-२६)

'अपनी योगमायासे समावृत मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है । अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी पुरुष नहीं जानता है ।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

'धनंजय! मुझसे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
(९।४-६)

'अर्जुन! मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी योगमाया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है; क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पके द्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान।'

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९।१६-१८)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
(१०।३, ८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।२०, ४१-४२)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(१५।१२)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(१५।१५)

'क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ' यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ, स्वधा अर्थात् पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। अर्जुन! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता-माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका निवासस्थान और शरण लेनेयोग्य तथा प्रति-उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।'

'जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित और अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं।'

'अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई

जान । अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ । इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये ।'

'अर्जुन ! सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान ।'

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(१५ । १८-१९)

'मैं नाशवान् प्राणियोंसे सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर (ब्रह्म) से उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ । भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(१८ । ६४-६५)

'अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा। तू मुझमें ही मन लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके तुझसे कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

ऐश्वर्य-लीला

उपर्युक्त प्रसङ्गोंके उद्धृत वाक्योंसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्णके समकालीन महान्-से-महान् पुरुष उन्हें साक्षात् परात्पर भगवान् समझते थे और उन्होंने स्वयं भी अपनी परात्परता, भगवत्ता तथा सर्वाश्रयताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। उनके मङ्गलमय आविर्भावके समयसे अलौकिक अद्भुत चमत्कारपूर्ण लीलाएँ आरम्भ हो गयी थीं—पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, अघासुर आदिका उद्धार, गोवर्धनधारण, कालियदमन, सुरपति इन्द्रके गर्वज्वरका हरण, चतुर्मुख ब्रह्माके ज्ञानदर्प तथा मोहका शमन, माता यशोदाको मुखमें विश्वदर्शन, कुबेरपुत्रोंका वृक्षयोनिसे उद्धार, कंस-उद्धार आदि ऐश्वर्यप्रधान आश्चर्य-लीलाएँ हुईं। कुल चौंसठ दिनोंमें उन्होंने चारों वेद, छहों वेदान्त—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—आलेख्य, गणित, संगीत तथा वैद्यक; पचास दिनोंमें दसों

अङ्गोंसहित धनुर्वेद और बारह दिनोंमें हाथी, घोड़े आदिकी शिक्षामें पारङ्गत होनेकी लीला की। फिर गुरुदक्षिणामें सांदीपनि मुनिके मृतपुत्रको ला दिया।

माधुर्य-लीला

इस प्रकार भगवत्ताकी अलौकिक लीलाओंके परिपूर्ण आदर्श जीवनके साथ ही श्रीकृष्णमें मानवताके सभी चरम और परम सद्गुणोंका पूर्ण प्रकाश था। श्रीयशोदा, रोहिणी तथा अन्यान्य मातृस्थानीया वात्सल्यरसमयी गोपदेवियोंको पुत्र-सुखप्रदान, सखाभावसे गोपबालकोंके साथ सम्भ्रमरहित निःसंकोच क्रीडा, वत्स-गोचारण, गोपाङ्गनाओंके साथ पवित्र मधुर लीला, मधुर-मुरली-वादन आदि व्रजकी मधुर लीलाएँ प्रसिद्ध हैं।

परस्परविरोधी गुण

पिता-माता वसुदेव-देवकीकी सेवा करना और उन्हें ज्ञानोपदेश देना, पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें समागत अतिथियोंके चरण-प्रक्षालन करना और उसी यज्ञमें अग्रपूजन—अर्घ्य स्वीकार करना, अर्जुनका रथ हाँकना और वहीं महान् आचार्य तथा साक्षात् भगवद्रूपसे गीताका उपदेश देना, नारदादि ऋषियोंका पूजन करना और साथ ही उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करना प्रभृति परस्परविरोधी गुणोंका भगवान् श्रीकृष्णमें एकत्र समावेश प्रत्यक्ष था।

आदर्श मानवता तथा सर्वगुणसम्पन्नता

श्रीकृष्ण गानविद्या तथा नृत्यकलाके निपुण ज्ञाता थे। महान् योगीश्वरेश्वर तथा योगेश्वरेश्वर थे। विलक्षण वाग्मी थे—इसीसे

जब आप पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर कौरव-सभामें गये थे, तब हजारों-हजारों ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी ऋषि-महर्षि-मुनि आपका भाषण सुननेके लिये अपने एकान्त आश्रमोंको त्यागकर वहाँ एकत्र हुए थे। श्रीकृष्ण दीन-दुखी-दुर्बलोंके सच्चे सेवक तथा हितैषी थे। राजप्रासादके स्वादिष्ट छप्पन भोगका परित्याग कर विदुरजीकी कुटियामें स्वयं जाकर विदुरपत्नीके दिये हुए साग-सब्जी या केलेके छिलकोंका भोग लगाना, सुदामाके चिउरोंको मुट्ठी भरकर खड़े-खड़े फाँक जाना, मिथिलाराज बहुलाश्वके साथ ही गरीब ब्राह्मण श्रुतदेवके घरका आतिथ्य स्वीकार करना आदि आपके आदर्श लीलाचरित्र हैं।

आदर्श राजनीतिज्ञता

भगवान् श्रीकृष्णके समान आदर्श तथा कुशल राजनीतिज्ञ तो कोई हुए ही नहीं। उनकी राजनीति-निपुणता तथा पवित्र राजनीतिज्ञताकी कहीं कोई उपमा नहीं है। उसमें आदर्श त्याग, न्याय, सत्य, दया, उदारता, यथार्थ लोकहित तथा विलक्षण जनकल्याण आदि सद्भावोंका पूर्ण विकास है। उनकी राजनीति पाशविकता और आसुरभावका नाश करके सर्वहितकारिणी विशुद्ध मानवता तथा दैवीभावका संस्थापन करनेवाली है। उसमें कहीं भी व्यक्तिगत स्वार्थ, नीच महत्त्वाकाङ्क्षा, नीचाशयता, अभिमान, द्वेष, अधिकारमद, कुर्सीका मोह, ईर्ष्या तथा भोग-प्रधानताको स्थान नहीं है। 'इस लोकमें सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा 'परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति' उसका अमोघ फल है।

भगवान् श्रीकृष्ण बड़े-बड़े सम्राटोंके अधिपति तथा पूज्य हैं। न्यायपूर्ण धर्मप्राण आदर्श राज्यों तथा राजाओंके कुशल निर्माता हैं, पर स्वयं किसी भी पदपर आसीन नहीं हैं; वे सदा ही जनसेवक हैं। उनकी राजनीतिको आदर्श मानकर उसे ग्रहण किया जाय तो आज जिस द्वेष-दम्भपूर्ण परोत्कर्ष-असहिष्णु, पदलोलुपता-प्रधान, नीचता तथा क्षुद्र वञ्चस्वार्थसे पूर्ण जघन्य राजनीतिके कारण सारे जगत्मे जो घोर मनोमालिन्य, पाशविक तथा आसुरिक कलह, बढ़ती हुई अशान्ति, जनसाधारणकी भयभीत स्थिति तथा विध्वंसक शस्त्रास्त्रोंके निर्माणमें विज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है, वह तत्काल दूर होकर जगत्में शान्तिस्थापन तथा मानवजातिका कल्याण हो सकता है।

हमारा यह परम सौभाग्य है कि हमें आज भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यपर भगवान्के दिव्य स्मरण करने तथा भगवान्के गुण-महत्त्वकी मङ्गल-चर्चा करनेका सुअवसर मिला है। जगत्का भी यह परम सौभाग्य है कि उसे भगवान् श्रीकृष्णके लीलाचरित्रका आदर्श उपलब्ध है। हमारा परम कर्तव्य है कि हम भगवान् श्रीकृष्णका भजन-स्मरण करें, उनके श्रीचरणोंमें मन लगावें और अपने-अपने अधिकार तथा रुचिके अनुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग, सतत नाम-गुण-कीर्तन, सर्वकालमें उनका अखण्ड स्मरण, प्रीतिपूर्वक अनन्य भजन, उनके अपने आदर्शके अनुसार निष्कामकर्मका अनुष्ठान, उनका स्वरूप समझकर प्राणीमात्रकी स्वकर्मके द्वारा सेवा एवं अनन्य शरणागति आदिके

द्वारा उनको संतुष्ट करें और उनकी कृपासे मानव-जीवनको सफल बनायें। कम-से-कम प्रेमपूर्वक उनकी दिव्यलीलाओंका अधिक-से-अधिक श्रवण, गायन, स्मरण करके अपने तन-मन-वाणीका सदुपयोग करें। देवी कुन्तीजीने तो भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका यही प्रयोजन बतलाया है—

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
(श्रीमद्भा० १।८।३५-३६)

'इस संसारमें लोग अज्ञान, कामना तथा कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं। उन लोगोंके लिये श्रवण तथा स्मरण करने योग्य लीला करनेके लिये ही आपने अवतार लिया है। भक्तजन बार-बार आपकी मधुर दिव्य लीलाओंका श्रवण, गायन, कीर्तन तथा स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं और वे अविलम्ब इस जन्म-मरणके प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके श्रीचरणकमलोंका दर्शन प्राप्त करते हैं।

जय वसुदेव-देवकीनन्दन, जय श्रीनन्द-यशोदालाल।
जय यदुनायक गीतागायक, जय गोपीप्रिय जय गोपाल॥
बोलो नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

श्रीराधा-माधवका मधुर रूप-गुण-तत्त्व

श्रीराधां परमाराध्यां कृष्णसेवापरायणाम् ।
श्रीकृष्णाङ्गसदाध्यात्रीं परमाभक्तिरूपिणीम् ॥

स्वेदकम्पकण्टकाश्रुगद्गदादिसंचिता-
मर्षहर्षवामतादिभावभूषणाञ्चिता ।
कृष्णनेत्रतोषिरत्नमण्डनालिदाधिका
मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका ॥
या क्षणार्धकृष्णविप्रयोगसंततोदिता
नैकदैन्यचापलादिभाववृन्दमोदिता ।
यत्नलब्धकृष्णसङ्गनिर्गताखिलाधिका
मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका ॥

आज श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सवका मङ्गल दिवस है । श्रीराधाके तीन रूप हैं—

१. शक्तिमान् 'रस' ब्रह्मकी 'भाव' रूपा नित्य ह्लादिनी-स्वरूपाशक्ति, जो अनादिकालसे 'अमूर्त' रूपमें शक्तिमान्के साथ अपृथक्‌रूपमें विराजित है ।

२. उसी 'महाभाव'रूपा ह्लादिनी नित्या शक्तिका अतुलनीय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय 'मूर्त'रूप, जो पृथक्‌रूपमें रहकर, सर्वत्यागपूर्वक प्रियतम श्रीकृष्णसुखैकजीवना होकर, उनके मनोऽनुकूल सेवाके लिये अनन्त विचित्र लीला करती हैं और उनके स्व-सुखवाञ्छारहित परम त्यागमय विशुद्ध सेवा-रसका मधुर आनन्दास्वादन पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्ण नित्य अतृप्तरूपसे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लालसाके साथ करते रहते हैं।

३. भक्तिकी सर्वोच्च परिणतिका वह दिव्य रूप, जिसमें भुक्ति-मुक्तिकी समस्त वासनाओंका पूर्ण त्याग होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ उनका अनन्य सेवन-भजन किया जाता है।

आजके दिन मङ्गलमय वृषभानुपुरके रावल ग्राममें इस धराधाममें अमूर्त राधाका 'मूर्त'रूपमें प्राकट्य हुआ था, जिसने अपने जीवनके एक-एक क्षण, एक-एक विचार, एक-एक क्रियाको नित्य प्रेष्ठतम श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर साधकों, भक्तों तथा जगत्‌के सभी लोगोंके सामने सहज ही भक्तिके यथार्थ स्वरूपका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीता-जागता उदाहरण उपस्थित किया।

भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके सम्बन्धमें प्राचीन शास्त्रोंमें तथा अनुभवी संतों-भक्तोंकी मङ्गलमयी वाणीमें बहुत कुछ लिखा-कहा गया है। संयम-नियम तथा श्रद्धा-विश्वासका अवलम्बन करके यदि उसका अध्ययन-मनन किया जाय तो

श्रीराधा-माधवके स्वरूपकी पहले धारणा, पश्चात् अनुभूति हो सकती है और उनकी उपासना करके हम अपना जीवन सफल कर सकते हैं।

त्यागकी आवश्यकता

भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार और लौकिक अभ्युदय—सभीकी सिद्धिके लिये त्यागकी आवश्यकता है। त्यागके बिना कभी सफलता नहीं मिलती। त्यागीके पास 'सिद्धि' अपने-आप दौड़ी जाती है और 'भोगी'का जीवन निश्चित असफल होता है। त्यागमें शान्ति—सुख है, भोगमें अशान्ति—दुःख है। श्रीराधाके भाव, चरित्र, विचार तथा क्रियाका अध्ययन करनेसे हमें त्यागकी सफल शिक्षा मिलती है। प्रेमके बिना साध्य वस्तुकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होती और त्यागके बिना प्रेमकी कल्पना भी विडम्बना है। प्रेममें ग्रहण नहीं है, त्याग है, वह लेन-देनका व्यापार नहीं है, समर्पण है। प्रेम देना जानता है, लेना नहीं। इसीलिये कहा गया है कि जहाँ प्रेमके लिये ही प्रेम है, वहाँ 'प्रेम' है, जहाँ कुछ भी पानेके लिये प्रेम है, वहाँ वह प्रेम नहीं है, 'काम' है। प्रेम 'निर्मल भास्कर' है, काम 'मलयुक्त अन्धकार' है। फिर चाहे 'प्रेम'का नाम 'काम' हो या 'काम'का नाम 'प्रेम' हो। नाममें कोई तत्त्व नहीं है, तत्त्व है भावमें। गोपाङ्गनाओंके और श्रीराधाके प्रेमका नाम काम है, पर वह 'काम' है केवल प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी अनन्य

कामना, जिसका सर्वत्यागकी भूमिकामें ही उदय होता है। भगवान् ही नहीं, संसारमें किसीसे भी प्रेम करना हो तो उससे कभी भी, कुछ भी प्राप्त करनेकी कल्पना भी न करो। तुम्हारे पास जो कुछ है, परम सुख मानकर उसे देते रहो उसके सुख-हित-सम्पादनार्थ। अपनेको भूल जाओ, भूले रहो सर्वथा और सर्वदा। धर्ममें प्रेम है तो धर्मके लिये दो, बदलेमें कुछ मत चाहो; चाहो तो धर्मार्थ देनेकी ही वृत्ति और स्थिति चाहो। देशके प्रति प्रेम है तो देशके लिये अपना तथा अपने सर्वस्वका हँसते हुए बलिदान कर दो, बदलेमें कभी कुछ चाहो मत, चाहो तो यही कि देशका सुख-हित ही नित्य अपने जीवनका स्वरूप बना रहे और उसके लिये त्यागकी शक्ति-वृत्ति सदा बढ़ती रहे। पिता-पुत्र, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, पड़ोसी-पड़ोसी, पति-पत्नी, मित्र-मित्र —सबमें इसी त्याग-भावनासे देनेकी वृत्ति रक्खो, पानेकी नहीं। उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ेगा और साथ ही आनन्द बढ़ेगा। याद रखना चाहिये—जहाँ त्याग है, वहाँ प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। इसके विपरीत जहाँ ग्रहण है, वहाँ स्वार्थ है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं दुःख है। व्रजके मधुर प्रेममें राधा तथा गोपसुन्दरियोंकी रागात्मिका मधुर भक्तिमें पद-पदपर इस 'त्याग'की शिक्षा मिलती है, जिससे त्यागके स्वरूपका पता लगता है, त्यागयुक्त साधनाको प्रोत्साहन मिलता है और त्यागके परम शक्तिमय पाथेयको साथ लेकर साधक निष्काम कर्मयोग, विशुद्ध भक्तियोग और तत्त्व-ज्ञानके मार्गपर अग्रसर होकर अपने ध्येयको सहज ही प्राप्त कर सकता है।

आज इस राधाष्टमीके महोत्सवपर हमलोगोंको श्रीराधाका मङ्गल-स्मरण करके उनके द्वारा प्रदर्शित त्यागमय प्रेम-पथका ग्रहण करना है, तभी उत्सवकी सार्थकता है। यह निश्चितरूपसे जान लेना चाहिये कि विशुद्ध प्रेम, प्रेमरूपा भक्ति, भाव-राग-अनुरागका पथ, अथवा रसमार्ग सर्वथा संयममय और त्यागमय है। केवल परम त्यागकी नींवपर ही पवित्र प्रेमका मङ्गल-शोभन प्रासाद बन सकता है, कामके ऊपरसे चमकते गंदे कीचड़पर नहीं। प्रीति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव—सभीमें उत्तरोत्तर त्याग और समर्पणकी वृद्धि है। जैसे भगवान्‌का सौन्दर्य-माधुर्य प्रतिक्षण वर्द्धमान है, उसी प्रकार प्रेमी भक्तका प्रेम, उसके त्यागमय समर्पणका भाव उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वर्द्धमान होना चाहिये। जो भगवान्‌से प्रेम भी करना चाहता है और भोग-जगत्‌में छिपी आसक्ति रखकर भगवान्‌से भोगवासनाकी पूर्ति कराना चाहता है, वह स्वयं ही अपनी वञ्चना करके अपने लिये नरकका मार्ग प्रशस्त कर रहा है और जगत्‌के प्राणियोंके सामने पतनकारक उदाहरण रख रहा है। अतएव इस क्षेत्रमें आनेवालोंको बड़ी सावधानीके साथ संयम-नियमका पालन करते हुए अपने इन्द्रिय-मन-बुद्धि-प्राण-आत्मा सबको परम प्रेमास्पद भगवान्‌के समर्पणके लिये प्रस्तुत करना चाहिये। इस पवित्र प्रेमके क्षेत्रमें भगवान् केवल त्यागमय अनन्य प्रेमवासनाको देखते हैं—जाति, कुल, विद्या, पद, अधिकार, लोक आदि कुछ भी नहीं देखते, न पिछला इतिहास ही देखते हैं। वे देखते हैं केवल हमारे चित्तकी वर्तमान स्थितिको,

समर्पणकी शुद्ध इच्छाको। वह यदि शुद्ध, तीव्र और एकान्त हो तो प्रेमास्पद भगवान् तत्काल हमें स्वीकार कर लेते हैं और हमारी सारी दुर्बलताओंका तुरंत हरण करके हमें अपना दुर्लभ प्रेम प्रदान करते हैं। इस त्यागकी—इस पूर्ण समर्पणकी शिक्षा मिलती है श्रीराधाके पावन-निर्मल चरित्रसे, उनकी आदर्श जीवन-लीलाओंसे। आज हमें उसीका, उनके उन्हीं गुणोंका स्मरण-मनन करना है।

श्रीराधाके दिव्यगुण

जो श्रीराधाजी अचिन्त्यानन्तदिव्यगुण-स्वरूप, सुर-ऋषि-मुनि-मन-आकर्षक, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मनको अपने स्वाभाविक दिव्यगुणोंसे नित्य आकर्षित रखनेवाली हैं, जो विशुद्ध श्रीकृष्ण-प्रेम-रत्नकी खान हैं, सती अनसूया-अरुन्धती आदि जिनके पातिव्रत-धर्मकी, लक्ष्मी-पार्वती आदि जिनके सौन्दर्य-सौभाग्यकी इच्छा करती हैं, श्रीकृष्ण भी जिनके सद्गुणोंकी गणना नहीं कर सकते और स्वयं श्रीकृष्ण जिनके गुणोंके वशमें हुए रहते हैं, उन दिव्यगुणमयी राधाके असंख्य गुण हैं। अनुभवी भक्तोंने विविध प्रकारसे उनके कुछ गुणोंके दर्शन किये हैं और उनमेंसे कुछ मुख्य-मुख्य गुणोंके नाम बताये हैं। उन्हींमेंसे दो स्थलोंपर बताये हुए इक्यावन प्रधान सहज गुण ये हैं—

१—मधुरा, २—नित्य-नव-वयस्का, ३—चञ्चलकटाक्षविशिष्टा, ४—उज्ज्वल-मृदुमधुरहास्यकारिणी, ५—चारुसौभाग्यरेखाढ्या (हाथ-पैर आदि अङ्गोंपर सौभाग्यसूचक रेखाओंवाली), ६—गन्धोन्मादित-

भावना (अपनी अङ्ग-सुगन्धसे श्रीकृष्णको उन्मत्त बनानेवाली), ७—संगीतप्रसराभिज्ञा (संगीतविद्यामें निपुणा), ८—रम्यवाक् (मधुरभाषिणी), ९—नर्मपण्डिता, १०-विनीता, ११—करुणापूर्णा (करुणासे पूर्ण हृदयवाली), १२—विदग्धा, १३—पाटवान्विता (सभी कामोंमें चतुरा), १४—लज्जाशीला, १५—सुमर्यादा (प्रेम-मर्यादाकी भलीभाँति रक्षा करनेवाली), १६—धैर्यशालिनी, १७—गाम्भीर्यशालिनी (गम्भीरहृदयवाली), १८—सुविलासा (हाव भावादिके द्वारा अपने मनोभावोंको समझानेमें चतुर), १९—महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी (विशुद्ध त्यागमय प्रेमके उत्तरोत्तर उत्कर्षके लिये व्यग्र रहनेवाली), २०—गोकुलप्रेमवसति (गोवंशके प्रति प्रेमकी निवासस्थली), २१—जगत्-श्रेणीलसद्यशा (सारे लोकोंमें जिनका यश व्याप्त है, ऐसी), २२—गुर्वर्पितगुरुस्नेहा (गुरुजनोंके पूर्ण स्नेहको प्राप्त), २३—सखि-प्रणयिता-वशा (सखियोंके प्रेमके वशीभूत), २४—कृष्ण-प्रियावलिमुख्या (श्रीकृष्णकी प्रियाओंमें मुख्य) और २५—नित्याधीन-माधवा (श्रीमाधव जिनके नित्य अधीन हैं) ।

१—अखिलविकारशून्या-नित्यानन्दमयी, २—भोगत्यागसमर्पितात्मा, ३-अचिन्त्यानन्तदिव्यपरमानन्दस्वरूपा, ४-प्रीतिपराकाष्ठामहाभावस्वरूपा, ५-स्वसुखानुसंधानकल्पनालेशशून्या, ६-पतिव्रताशिरोमणिअरुन्धती-अनसूयादिद्वारा पूजनीया, ७—श्यामविधुवदनचकोरी, ८—श्रीकृष्णमनोमनस्विनी, ९—श्रीकृष्णप्राणप्राणा, १०—ऋषिमुनिमनःकर्षकचित्ताकर्षिणी, ११—श्रीकृष्णहृदया, १२—श्रीकृष्णजीवना, १३—श्रीकृष्णस्मृतिरूपा, १४—श्रीकृष्णसुखैकमना, १५—श्रीकृष्णानन्दप्रवर्धिनी,

१६—श्रीकृष्णप्राणाधिदेवी, १७—श्रीकृष्णाराध्या, १८—श्रीकृष्णाराधिका, १९—नित्यकृष्णानुकूल्यमयी, २०-श्रीकृष्णप्रेमतरंगिणी, २१—श्रीकृष्णार्पितमनोबुद्धि,२२--श्रीकृष्णसेवामयी,२३—श्रीकृष्णाश्रया, २४—श्रीकृष्णाश्रिता,२५-श्रीकृष्णकीर्तिध्वजा,२६-श्रीकृष्णात्मस्वरूपा ।

इनमें श्रीराधाका एक-एक गुण उनके जीवनका एक-एक इतिहास है । ये गुण भक्तोंके आदर्श ज्योतिर्मय पथ हैं, कर्मयोगियोंके त्यागकी शिक्षा देनेवाले हैं और ज्ञानियोंके तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले हैं ।

श्रीराधा-गोपी-प्रेमका उच्च आदर्श

श्रीराधा-गोपी-प्रेम भगवान् श्रीराधा-माधवकी अत्यन्त निगूढ़ परम-पावन लीलाका तो एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है ही; इसमें आध्यात्मिक साधनाका बहुत ऊँचा आदर्श प्राप्त होता है । इस श्रीराधा-माधव-प्रेमका मङ्गल-स्मरण करानेवाले इस राधाष्टमी-महोत्सवके अन्यान्य मङ्गलकार्योंके अतिरिक्त विशेष आवश्यक तथा अवश्यकर्तव्य तो उस आदर्शको प्राप्त करके उसे यथासाध्य जीवनमें उतारना है—

१—जीवनका चरम और परम लक्ष्य एकमात्र भगवत्प्रेम या भगवान्‌की प्राप्ति ही हो जाय ।

२—बुद्धि केवल भगवान्‌का ही विचार करे और जीवनको निरन्तर निश्चितरूपसे भगवान्‌की ओर ही लगाती रहे ।

३—मन नित्य-निरन्तर भगवान्‌के ही नाम-रूप-गुण-लीला-तत्त्व-महत्त्वके मङ्गलमय स्मरणमें ही अनवरत रूपसे लगा रहे ।

४—समस्त इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा केवल भगवद्विषयोंका ही ग्रहण करती रहें।

५—जीवनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य केवल—और केवल भगवान्‌से ही सम्बन्धित हो।

६—चित्तभूमिसे क्षणभर भी भगवान् न हटें। नित्य नयी उमंग तथा नित्य-नवीन उत्साहके साथ भगवान्‌का स्मरण-सेवन होता रहे।

७—सारी आसक्ति, सारी ममता केवल एकमात्र भगवान्‌में ही हो जाय और मनमें केवल भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवाकी विशुद्ध कामना—लालसा रहे और वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाय।

८—जीवन राग-द्वेष, भोग-ममता-कामना, मद-अभिमान, शोक-विषाद, भय-संदेह और असूया-ईर्ष्यासे सर्वथा रहित हो जाय।

९—प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के कृपा तथा प्रीतिसे पूर्ण मङ्गल-विधानके दर्शनसे अनुकूलता तथा आनन्दका अनुभव हो।

१०—जीवन सदा विनय-विनम्र, संयम-नियमपूर्ण, सदाचारपूर्ण, सहज त्यागरूप तथा सदा-सर्वत्र भगवदीय शान्ति तथा सुखका अनुभव करनेवाला हो।

११—सदा-सर्वत्र श्रीराधा-माधवके नित्य-नूतन परमानन्द मङ्गलमय, पवित्र सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपके तथा उनके प्रेमके दर्शन होते रहें और पल-पलमें चित्तके दिव्य भागवतानन्द-सागरमें अनन्त विविध-विचित्र आनन्द-रस-तरंगें उछलती रहें।

साधनामय जीवनके आदर्शकी ये कुछ बातें जीवनमें अवश्य आ जायँ, इसका पूर्ण प्रयत्न किया जाय और श्रीराधा-माधवके चरणोंमें इसके लिये कातर प्रार्थना करते रहें। तभी इस मङ्गल-महोत्सवकी सार्थकता और सफलता है।

श्रीराधा-माधव-जुगल ! कीजै कृपा महान।
जा सौं मैं करतौ रहूँ प्रेम-सुधा-रस-पान॥
द्वन्द्वनि में समता रहै, सकल विषमता खोय।
पद-कमलनि में ही सदा ममता सगरी होय॥
मन सुमिरन करतौ रहै मधुर मनोहर नित्य।
नाम-रूप-गुन कौ, सकल तजि कै भोग अनित्य॥
जय श्रीराधा जयति जय, जय माधव घनस्याम।
जयति समरपनमय बिमल प्रेम नित्य सुखधाम॥

बोलो श्रीश्रीराधारानी और उनके परमाराध्य भगवान् श्रीकृष्णकी जय-जय !

[२]

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम्।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम्॥
हरिपदनखकोटीपृष्ठपर्यन्तसीमा-
तटमपि कलयन्तीं प्राणकोटेरभीष्टम्।
प्रमुदितमदिराक्षीवृन्दवैदग्धिदीक्षा-
गुरुमतिगुरुकीर्तिं राधिकामर्चयामि॥

अतिवटुलतरं तं काननान्तर्मिलन्तं
व्रजनृपतिकुमारं वीक्ष्य शङ्काकुलाक्षी ।
मधुरमृदुवचोभिः संस्तुता नेत्रभङ्ग्या
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु ॥

श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सवके सुअवसरपर आज श्रीराधारानी तथा उनके अभिन्नस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप, तत्त्व, महत्त्व, प्रेम तथा प्रेमके स्वरूपका स्मरण करके उनसे विनीत प्रार्थना करना है कि वे हमारे हृदयोंमें विशुद्ध प्रेमकी पिपासाका उदय करें और अनुग्रह-पूर्वक प्रेमदान करके कृतार्थ करें। अब पहले मूल परिपूर्णतम परात्पर-तत्त्वका स्मरण किया जा रहा है।

(१)

परिपूर्णतम 'रस'ब्रह्मस्वरूप

सृष्टिके पूर्व सर्वकारण-कारण परात्परतत्त्व 'भाव'परिरम्भित 'रस'-रूपमें विद्यमान था। उसी 'भाव'-'रस'-रूप मूल तत्त्वसे आनन्दधारा निकलकर विश्वमें विविध आनन्द-वैचित्र्यके रूपमें विकसित हुई। यह परात्पर-तत्त्व ही समस्त भावों तथा रसोंका मूल है। यही एक महाभावपरिरम्भित 'रसराज' श्रीराधा-मुख्या अनन्त गोपाङ्गनाओंसे परिवेष्टित अनन्त परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण परिपूर्ण परात्पर तत्त्व हैं। 'सर्वरसः' के नामसे इन अखिलरसामृतमूर्ति रसराज-स्वरूपका ही निर्देश होता है। स्मरण रखना चाहिये कि 'भाव'के बिना 'रस' नहीं है, 'रस'के बिना 'भाव' नहीं है और 'रस' तथा 'भाव' के बिना 'आनन्द' नहीं है।

महाभावरूपी श्रीराधा अमूर्तरूपमें नित्य रसराज श्रीकृष्णसे परिरम्भित हैं। शक्ति नित्य-निरन्तर शक्तिमान्‌में निहित है और वही महाभाव श्रीराधाके मूर्तरूपमें 'मादन महाभाव-रूप परिपूर्ण प्रेमका स्वरूप धारण किये अपनी कायव्यूहरूपा सेवोपकरणस्थानीया व्रज-सुन्दरियोंके साथ प्रेष्ठतम श्रीकृष्णकी केवल श्रीकृष्णसुखतात्पर्यमयी साक्षात् सेवारूप बना हुआ नित्य-निरन्तर सेवामें संलग्न है। प्रियतमके सुखेच्छानुसार वियोग-संयोग—दोनोंमें सुखमय सेवा-संयोगका अनुभव करती हुई श्रीराधा सेवामय बनी रहती हैं।

इन परात्पर-तत्त्व भगवान्‌को श्रुतियोंने 'अन्न', 'प्राण', 'मन', 'विज्ञान' (तैत्तिरीय उ० ३। २-५) आदि नाम देकर अन्तमें 'विज्ञान' नामसे व्यक्त किया (तैत्तिरीय उ० ३। ५)। इसमें भी जब कमी प्रतीत हुई, तब 'आनन्द' नामसे निर्देश किया।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। (तैत्तिरीय उ० ३। ६)

'आनन्द ही ब्रह्म है, इस प्रकार जाना। आनन्दस्वरूपसे ही ये सब भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दके द्वारा ही जीवन धारण करते हैं और अन्तमें उस आनन्दमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
(तैत्तिरीय उ० २। ९)

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० ३। ६)

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उ० ३। ९। २८)

—इस प्रकार जगह-जगह श्रुतियोंमें ब्रह्मको 'आनन्द' रूप बतलाया है और कहा है कि 'ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको जाननेपर कभी भी भयग्रस्त नहीं होना पड़ता।' पर श्रुतिने इससे भी विशेष एक रहस्यका तत्त्व और बतलाया है। कहा है—

'यद्वैतत् सुकृतम्। रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तैत्तिरीय उ० २।७)

'वे जो स्वयंकर्ता ('स्वयंरूप' तत्त्व या 'स्वयं भगवान्') हैं, वे पूर्ण रसस्वरूप हैं। इन रसस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करनेपर जीव आनन्दमय हो जाता है।'

जगत्का कारण आनन्द जिससे विकीर्ण होता है, उस 'आनन्द ब्रह्म'का कारणस्वरूप होनेसे श्रुतिने 'रस-ब्रह्म'को ही परिपूर्ण परात्परस्वरूप बतलाया है। 'सुकृत' शब्दसे 'स्वयंकर्ता' और 'रसो वै सः' मन्त्रके 'सः' पदके द्वारा 'पुरुषस्वरूप' सूचित होता है। अतएव वह 'रसब्रह्म' ही 'लीलापुरुषोत्तम' और 'रसिक परब्रह्म' है, ऐसा सिद्ध होता है। 'रसिक' ब्रह्म स्वयं अनन्त आनन्दराशि है, इसलिये उसमें दूसरोंमें 'आनन्द' और 'रस' वितरण करनेकी शक्ति विद्यमान है।

जैसे सविशेष मूर्त पुष्पसे निर्विशेष अमूर्त सुगन्ध सर्वत्र फैलती है, वैसे ही 'सविशेष रसतत्त्व'से 'निर्विशेष आनन्द'का विकास होता है। अतएव पुष्पमें ही जैसे सुगन्ध प्रतिष्ठित है, वैसे ही रसमें ही आनन्दकी प्रतिष्ठा है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।' 'मैं श्रीकृष्ण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हूँ।'

अभिप्राय यह कि सविशेष रसब्रह्ममें ही निर्विशेष आनन्दब्रह्म प्रतिष्ठित है। अतएव यह मानना चाहिये कि 'आनन्दस्वरूपता' ही परात्परतत्त्वकी शेष सीमा या परिपूर्ण स्वरूप नहीं है, 'रस-स्वरूपता' ही उसका परिपूर्ण स्वरूप है।

रसानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी रसास्वादन-समुत्सुकता

ये परिपूर्ण परात्पर दिव्य रसानन्दस्वरूप ब्रह्म श्रीकृष्ण सेवानन्दका बहिष्कार करके केवल विशुद्ध सेवा करनेवाली राधामुख्या गोपसुन्दरियोंकी पवित्र सेवाका 'आनन्द'-रसास्वादन करनेके लिये सदा समुत्सुक रहते हैं।

आनन्दके स्वरूपमें तारतम्य

आनन्दके स्वरूपमें बड़ा तारतम्य है। श्रुतिमें 'लौकिक आनन्द' और 'ब्रह्मानन्द'के भेद बतलाये गये हैं। तैत्तिरीय-उपनिषद्में कहा गया है—'युवावस्था' हो, श्रेष्ठ आचरण हो, वेदशिक्षा, शासनकुशलता, सफलकर्मण्यता, रोगरहित सम्पूर्ण अङ्ग तथा इन्द्रियसे युक्त बलवान् सुदृढ़ शरीर और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण पृथ्वीपर अधिकार—यों जिसमें मनुष्य-लोकके सब प्रकारके श्रेष्ठ भोगानन्द प्राप्त हों, वह 'मानुषानन्द' है। जो मनुष्ययोनिमें उत्तम कर्म करके 'गन्धर्व' योनिको प्राप्त होते हैं, उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। इन 'मनुष्य-गन्धर्वोंका' आनन्द 'मानुषानन्द'से सौगुना है। अर्थात् उपर्युक्त मानुषानन्द-जैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना आनन्द इन 'मनुष्य-गन्धर्वों'का है। मनुष्य-गन्धर्वोंके आनन्दका सौगुना

'देव-गन्धर्वों'का (देवजातीय जन्मजात गन्धर्वोंका) है। इस आनन्दका सौगुना आनन्द चिरस्थायी 'पितृलोक'को प्राप्त 'पितरों'का है। उसका सौगुना आनन्द 'आजानज देवों'का (जो स्मृति-शास्त्रोक्त कर्मोंके फलस्वरूप इस देवलोकको प्राप्त होते हैं, उनका) है। उसका सौगुना आनन्द 'कर्म-देवताओं'का,—जो वेदोक्त कर्मोंके फलरूपमें इस देवलोकको प्राप्त हैं,—है। इसका सौगुना आनन्द वसु, आदित्य आदि 'नित्य देवताओं'का है। इन देवताओंके आनन्दका सौगुना आनन्द 'इन्द्र'का है। 'अकामहत'—इन समस्त लोकों—भोगोंकी कामनासे रहित श्रोत्रियको यह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है। इन्द्रके आनन्दका सौगुना आनन्द 'बृहस्पति'का है। बृहस्पतिके आनन्दका सौगुना आनन्द 'प्रजापति'का है। ऐसे जो प्रजापतिके एक सौ आनन्द हैं, वह 'ब्रह्मा'का एक आनन्द है और यह आनन्द ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामनारहित श्रोत्रियको सहज ही प्राप्त है।"

रसानन्दकी उत्कर्षता

इस प्रकार उत्तरोत्तर आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि ये जितने भी आनन्द हैं, 'ब्रह्मानन्द'की तुलनामें अति तुच्छ हैं। इसलिये इसके बाद ही श्रुति कहती है कि मन-वाणी उस परमानन्दस्वरूपको न पाकर लौट आते हैं, वेदलक्षण-वाक्यकी निवृत्ति हो जाती है। वेद भी इस 'ब्रह्मानन्द'के परिमाण-का निर्धारण नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवाङ्मनसगोचर आनन्द ही 'ब्रह्मानन्द' है। इस ब्रह्मानन्दसे भी अत्यन्त उत्कर्षसे युक्त 'रसानन्द'—भक्त्यानन्द कहा गया है।

सेवानन्द सबसे बढ़कर

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु ११ । १९-२०)

"एकके ऊपर १७ सुन्ना लगानेपर जो संख्या होती है, उसका नाम है 'परार्द्ध'। ब्रह्मानन्दको परार्द्धकी संख्यासे गुणा करनेपर जिस आनन्दकी उपलब्धि होती है, वह आनन्द भी भक्ति-सुख-सागरकी तुलनामें एक परमाणुके समान भी नहीं है। अर्थात् उस आनन्दसे भी भक्ति-सुख अनन्तगुना अधिक है।" श्रीमद्भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

श्रीमद्भागवतमें ऐसे कई प्रसङ्ग मिलते हैं, जिनमें ब्रह्मानन्द, कैवल्य-मोक्ष आदिकी अपेक्षा भक्ति, प्रेम, लीला-कथा, भगवत्प्रेमियोंके सङ्ग तथा भगवत्सेवा आदिको बहुत ऊँचा बताया गया है।

श्रीयादवेन्द्रपुरी महाराज कहते हैं—

नन्दनन्दनकैशोरलीलामृतमहाम्बुधौ।
निमग्नानां किमस्माकं निर्वाणलवणाम्भसा॥

'श्रीनन्दनन्दनकी किशोरावस्थामें की हुई सुन्दर लीलारूप महान् अमृत-समुद्रमें निमग्न हमलोगोंको निर्वाण-मुक्तिरूप खारे समुद्रकी क्या आवश्यकता है?'

इसीसे भगवत्सेवापरायण जन दिये जानेपर भी सेवाको छोड़कर पाँच प्रकारकी मुक्तियोंको भी स्वीकार नहीं करते। भगवान्ने कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३)

'ऐसे सेवाव्रती मेरे जन मेरी सेवाको छोड़कर, दिये जानेपर भी मेरे धाममें नित्य-निवास, मेरे समान ऐश्वर्य-प्राप्ति, मेरी नित्य-समीपता, मेरे-जैसा रूप और मेरे अंदर लीन जाना—ब्रह्मरूप हो जाना—इन पाँच प्रकारके मोक्षको स्वीकार नहीं करते।' क्योंकि यह भगवत्-सेवानन्द ब्रह्मानन्दसे कहीं श्रेष्ठ है। ब्रह्मानन्द नित्य एक-रस है, उसमें विकास या नित्य-न्यूनता नहीं है; फिर, वह अनुभवमें भी नहीं आता; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला कोई रहता नहीं। पर भगवत्सेवानन्द-सागरमें निरन्तर अनन्त विचित्र विलास-तरंगें उठती हैं।

विशुद्ध सेवाके लिये 'सेवानन्द'का भी त्याग

इतनेपर भी जो वास्तविक प्रेमी महानुभाव हैं, वे इस सेवानन्दकी भी इच्छा नहीं करते। वे चाहते हैं— 'विशुद्ध अहैतुकी सेवा'। सेवा करते हैं—सेवाके लिये ही। सेवामें यदि कहीं अपने आनन्दका अनुसंधान या आनन्द-प्राप्तिकी वासना रहती है,—उसका किंचित् भी आवेश-लेश रहता है, तो उसे प्रेमराज्यमें कलङ्क और प्रेम-सेवाका विघ्न माना जाता है और वे इस प्रकारके आनन्दको अपना घोर विरोधी मानकर उसका तिरस्कार करते हैं।

एक बार प्रियतम श्रीकृष्ण एक दिन खेलते-खेलते बहुत थक गये थे; इसीसे वे निकुञ्जमें ठीक समयपर नहीं पहुँच पाये। श्रीराधारानी उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। वे जब पधारे तो उन्हें अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त और उनके विशाल भालपर श्रम-बिन्दु-कण देखकर राधाजीको बड़ी मनोव्यथा हुई। वे आदरपूर्वक उन्हें सुकोमल सुरभित सुमन-शय्यापर शयन कराकर पंखा झलने लगीं और जब स्वेद-बिन्दु नहीं रहे, तब राधाजीको अपार आनन्द मिला। फिर वे धीरे-धीरे उनके पैर दबाने लगीं। श्यामसुन्दरकी श्रान्ति दूर हो गयी, उनके मोहन मुखपर मधुर मृदुहास्यका समुदय हो गया। राधारानीने चाहा—'अब इन्हें कुछ देरतक नींद आ जाय तो इनमें और भी स्फूर्ति आ सकती है।' श्यामसुन्दर-के नेत्र निमीलित हो गये। राधा धीरे-धीरे उनके पैर दबा रही थीं। अपने परमाराध्य, प्राणप्राण प्रियतम माधवको इस प्रकार परम आनन्दसे सोते हुए देखकर राधारानीके आनन्दका पार न रहा। उनके शरीरमें आनन्दजनित लक्षण उत्पन्न होने लगे। क्षणभरके लिये 'स्तम्भ' दशा हो गयी और पैर दबाना रुक गया। दूसरे ही क्षण पवित्र अनन्य 'सेवाव्रत'ने प्रकट होकर उन्हें मानो कहा—'राधा! तुम सेवानन्दमें निमग्न होकर सेवा-परित्यागका पातक कर रही हो।' बस, वे तुरंत सावधान हो गयीं और अपने सेवा-नन्दको धिक्कार देकर उसका तिरस्कार करती हुई बोलीं—'सचमुच, आज मैंने यह बड़ा पाप—अत्यन्त अपराध किया, जो अपने सुखकी चाह रखकर, सेवा-सुखकी परवा न कर आनन्दमें डूब गयी, सेवाके बिना सेवानन्दकी साध रखकर सेवा छोड़ बैठी। हाय!

मेरे-जैसी जगत्‌में दूसरी कौन ऐसी स्वार्थसनी नारी होगी, जो अनन्य-सेवा-व्रतकी रक्षा करते हुए प्रियतम-सेवा न कर सकी—

नव निकुञ्जमें कृष्ण प्रेष्ठतम थके शरीर पधारे आज।
श्रान्त कलेवर था, सुभालपर श्रम-कण-बिंदु रहे थे भ्राज॥
राधा श्रमित देख प्रियतमको हुई दुखी, कर मधु मनुहार।
सुला दिया कोमल कुसुमोंकी शय्यापर प्रियको, दे प्यार॥
करने लगी तुरत, सुरभित पंखेसे, उनको मधुर बयार।
श्रम कम हुआ, स्वेद-कण सूखे, राधाको सुख हुआ अपार॥
करने लगी पाद-संवाहन मृदु कर-कमलोंसे अति स्नेह।
श्रान्ति मिटी, मोहन-मुखपर बरसा मृदु-मधुर हास्यका मेह॥
राधाने चाहा—'प्रियतम अब कर लें निद्राको स्वीकार।
सो जायँ कुछ काल, बढ़े जिससे शरीरमें स्फूर्ति-सँभार'॥
नेत्र निमीलित हुए श्यामके, सोये सुखकी नींद मुकुन्द।
शायित प्रियको देख परम सुख, बढ़ा अमित राधा-आनन्द॥
होने लगे उदय तनमें आनन्द-चिह्न फिर विविध प्रकार।
हुआ उदय जब 'स्तम्भ', पाद-संवाहन छूटा तब 'क्षण' बार॥
प्रकट हुआ 'सेवाव्रत', तत्क्षण बोला श्रीराधासे आप।
'सेवानन्द-विभोर ! किया कैसे सेवा तजनेका पाप ?'॥
चौंकी, सजग हो गयी राधा, मनसे निकली करुण पुकार।
बना विघ्न 'सेवा'का 'सेवानन्द' जान, देकर धिक्कार॥
तिरस्कार कर उसका बोली—"मैं मन रख निज सुखकी चाह।
आनँद-मग्न हुई, सेवाकी मैंने की न तनिक परवाह॥
सचमुच मैंने किया आज यह घोर पाप, अतिशय अपराध।
सेवा त्याग रखी मन मैंने 'सेवानन्द'—विघ्नकी साध॥
कौन स्वार्थसे सनी जगत्‌में मेरे-जैसी होगी अन्य।
जो न कर सकी प्रियतम-सेवा रख 'सेवाव्रत'-भाव अनन्य"॥

विशुद्ध सेवा-रसास्वादनके लिये भगवान्‌के ज्ञान-ऐश्वर्यपर चिच्छक्तिके द्वारा आवरण

इस क्षेत्रमें केवल 'कृष्णसुख-तात्पर्यमयी' विशुद्ध सेवाके लिये प्रेममूर्ति गोपाङ्गनाएँ लोकधर्म, वेदधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, मुक्तिसुख—सबका सहज त्याग करके अत्यन्त प्रीतिके साथ सेवावेशमें तन्मय हुई सेवा-संलग्न रहती हैं। इन समस्त गोपाङ्गनाओंमें श्रीराधारानी ही सर्वशिरोमणि हैं। श्रीराधाने ही अपनी महान् कृष्णसेवाकी अतृप्ति तथा अधीरतामें अपने कायव्यूहरूपमें अनन्त कोटि गोपियोंका रूप धारण किया है। श्रीराधासे ही सब गोपियोंका विस्तार है।

ये कोटि-कोटि-कंदर्प-कमनीय-सौन्दर्य भगवान्‌की स्वरूपाशक्तियाँ अपने कोटि-कोटि आत्माओंसे भी अधिक प्रिय मानकर श्रीकृष्णकी सेवा-उपासना करती रहती हैं और सर्वलोकमहेश्वर अनन्तैश्वर्यस्वरूप, माधुर्य-सौन्दर्य-सुधा-रस-समुद्र, अनन्त परमानन्दोदधि, नित्य-सत्य-चित्स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूपानन्दसे भी बढ़कर इस दुर्लभ प्रेमरसानन्दमय विशुद्ध सेवा-रसका आस्वादन करनेके लिये सतृष्ण बने हुए, अपनी ही पवित्र इच्छासे, अपनी ही स्वरूपभूता चिच्छक्तिके द्वारा अपने समस्त ज्ञान-ऐश्वर्यको आवृत कर और समस्त हानि-ग्लानिको भूलकर श्रीराधारानी तथा उन रसमहाविटपकी शाखास्वरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेमानुरूप नित्य-नव असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्य-लीला-विलासका उदय करके उनके द्वारा प्राप्त

परम विशुद्ध 'प्रेमानन्द'का सदा-सर्वदा अतृप्त हृदयसे आस्वादन करते रहते हैं।

न हानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यं व्यसनितां
न घोरं नोद्घूर्णां न किल कदनं वेत्ति किमपि।
वराङ्गीभिः स्वाङ्गीकृतसुहृदनङ्गाभिरभितो
हरिर्वृन्दारण्ये परमनिशमुच्चैर्विहरति॥

'अनङ्ग-प्रेमको जिन्होंने अपना बन्धु मान लिया है, उन व्रज-सुन्दरियोंसे घिरे हुए सर्वदोष-प्रपञ्च-माया-हरणकारी स्वयं भगवान् हरि वृन्दावनके निभृतनिकुञ्जोंमें नित्य विहार करते हैं। वे इस विहारमें इतने मुग्ध रहते हैं कि अपनी हानि, ग्लानि, गृहकृत्य, दुःख, भय, सम्भ्रम और लोकनिन्दा— किसीको भी नहीं जानते।'

इसमें ऐश्वर्यका कहीं रंचमात्र भी प्रकाश नहीं है। केवल और केवल विशुद्ध अनिर्वचनीय दिव्य माधुर्य ही सर्वत्र मूर्तिमान् है। इस माधुर्यमें श्रीकृष्ण सर्वथा ऐश्वर्य-ज्ञानविस्मृत हैं।

क्या भगवान्के ज्ञान-ऐश्वर्यका आवृत होना सम्भव है? और है तो क्या वह दोष नहीं है?

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'नित्य परिपूर्णतम ज्ञानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके अपने स्वरूपभूत ऐश्वर्य तथा स्वरूपभूत ईश्वरता-ज्ञानको भी क्या कोई आवृत कर सकता है? कर सकता है तो वह कौन है? तथा जिनका ऐश्वर्य-ज्ञान आच्छन्न किया जा

सकता है, वे क्या पूर्णज्ञान-ऐश्वर्य-शक्तिरूप भगवान् हैं ?'—इसका उत्तर यह है—

"यह सर्वथा निर्विवाद सत्य है कि भगवान्के परम ज्ञान-स्वरूप ऐश्वर्यको—उनकी भगवत्ताको कोई भी आवृत नहीं कर सकता; परंतु मायावृत्ति अविद्या जैसे जीवको संसार-बन्धनमें फँसाकर दुःखका अनुभव करानेके लिये उसके ज्ञानको आवृत करती है और जैसे गुणातीता श्रीव्रजेश्वरी यशोदा आदि महाभाग व्रजपरिकरों या श्रीकृष्णके परिवारके लोगोंको महान् मधुरतम श्रीकृष्णलीला-सुखका अनुभव करानेके लिये चित्-शक्तिकी वृत्ति योगमाया उनके ज्ञानको आवृत कर रखती है, ठीक वैसे ही, स्वयं श्रीकृष्णको उनके 'स्वरूपानन्द'से भी बहुत बढ़े हुए 'आनन्दातिशय'का अनुभव करानेके लिये उन्हींकी स्वरूपभूत इच्छासे उन्हींकी अपनी चिच्छक्तिकी सारवृत्ति 'प्रेम' ही उनके ऐश्वर्य-ज्ञानको आवृत कर रखता है। यह प्रेम भगवान् श्रीकृष्णका अपना ही स्वरूप है या उनकी अपनी ही लीलामयी स्वरूपाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा होनेवाली आवृति न तो दोषरूप होती और न इससे उनकी भगवत्तामें ही कोई बाधा आ सकती है। यह उनकी लीला है, जो उन लीलापुरुषोत्तमसे सदा सर्वथा अभिन्न है।"

माधुर्यलीलाके समय भी ऐश्वर्यकी विद्यमानता

यह भी सर्वथा सत्य है कि श्रीकृष्ण केवल 'षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् ही नहीं—वे अनन्त-अनन्त ऐश्वर्यस्वरूप हैं। उनका

दिव्य ऐश्वर्य स्वरूपभूत होनेसे कभी हट या मिट नहीं सकता। इसी प्रकार उनका दिव्य माधुर्य भी अनन्त तथा स्वरूपभूत है। वह भी सदा उनके स्वरूपगत रहता है। परंतु लीलामें कहीं केवल ऐश्वर्यकी लीला होती है, कहीं ऐश्वर्यके साथ किंचित् माधुर्य रहता है, कहीं माधुर्यकी प्रधानता होती है और कहीं केवल माधुर्य ही रहता है। वृन्दावनकी मधुर-लीलामें वृन्दावनके विविध-भावसम्पन्न प्रेमीजनोंको विविधरूपोंमें केवल माधुर्यका ही अनुभव होता है।

वहाँ भी ऐश्वर्य है, समय-समयपर उसका प्राकट्य भी होता है; पर वहाँके प्रेमियोंको उसका पता ही नहीं लगता। छः दिनके श्रीकृष्णने शिशुघातिनी अपार बलवती पूतना राक्षसीके प्राणोंको मातृस्तन चूसनेके रूपमें चूस लिया, किसी सुदर्शन चक्रका स्मरण नहीं किया। पर वात्सल्य-प्रेमरसमयी यशोदा मैयाके मनको इतना प्रत्यक्ष ऐश्वर्य स्पर्श भी नहीं कर सका। उन्होंने समझा—'भगवान् नारायणने मेरे लालाको बचाया है। और वे स्वस्तिवाचन कराने तथा गौकी पूँछ लालापर फिराने लगीं।' शिशुत्वकी मुग्धतामें लाला भी सरल कोमल दृष्टिसे माताके मुँहकी ओर ऐसे ताकते रहे, मानो कुछ हुआ ही नहीं। इसी प्रकार शकटभञ्जन, अघासुर-उद्धार, ब्रह्माको अनन्तरूपमें भगवद्दर्शन, गोवर्धनधारण, कालियमर्दन, विशाल वृक्षोत्पाटन, कुबेरपुत्रोंपर अनुग्रह आदि प्रत्यक्ष ऐश्वर्य-प्रकाशकी लीलाओंमें भी, कहीं भी उन्हें ऐश्वर्य नहीं दिखायी दिया। वहाँके महामहिम माधुर्यने वृन्दावनवासियोंके एकच्छत्र माधुर्य-राज्यमें ऐश्वर्यको आने ही नहीं दिया। वह दूरसे ही झाँकता रह गया।

यह बतलाया जा चुका है कि भगवान्‌का ऐश्वर्य सदा ही विद्यमान रहता है। वास्तवमें ऐश्वर्यरहित केवल 'मुग्धता' तो भगवान्‌का माधुर्य है ही नहीं। ऐसी मुग्धता या मोह तो संसारके विषयासक्त लोगों और बच्चोंमें भी रहता है। उसका क्या महत्त्व है? इस माधुर्यमें तो श्रीकृष्णकी सर्वज्ञता, विभुता, सर्वशक्तिमत्ता, ज्ञानस्वरूपता, आनन्दमयता आदि सभी ऐश्वर्य-गुण माधुर्यकी मुग्धताके पीछे सभी समय छिपे रहते हैं और समय-समयपर अपना लीलाकार्य करते हैं। इसीसे इस भगवत्स्वरूप माधुर्यका प्रकाश होता है।

वृन्दावनमें भी ऐश्वर्यकी लीलामें भेद होता है। वृन्दावन-वासियोंपर किसी प्रकारका प्रभाव न पड़नेपर भी कहीं ऐश्वर्यका विशेष प्रकाश होता है, कहीं कम प्रकाश होता है, कहीं बिल्कुल ही नहीं हो पाता। यहाँतक कि श्रीगोपाङ्गनाओंके सामने एक बार चतुर्भुजरूपका प्राकट्य हुआ था, पर श्रीराधारानीके सामने आते ही वह लुप्त हो गया। उनके निकट ऐश्वर्य प्रकट रह ही नहीं पाया। इसका कारण यही है कि सभीके भावोंमें, अधिकारमें, स्थितिमें न्यूनाधिकता है और उसीके अनुसार उन्हें भगवत्प्रेम-रसका अनुभव होता है। भक्तोंके प्रेमकी तरतमताके कारण ही माधुर्यके विकासमें तारतम्य रहता है। सभीका प्रेम भगवान्‌में एक-सा नहीं होता। यहाँतक कि गोपाङ्गनाओंमें भी सबकी प्रीति समान नहीं मानी जाती।

अवश्य ही वृन्दावनकी रागात्मिका भक्तिमें माधुर्यका ही साम्राज्य है; 'प्रियतममें गाढ़ तृष्णा', 'परम आविष्टता' और 'प्रियतम श्रीकृष्णकी सुखतात्पर्यमयी विशुद्ध सेवा' ही इस भक्तिके प्राण या

आत्मा है। इसीसे इस भक्तिके धनी व्रजवासियोंके तन-मन-धन-यौवन-धर्म-ज्ञान—सभी श्रीकृष्णके प्रति सहज समर्पित हैं। उनका राग-विराग श्रीकृष्णके लिये ही है। इस भक्तिके चार स्तर हैं—'दास्य', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'मधुर'। 'शान्त'रस तो इन चारोंकी भित्तिभूमि है, जिसमें मन-इन्द्रिय संयमपूर्ण होकर दास्यभक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इनमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, सर्वशिरोमणि भक्ति है मधुर और उस मधुर भक्तिका भी स्वसुख-वासनासे सर्वथा शून्य पूर्ण विकास केवल व्रजसुन्दरियोंमें है।

भगवान् प्रेमसेवाके ऋणी

इस प्रेमसेवाका बदला चुकानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ समझकर चिरऋणी मानते हुए श्रीकृष्ण अपनी परम प्रेयसी श्रीगोपाङ्गनाओंसे कहते हैं—

> न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
> स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
> संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
> (श्रीमद्भागवत १०। ३२। २२)

'गोपाङ्गनाओ! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ दिया, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे—अमरजीवनसे अनन्तकालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं

चुका सकता। मैं जन्म-जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो; परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

प्रेमराज्यमें मधुररूपमें भगवान्‌की प्राप्ति

इस दिव्य प्रेमके विशाल राज्यमें ही परम मधुर भगवान्‌का नित्य संयोग प्राप्त होता है। नित्य-मधुरातिमधुर भगवान्‌के पावन-मधुर चरण-युगलोंकी प्राप्ति इस प्रेमसे ही होती है; क्योंकि यहाँ भगवान् सहज ही अपनी भगवत्ताको भूलकर प्रेम-परवश हुए रहते हैं। इसीसे एक भक्त कहते हैं—

गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोकुलहुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः॥

'श्रीकृष्ण! तुम गोपालोंके कीचड़से भरे आँगनमें तो विहार करते हो, पर ब्राह्मणोंके यज्ञमें प्रकट होनेमें तुम्हें लज्जा आती है। एक बछड़ेकी या छोटे-से गोपशिशुकी हुंकार सुनकर 'हाँ' आया'—बोल उठते हो; पर सत्पुरुषोंके सैकड़ों स्तुतियाँ करनेपर भी मौन रह जाते हो। गोकुलकी ग्वालिनियोंकी तो गुलामी स्वीकार करते हो, पर इन्द्रियसंयमी पुरुषोंके द्वारा प्रार्थना करनेपर भी उनके स्वामी बनना तुम्हें स्वीकार नहीं है। इससे पता लगता है कि तुम्हारे चरण-कमल-युगलकी प्राप्ति एकमात्र प्रेमसे ही सम्भव है।'

रसब्रह्म केवल भावग्राह्य

श्रुतिमें इस बातका भी संकेत मिलता है कि निर्विशेष या

अमूर्त आनन्दब्रह्मकी प्रतिष्ठास्वरूप वह समूर्त रसब्रह्म केवल 'भाव' नामक चिदानन्दमयी वृत्तिके द्वारा ही ग्राह्य होता है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥
(श्वेताश्वतर० ५। १४)

"केवल 'भाव'से ही प्राप्त होने योग्य, आश्रयरहित (अशरीरी) जगत्की सृष्टि और प्रलय करनेवाले शिव—कल्याणस्वरूप देव—परमेश्वरको जो साधक जान लेते हैं, वे शरीरको सदाके लिये त्याग देते अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्त हो जाते हैं।"

वह प्राकृत शरीरसे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय विग्रह है, इसलिये उसे 'आश्रयरहित'—'निराकार' कहा जाता है।

भावकी पराकाष्ठा श्रीराधारानीमें

'भाव' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ है—'भक्ति'। वस्तुतः महाभाव-स्वरूपा श्रीराधाजी ही समस्त भक्तिस्वरूपोंका मूल स्रोत हैं। अतएव श्रीराधाके परिचयमें भक्तिकी समस्त अवस्थाओंका परिचय स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। जैसे सम्पूर्ण रसोंके अधिपति श्रीकृष्णसे सब रसोंका प्रकाश है, वैसे ही एक मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधारानीसे ही अव्यक्त-व्यक्त, अमूर्त-मूर्त—सभी भावोंका, भक्तियोंका विकास-विस्तार होता है और वह तदनुरूप रसतत्त्वको प्राप्त करवा देता है। ह्लादिनी, प्रेम, भाव, महाभाव, प्रीति, अनुरक्ति आदि सब एक श्रीराधारानीके ही अमूर्त भावविशेष हैं।

भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव रूढ और अधिरूढ भेदसे दो प्रकारका है। श्रीकृष्णमें बद्धमूल कान्त (श्रेष्ठ) भाव 'रूढ-महाभाव' है। और जिस अवस्थामें श्रीकृष्णके दर्शन-स्पर्शनादि सुखकी तुलनामें अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत भूत-भविष्य-वर्तमानके समस्त सुख तथा ब्रह्मानन्दपर्यन्तमें कोई लेशमात्र भी सुख नहीं रह जाता और जिस अवस्थामें श्रीकृष्णके अदर्शनादिजनित दुःखकी तुलनामें करोड़ों-करोड़ों साँप-बिच्छू आदिके द्वारा डँसे जानेका तथा नरकादिका घोर कष्ट भी लेशमात्र दुःख नहीं है—यह अनुभव होता है, उस अवस्थाको 'अधिरूढ महाभाव' कहते हैं। यह अधिरूढ महाभाव भी 'मोदन' तथा 'मादन' रूपमें दो प्रकारका है। मोदन महाभाव केवल श्रीराधायूथमें ही सम्भव है। इसीको विरह-दशामें 'मोहन' कहा जाता है।

इस मोदन महाभावसे भी अत्यन्त उत्कृष्ट है—ह्लादिनी महाशक्तिका स्थिरांश 'मादन' नामक महाभाव, जो केवल श्रीराधा-रानीमें ही नित्य विराजित है—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

(उज्ज्वलनीलमणि १४।२१९)

"प्रेमकी जिस अवस्थामें सब प्रकारके भावोंका पूर्ण विकास होता है और जो स्वरूपाशक्ति ह्लादिनीका सर्वोत्तम एकमात्र सार है, वह परात्पर 'मादन' नामक महाभाव एकमात्र श्रीराधामें ही सदा-सर्वदा प्रकट रहता है"—

*

रागात्मिका भक्ति

रागात्मिका भक्तिके दो प्रकार हैं—'सम्बन्धरूपा' और 'कामरूपा'। जिस रागात्मिकामें पिता-माता-बन्धु-स्वामी आदि कोई सम्बन्ध कृष्णसेवामें कारण और नियामक है—उसे 'सम्बन्धरूपा' कहते हैं और नित्यसिद्ध रागवश जो कृष्णसुखतात्पर्यमयी सेवाकी कामनामें तन्मय होकर सर्वनिरपेक्ष भावसे, किसी भी सम्बन्धकी अपेक्षा न रखकर सेवा करते हैं, उनकी रागात्मिका भक्तिको 'कामरूपा' कहते हैं। उनकी कृष्णसेवामें प्रवर्तक केवल 'काम' ही होता है। यह काम है—केवल 'श्रीकृष्णसुखतात्पर्यमयी सेवाकी विशुद्ध वासना'। अतएव यह 'इन्द्रियसुखवासनायुक्त काम' नहीं है, यह 'त्यागमय विशुद्ध प्रेम' है। इसीलिये—

—प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

"गोपसुन्दरियोंके प्रेमको ही 'काम'के नामसे कहा जाता है।"

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके साधु-परित्राण, दुष्कृतविनाश, धर्मसंस्थापन आदि अनेक विभिन्न प्रयोजन होनेपर भी उनके माधुर्यमय स्वरूपका मुख्य मधुर प्रयोजन है—'स्वरूपाशक्ति श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा श्रीव्रजसुन्दरियोंके पवित्र प्रेम-रसानन्दका आस्वादन' और 'स्वरूपभूत अपने प्रेमरसानन्दका वितरण'।

इसके अनेक स्वरूप हैं—जैसे—१. अपने स्वरूपके प्रति अपनी स्वरूपाशक्ति श्रीराधाका जो विलक्षण प्रेम है, उसकी महिमाका आस्वादन, २. एकमात्र श्रीराधामें ही प्रकट मादनाख्य महाभावके द्वारा आस्वाद्य स्वरूपके आश्चर्य-चमत्कारमय विलक्षण अपने ही

माधुर्यका आस्वादन और ३: श्रीराधाके रूपमें अपनेसे (श्रीकृष्णसे) भी अनन्तगुना अधिक श्रीकृष्णसेवा-माधुर्यका आस्वादन ।

भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके इस मुख्य प्रयोजनकी सिद्धिका परम आधारभूत तथा क्रियात्मक एकमात्र दिव्य साधन हैं—रस-सुधा-सागरकी अनन्त विचित्र तरंगोंसे आप्लावित-हृदय सर्वत्यागमयी श्रीराधा ।

मादन-अवस्थामें प्रेमरसके विचित्र आस्वादन

श्रीराधाकी मादनाख्य सर्वश्रेष्ठ भक्तिकी 'गाढ़ तृष्णा' और 'इष्टमें परमाविष्टमति'— इन दो भावोंके कारण श्रीराधा तथा 'समर्था' रतिवती श्रीगोपाङ्गनाओंकी 'प्रियतम-सुख-तात्पर्यमयी' सहज स्वाभाविक चेष्टारूपी सुधारस-तरगें नित्य नये-नये रूपोंमें तरंगित होती रहती हैं । यहाँतक कि प्रियतम श्रीकृष्णके 'नाम', उनकी कण्ठध्वनि तथा उनके स्वरूप आदिके तनिक-से बाह्य सम्बन्धमात्रसे ही श्रीराधाकी उन्मादावस्था हो जाती है और वे विश्वविस्मारिणी उस मत्तस्थितिमें ही मधुरतम प्रियतम-प्रेम-पीयूषका आस्वाद प्राप्त करती रहती हैं । दो तरंगोंके दर्शन कीजिये—

१. एक बार दो सखियोंके साथ श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुर-चर्चा कर रही थीं कि उन्होंने किसीसे 'कृष्ण' यह मधुर नाम सुना । नामके इन अक्षरोंके सुनते ही उस नामके नामीके प्रति मनमें प्रेम उमड़ चला । इसी समय मधुर वंशीध्वनि सुनायी दी । उसके कानमें पड़ते ही वंशीवालेके प्रति मनमें प्रीति उछलने लगी । इसी बीच किसीने श्रीकृष्णका चित्र उन्हें दिखा दिया ।

चित्र देखते ही उनके मनमें जिसका चित्र है, उसके प्रति अकस्मात् आत्यन्तिक रतिका उदय हो आया। राधारानी जानती भी नहीं हैं कि यह दिव्य सुधा-मधुर 'कृष्ण' नाम किसका है, मधुर मुरलीमें किसका मधुर-मनोहर कण्ठस्वर सुनायी दे रहा है और चित्रमें अङ्कित मनोहर मूर्ति किसकी है। आश्चर्यकी बात यह है कि इसके पता लगानेकी जरा भी अपेक्षा न रखकर तीनोंके ही द्वारा एक ही कालमें राधारानी-का चित्त अनिवार्यरूपसे अपहृत हो गया, तब राधारानी अपनेको धिक्कारती हुई बोलीं—

> एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
> सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
> एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः परो वीक्षणात्
> कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिं श्रेयसीम्॥
>
> (विदग्धमाधव, अङ्क २।९)

"एकके—'कृष्ण' इस नामके अक्षर कानोंमें पड़ते ही मेरे मनको लूट लेते हैं, दूसरेकी वंशीध्वनि घनीभूत उन्माद-परम्पराकी प्राप्ति करा देती है और स्निग्ध मेघश्याम कान्तिवाला पुरुष तो एक बारके दर्शन-मात्रसे मेरे हृदयमन्दिरमें आ बसा है। छिः! कितने कष्टकी बात है कि तीन पुरुषोंमें मेरा प्रेम हो गया। इस अवस्थामें तो मर जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।"

२. श्रीराधारानी एक दिन निकुञ्जमें बड़े प्रेमसे प्रियतम श्यामसुन्दरको भोजन करा रही थीं। उन्होंने अपने कर-कमलोंसे

कई प्रकारके षड्रस-युक्त पदार्थ बनाये थे; वे बड़े चाव तथा मनुहारसे उन्हें परोस रही थीं और प्रियतम सराह-सराहकर मधुर मुसकाते तथा आदर्श विनोद करते हुए भोग लगा रहे थे। इसी बीच एक सखा वहाँ आ गया और उसने कहा—'प्यारे कन्हैया! मैंने तो सुना था—'श्यामसुन्दर अभी कालिन्दी-कूलपर क्रीड़ा कर रहे हैं, तुम यहाँ कैसे कब आ गये?' सखाके वचनोंमें 'मैंने सुना था' यह वाक्य तथा 'तुम यहाँ कैसे कब आ गये?' यह वाक्य तो राधाको सुनायी ही नहीं दिये, उनके कानमें केवल यह वाक्य पहुँचा—'श्यामसुन्दर अभी कालिन्दी-कूलपर क्रीड़ा कर रहे हैं।' बस, राधाको प्रेमवैचित्त्य-दशा प्राप्त हो गयी। वे भूल गयीं कि श्यामसुन्दर यहीं विराजित हैं और भोजन कर रहे हैं; वे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और बोलीं—

'याद पड़ रहा है आये थे, भोजन करने मोहन श्याम।
परस रही थी मैं उनको अति रुचिकर भोज्यपदार्थ तमाम॥
यह मेरा भ्रम था, माधव तो खेल रहे कालिन्दी-कूल।
आये क्यों न अभी? क्या क्रीड़ामें वे गये सभी कुछ भूल॥
भूले होंगे, कैसे उन्हें बुलाऊँ अब मैं यहाँ तुरंत?
हृदय विदीर्ण हो रहा, कैसे हो इस मेरे दुखका अन्त॥
बना-बनाया भोजन क्या यह नहीं आयगा प्रियके काम?।
क्या वे इसे धन्य करनेको नहीं पधारेंगे सुखधाम?'॥
माधव सुन हँस रहे प्रियाका यह मधु प्रेमविलाप-विलास।
बोले—'राधे! चेत करो, देखो, मैं रहा तुम्हारे पास॥
छोड़ दिया क्यों तुमने वस्तु परसना, होकर व्यर्थ उदास?
भूखा मैं यदि रह जाऊँगा, होगी तुम्हें भयानक त्रास'॥

यों कह, मृदु हँस, माधवने पकड़ा राधाका कोमल हाथ ।
चौंकी, बोली—'हाय ! हो गयी मुझसे बड़ी भूल यह नाथ !' ॥
कैसी मैं अधमा हूँ, जो मै भ्रमसे गयी जिमाना भूल ।
व्यर्थ मान बैठी, प्रिय ! तुम हो खेल रहे कालिन्दी-कूल ॥
लगी प्रेमसे पुन. परसने विविध स्वादयुत वस्तु ललाम ।
भोग लगाने लगे, मधुर लीला पर हँसकर प्रियतम श्याम ॥

इस प्रकार राधारानीके प्रेम-रस-सागरमें अनेक नयी-नयी तरंगें उठ-उठकर उन्हें नित्य नवीन प्रेमानन्द-रसका आस्वादन कराती रहती हैं । पर इन सबमें सहज उद्देश्य होता है—एक ही प्रियतम श्रीकृष्णका सुख-सम्पादन । राधाके जीवनका सब कुछ एकमात्र इसीलिये है ।

महत्त्व और प्रार्थना

भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाके महत्त्व तथा उपासनाके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें और भक्त-संतोंकी वाणीमें बहुत कुछ लिखा गया है । यहाँ 'पद्मपुराण, पातालखण्ड'के कुछ शब्द उद्धृत किये जा रहे हैं, जो भगवान् शंकर और भगवान् श्रीकृष्णके संवादके हैं । श्रीमहादेवजीको मनोहर यमुनाजीके तटपर सर्वदेवेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके इस रूपमें दर्शन होते हैं—"उनकी किशोर अवस्था है, मनोहर गोपवेष है, प्रिया श्रीराधिकाजीके कंधेपर अपनी मनोहर वाम भुजा रक्खे हैं, असंख्य गोपियोंसे घिरे हुए हैं, मधुर-मधुर हँस रहे हैं और सबको हँसा रहे हैं । उनके शरीरकी कान्ति सजल जलदके सदृश स्निग्ध श्याम-वर्ण है । वे कल्याणगुणधाम हैं ।'

उन्होंने हँसते हुए भगवान् शंकरसे कहा—'रुद्र ! आपने आज जो मेरे इस अलौकिक दिव्य रूपका दर्शन किया है, उपनिषद् मेरे इसी घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्द-विग्रहको अरूप (निराकार) निर्गुण, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजनित गुण नहीं हैं और मेरे गुण (प्राकृतिक दृष्टिसे) सिद्ध नहीं हैं, इसीसे सब मुझको 'निर्गुण' कहते हैं। मेरा कहीं अन्त नहीं है, इससे लोगोंके द्वारा मैं 'ईश्वर' कहा जाता हूँ। महेश्वर ! मेरा यह रूप (प्राकृतिक—पाञ्चभौतिक न होनेके कारण) चर्मचक्षुओंसे इसे कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद मुझे अरूप या 'निराकार' बतलाते हैं। मैं ही चेतन-अंशके रूपमें सर्वव्यापी हूँ, इससे पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और मैं विश्व-प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, इससे बुधजन मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं। शिव ! वास्तवमें ही यह विश्व-सृष्टि आदि कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश-गण ही माया-गुणके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते रहते हैं।"

फिर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मैं सदा ही इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल रहता हूँ—× × × ये मेरी प्रिया हैं, इनका नाम राधिका है। इनको परम देवता समझो; मैं इनके वशीभूत रहकर सदा ही इनके साथ लीला-विहार करता रहता हूँ।'

इसके बाद, गोपीगण, नन्द-यशोदा, गौ तथा वृन्दावन आदिकी महिमा बतलानेके पश्चात् भगवान् महादेवके द्वारा युगलस्वरूपके साक्षात्कारका उपाय पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'रुद्र ! जो एक बार हमारी शरणमें आ जाता है, वह दूसरे उपाय छोड़कर निरन्तर हमारी ही उपासना करता है। × × जो एकमात्र मेरी प्रिया (राधा) की अनन्यभावसे सेवा करता है, वह बिना किसी साधनके निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है।× × अतएव यदि कोई मुझे वशमें करना चाहे तो सब प्रकारसे प्रयत्न करके मेरी प्रियाके शरणापन्न हो—'

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।

(पद्मपुराण, पाताल० ५१। ८६)

अतएव हम सबको भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रियतमा, विशुद्ध प्रेमकी घनीभूतमूर्ति श्रीराधारानीके चरणोंमें विनयपूर्वक प्रणाम करके उनके शरण होना है और उनके प्राकट्य-महोत्सवके शुभ मङ्गल-दिवसपर उनकी जय-जयकार करते हुए उनसे प्रेमकी भीख माँगनी है—

रसस्वरूप श्रीकृष्ण परात्पर, महाभावरूपा राधा।
प्रेम विशुद्ध दान दो, कर करुणा अति, हर सारी बाधा॥
सच्चा त्याग उदय हो, जीवन श्रीचरणोंमें अर्पित हो।
भोग-जगत्‌की मिटे वासना, सब कुछ सहज समर्पित हो॥
लग जाये श्रीयुगलरूपमें मेरी अब ममता सारी।
हो अनन्य आसक्ति, प्रीति शुचि, मिटे मोह-भ्रम-तम भारी॥
जय हो पूर्ण परात्पर रस माधव मोहनकी जय जय हो।
जय हो महाभावरूपा राधारानीकी जय जय हो॥

जय जय श्रीराधारानीकी जय जय

श्रीराधामाधव-युगलोपासना

भारतीय सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही हैं। (ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते) विभिन्न उपासक-सम्प्रदाय उस एक ही परम तत्त्वकी विभिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न उपासना-पद्धतियोंसे उपासना करते हैं। वह ब्रह्मतत्त्व नित्य स्वरूपभूत शक्तिसे समन्वित है। यह अवश्य है कि सभी लोग उस शक्तिको स्वीकार नहीं करते। शक्ति न माननेवाले लोग ब्रह्मको 'निर्विशेष' या 'निर्गुण' कहते हैं और शक्ति माननेवाले 'सविशेष' या 'सगुण'। इनमें भी दो भेद हैं—एक 'निराकारवादी', दूसरे 'साकारवादी'। निराकारवादी भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक बतलाते हैं और साकारवादी उपासक उन्हें अपने-अपने भावानुसार लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर,

सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि दिव्य युगल-स्वरूपोंमें भजते हैं। वस्तुतः नारायण, विष्णु, महेश्वर, राम, कृष्ण—सब एक ही तत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं। इसी प्रकार इनकी शक्तियाँ—श्रीलक्ष्मी, उमा, सीता, राधा आदि भी एक ही भगवत्स्वरूपा महाशक्तिके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है, इसीसे वह शक्तिमान् है और इसीसे वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह नित्य युगलस्वरूप संसारके पृथक्-पृथक् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों या पदार्थोंके समान नहीं है। जो हैं तो सर्वथा परस्पर निरपेक्ष भिन्न-भिन्न, पर एक समय एक साथ मिल जानेपर उन्हें 'जोड़ी' या 'युगल' कहते हैं। भगवान् वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् दो प्रतीत होते हैं। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। शक्ति है तो शक्तिमान् है और शक्तिमान् है तो उसमें शक्ति रहती है। सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति, चन्द्रमा और उसकी चाँदनी, जल और उसकी शीतलता, पद और उसका अर्थ—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी नित्य अविनाभाव-युगलभाव है। वस्तुतः 'शक्ति-समन्वित' और 'शक्तिविरहित' कहना भी नहीं बनता। शक्ति ब्रह्मका अभिन्न स्वरूप ही है। जिस समय वह शक्ति अभिव्यक्त होकर लीलायमान नहीं होती, उस समय 'शक्तिविरहित' और जिस समय अभिव्यक्त होकर लीला करती है, उस समय उसे 'शक्ति-समन्वित' कहते हैं। शक्तियुक्त भगवत्स्वरूपके दो प्रकार हैं—

'सगुण निराकार' और 'सगुण साकार'। वस्तुतः शक्ति उनके स्वरूपगत होनेसे 'समन्वित' और 'विरहित'का खास कोई अर्थ नहीं रह जाता।

वेदमूलक उपनिषद्‌में परमतत्त्वके दो स्वरूप बताये गये हैं—एक 'सर्वातीत' दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपके द्वारा ही 'सर्वातीत' का पता लगता है और 'सर्वातीत' स्वरूप ही 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपका आश्रय है। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्‌के दिव्यदृष्टि प्राप्त ऋषियोंने ब्रह्मके एक अद्वितीय देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अतीत, सच्चिदानन्द-तत्त्वकी उपलब्धि की और किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य न पाकर यह कहा कि 'वह कभी न दीख सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न वर्ण है, न उसके आँख-कान और हाथ-पैर आदि हैं।'—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।'
(मुण्डक० १।१।६)

वहाँ, उसी समय उसी देशकालातीत, अवस्थापरिणामशून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर, शान्त, शिव एकमात्र अनन्त सत्तास्वरूप परमात्माको ही सर्वकाल और सम्पूर्ण देशोंमें नित्य विराजित देखा। यहाँतक कि ध्यानयोगमें उन्होंने उसी परमदेव परमात्माकी उस

दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिको भी प्रत्यक्ष देखा, जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है, तब उन्होंने यह निश्चय किया कि कालसे लेकर आत्मापर्यन्त सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी और प्रेरक, सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
(श्वेताश्व० १ । ३)

इस प्रकार एक ही ब्रह्म परमात्मा या भगवान् 'सर्वातीत' भी है और 'सर्वरूप' भी है । वह 'सर्वातीत' परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेद-परिणामशून्य, अद्वय परमात्मा ही चराचर भूतमात्र-की योनि है और अनन्त विचित्र सृष्टिका एकमात्र अभिन्न निमित्तो-पादान कारण है । 'नित्य सर्वातीत' और 'नित्य सर्वगत' स्वरूप ही उसकी महनीय भगवत्ता है । वस्तुतः भगवान्‌का नित्य एक रहना और नित्य अनन्त रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करके सम्भोग करना सब भगवान्‌के ऐसे एकमात्र नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है । उनका एक रहना और फिर अनन्त रूपोंमें प्रकट हो जाना न तो अद्वैतसे द्वैत स्थितिमें आना है और न एकत्वसे बहुत्वकी अवस्थामें बदल जाना ही है । उनकी नित्य स्वरूप-सत्तामें किसी कालका प्रभाव नहीं है, न कोई अवस्था या स्थितिका भेद है । वे एकमात्र

सच्चिदानन्दघन भगवान् नित्य अभेदभूमिमें ही परस्परविरोधी गुण-धर्मोंको आलिङ्गन किये हुए है। वे अपने सर्वातीत विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी अनन्ताश्चर्यमयी अनन्तवैचित्र्य-प्रसविनी शक्तिके द्वारा अपने-आपमें ही अनन्त विश्वका सृजन करके अपने-आप ही उसका सम्भोग करते हैं। उन्होंने रमणके लिये दूसरेकी इच्छाकी अपनेको ही एकसे दो कर दिया, पति-पत्नी हो गये।

'·····स द्वितीयमैच्छत् स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।' (बृहदारण्यक उप० १।४।३)

इस मन्त्रका यह अभिप्राय नहीं है कि वे पहले अकेले थे, फिर वे मिथुन (दो····युगल) हो गये, क्योंकि उनके लिये काल-परम्परासे अवस्था-भेदको प्राप्त होना सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगल-स्वरूपमें ही उनका नित्य-पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनादि अनन्त अनवरत आस्वादन—नित्य रमण चल रहा है। इस नित्य युगल-स्वरूपमें ही वे दिव्य चिन्मय 'रस' और 'भाव' रूपमें व्यक्त और अव्यक्तभावसे नित्य लीलायमान हैं। अवश्य ही उनकी इस लीलामें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश न तो भौतिक देहेन्द्रिय-भेद है, न कोई अनित्य लौकिक जड-सम्बन्ध ही है। इसलिये वे न 'रमण' हैं न 'रमणी' हैं। पुरुषरूपमें भगवान्‌का निर्विकार निष्क्रिय भाव है। वे नित्य सर्वातीत सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारीरूपमें उन्हींकी

सर्वकारणात्मिका अनन्त लीलामयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। वे नित्य अनन्तरूपा लीला-विलासिनीके रूपमें अभिव्यक्त हैं। इस नारीभावकी लीलाभिव्यक्ति ही उनके अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है। इसी मधुरतम लीलामें 'रस' और 'भाव' का माधुर्य प्रकट होता है और उसीका पूर्णतम स्वरूप है—श्रीकृष्ण और श्रीराधा। वे दोनों नित्य अभिन्न हैं और नित्य दिव्य चिन्मय रसविग्रह और नित्य दिव्य चिन्मय भावविग्रहके रूपमें अपने स्वरूपभूत परमानन्दमय लीलारसके आस्वादनमें संलग्न हैं। श्रीकृष्ण 'रसराज' हैं और श्रीराधा 'महाभाव' हैं। वस्तुतः इनके लीला-रसास्वादनमें आस्वाद, आस्वादन और आस्वादक तीनों वे स्वयं ही हैं, उनके नित्य-स्वरूपका ही यह लीलाविलास है। भगवान् श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा है—

> यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
> यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
> यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सततम्॥

'जो तुम हो, वही मैं हूँ, हम दोनोंमें कदापि किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है, वैसे ही मैं निरन्तर तुममें हूँ।'

मधुर भक्तिरसके पाँच भाव मुख्यतया माने गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें सर्वात्म-निवेदन पूर्ण होनेके कारण 'मधुर' भाव ही परिपूर्णतया सर्वश्रेष्ठ है। शान्तभाव तो मधुर भक्तिरसकी भूमिका है, क्योंकि उसमें मन-

इन्द्रियोंका पूर्ण संयम होकर भगवान्‌में ही उनकी नित्य संलग्नता हो जाती है। पर भगवान्‌के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये उसे मधुरभावके अन्तर्गत नहीं माना जाता। दास्य, सख्य; वात्सल्यमें सम्बन्धयुक्त प्रीति होती है। मधुरमें उसका पूर्ण पर्यवसान है। यह मधुरभाव जहाँ पूर्णरूपसे लीलायमान तथा आत्यन्तिकरूपसे अभिव्यक्त होता है, वही 'महाभाव' है और वही श्रीराधाजीका रूप है। रस-साम्राज्यमें प्रेमका विकास होते-होते 'महाभाव' तक पहुँचना होता है। उसके आठ स्तर माने गये हैं—प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। विषयी लोगोंके मनमें निज-सुखकी नित्य कामना रहती है। वे दूसरोंके साथ जो सद्भाव, सद्व्यवहार, त्याग, संयम आदि करते हैं, सब इस सुख-कामनाको लेकर ही करते हैं। अतएव वहाँ वास्तविक पवित्र त्यागका सर्वथा अभाव है, इसलिये वह प्रेम नहीं है। वह तो काम है, जो प्रेम-साम्राज्यमें सर्वथा हेय तथा त्याज्य है।

संसारमें इस समय ऐसे बहुत तामसभावसे समावृत मूढ नराधम मनुष्य हैं, जो अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे कहा करते हैं—'हमारा चाहे जितना नुकसान हो जाय, पर उनका नाश करके छोड़ेंगे।' परंतु विषयासक्त तथा विषयकामी पुरुष ऐसा नहीं करते। वे अपना अनिष्ट करके दूसरोंका अनिष्ट करना नहीं चाहते, पर अपने लाभके लिये, अपने सुख-स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंके हितोंका नाश करके उन्हें दुःख

पहुँचाया करते हैं। यद्यपि उनको परिणाममें लाभ नहीं होता; क्योंकि जिस कार्यसे दूसरोंका अनिष्ट होता है, वह पापकार्य है और पाप सदा ही दुःखपरिणामी होता है। यह पशुभाव है। जैसे पशु प्रायः न तो दूसरेके दुःख-कष्टकी अनुभूति करता है और न किसीके द्वारा उपकार प्राप्त होनेपर उसके प्रति कृतज्ञताकी ही वृत्ति रखता है, इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य प्रायः अपने ही स्वार्थ और सुख-लाभकी बात सोचता है। दूसरे जीवोंके भी हृदय हैं, प्राण हैं, उन्हें भी सुख-दुःख होता है, इसकी ओर वह ध्यान नहीं देता। यही असुरभाव भी है। जहाँ मानवता जाग्रत् होती है, वहाँ ऐसा नहीं हुआ करता। इसीसे मनुष्यके लिये तीन ऋण या पाँच ऋण चुकानेके लिये त्यागका विधान है। त्यागवृत्तिसे ही मानवताका विकास होता है। अतः जो मनुष्य कुछ विवेकशील होता है, वह विषयकामी अविवेकी मनुष्यकी भाँति दूसरोंके अनिष्टके द्वारा अपना लाभ नहीं करना चाहता, पर वह अपने लाभमें यदि दूसरे किसीका अनिष्ट होता हो तो उसकी परवा नहीं करता। उससे आगे बढ़ा हुआ मनुष्य यह देखता है कि मुझे जिसमें लाभ होता है, इससे किसी दूसरेका अनिष्ट या हानि तो नहीं होती। यदि दूसरेका अनिष्ट होता है तो वह अपने लाभके लिये उस कार्यको नहीं करता। इससे आगे बढ़ा हुआ वह है जो अपने लाभका भी वही काम करता है, जिससे दूसरोंको भी लाभ होता है, इससे आगे चलकर बुद्धिमान् साधुहृदय मनुष्य वही काम करता है, जिससे केवल दूसरोंका लाभ होता हो। अपने लाभकी बात ही नहीं सोचता।

इससे आगे बढ़ा हुआ सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाता है। यद्यपि परिणाममें उसकी हानि होती नहीं, क्योंकि जिसमें दूसरोंका हित होता है वह पुण्यकर्म है और पुण्यकर्म परिणाममें सदा ही लाभप्रद होता है, यह निश्चित है। यों छः प्रकारके मनुष्य होते हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं—

(१) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे महापापी हैं।

(२) अपना लाभ चाहते हैं, दूसरोंके अनिष्टकी परवा नहीं करते।

(३) अपने लाभके लिये भी ऐसा काम नहीं करते, जिससे दूसरोंका अनिष्ट होता हो।

(४) अपने लाभके लिये ऐसा ही काम करते हैं जिससे दूसरोंको भी लाभ हो।

(५) दूसरोंके लाभका ही काम करते हैं। अपने लाभकी बात नहीं सोचते।

(६) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। ये सर्वश्रेष्ठ साधु हैं।

इनमें उत्तरोत्तर अशुभ कामनाका नाश तथा शुभ कामनाका विकास होता है। यही प्रेमके विकासका क्रम है। 'निज-सुख-साधन' की वृत्ति—'काम' है और 'पर-सुख-साधन' की वृत्ति—प्रेम है। काममें 'स्व' संकुचित है, अतएव उसमें त्यागका अभाव

है। प्रेममें 'स्व' अत्यन्त विस्तृत है, अतएव वह त्यागमय है। आज जगत्में जो व्यष्टि तथा समष्टिमें सर्वत्र कलहकी आग भड़क रही है, इसका प्रधान कारण 'स्व-सुख-कामनाका विस्तार' तथा 'पर-सुख-कामनाका अभाव' है। आजका जगत् कामविषकलुषित है, प्रेम-पीयूष-परिभावित नहीं है। मधुर भक्तिभावके सर्वप्रथम 'शान्त-भाव'में ही काम-कलुषका अभाव हो जाता है। तदनन्तर आगे बढ़कर इसका विकास होते-होते जब सर्वत्यागमय सर्वात्मनिवेदनपूर्ण मधुरभावका प्रादुर्भाव होता है, तब तो स्व-सुख-कामनाकी कल्पना-का लेश गन्ध भी नहीं रहता, केवल 'प्रियतमसुखमय जीवन' होता है। यही यथार्थ प्रेम है।

इस प्रेम-विकासके उपर्युक्त आठ स्तर हैं—

विषयभोगोंके त्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी जिस पवित्र अनुपम अनन्य वृत्तिका उदय होता है, वह प्रेम है।

वह प्रेम अपने विषय (प्रियतम श्रीकृष्ण) को पाकर जब चित्तको द्रवित कर देता है, तब प्रेमीजनके उस भावको 'स्नेह' कहा जाता है। दीपक जब घृतसे भरा होता है, तब उसमें जैसे उष्णता और ज्योति बढ़ती है, वैसे ही स्नेहके उदयसे हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी पवित्र लालसा बढ़ती है।

जिसमें सर्वथा नवीन अत्यन्त माधुर्यका अनुभव होता है, स्नेहके इस प्रकारके उत्कर्षको 'मान' कहते हैं। श्रीकृष्ण प्रियतमको अधिक सुख देनेके लिये हृदयके भावको छिपाकर, जिसमें वक्रता

और वामताका उदय होता है, मनकी उस मधुर स्थितिका नाम 'मान' है ।

ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे जब मान उत्कर्षको प्राप्त होता है, तब प्रियतमसे अभिन्नता बढ़ जाती है और हृदयमें महान् हर्ष छा जाता है । इस अवस्थामें प्राण, मन, बुद्धि, शरीर, खान-पान तथा वस्त्राभूषण आदि सभीमें प्रियतमसे कुछ भी पृथक्ता नहीं रह जाती, तब उसको 'प्रणय' कहते हैं । प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशामें जब दुःख भी परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अपार दुःखमय प्रतीत होते हैं, यों 'प्रणय' जब उत्कर्षको प्राप्तकर इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब उस पावन प्रेमका नाम 'राग' होता है ।

जब नित्य अनुभूत प्रियतम श्रीकृष्ण प्रतिपल नये-से-नये दिखायी देते हैं, प्रतिपल वे अधिक-अधिक अत्यन्त महान्, अनुपम, पवित्र, सरल, सुन्दर और मधुर दिखायी देते हैं, राग जब उत्कर्षको प्राप्त होकर सीमातीत रूपसे बढ़ जाता है, तब जो ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे 'अनुराग' के नामसे कहे जाते हैं ।

जब प्राणत्यागसे भी अधिक अत्यन्त घोर तथा कठिन दुःख सर्वथा तुच्छ हो जाता है, वरं प्रियतम श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय एवं नित्य वाञ्छनीय हो जाता है और श्रीकृष्णमिलन एवं एकमात्र उनके सुखके लिये मनमें अपरिमित चाव बढ़ जाता है, तब वह बढ़ा हुआ 'अनुराग' ही मङ्गलमय मधुरतामय 'भाव' नाम धारण करता है ।

यह भाव जब उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उस परम मधुरतम, परम निर्मल, परम विशुद्ध, सर्वदिव्य-पवित्र 'भाव' को 'महाभाव' कहते हैं। इस महाभावके परमोज्ज्वल, नितान्त पवित्र, निर्मल दिव्य स्वर्गसदृश 'मोदन' और 'मादन' दो सर्वोच्च स्तर हैं, जो प्रेमके पूर्ण प्राकट्यका परिचय देते हैं। इनमें 'मादन' नामक 'महाभाव' परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। इसका प्रकाश केवल श्रीराधाजीमें ही है। स्नेहसे मोदनतक सभी स्तर श्रीकृष्णमें तथा समस्त व्रजाङ्गनाओंमें—मधुरभावमयी रागात्मिका प्रीतिसे संयुक्त—गोपरमणियोंमें हैं। व्रजसुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरोंके प्रेमसे श्रीकृष्ण-सुखार्थ, जो श्रीकृष्णकी नित्य-नवोत्साहपूर्वक सहज सेवा—उपासना करती हैं, श्रीराधाजी उनमें मुख्य तथा सर्वप्रधान श्रीकृष्णसेविका या श्रीकृष्णाराधिका हैं। अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'विषय' हैं। साथ ही इस प्रेमके समस्त स्तर श्रीकृष्णमें भी हैं। अतएव वे इस प्रेमके 'आश्रय' भी हैं अर्थात् वे भी व्रजसुन्दरियोंको सुख पहुँचाना चाहते हैं। गोपरमणियोंमें श्रीराधा 'मादनाख्य महाभाव' रूपा हैं। इसलिये वे परम आश्रयरूपा हैं और वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर उससे अनन्तगुना सुख लाभ करती हैं। श्रीराधाजीके इस सुखकी स्थितिपर विचार करके श्रीकृष्ण इस प्रेमके आश्रय बनते हैं और वे नित्य श्रीराधाको आराध्या मानकर उनकी सेवा-उपासना करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। यह उनका परस्पर आश्रय-विषय-सम्बन्ध नित्य है। यही प्रेमका वह सर्वोच्च स्तर है, जहाँतक मानवबुद्धि अनुमान लगा सकती है। यों तो वास्तविक प्रेम उत्तरोत्तर

प्रतिक्षण वर्धनशील है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अचिन्त्य भी है। इस प्रेमके मूर्तिमान् दिव्य चिन्मय विग्रह श्रीराधा-कृष्णयुगल हैं। यही इनका युगल-स्वरूप है। प्रेमी साधक इन्हीं श्रीराधा-माधवयुगलकी उपासना किया करते हैं।

साधक अपनी रुचि तथा स्थितिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके या श्रीराधाके एक रूपकी भी उपासना कर सकते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीराधा नित्य एक हैं और वे एक दूसरेमें सदा समाये हुए हैं; अतएव एककी उपासनासे दोनोंकी उपासना हो जाती है। तथापि साधक चाहें तो एक साथ 'युगल-स्वरूप' की उपासना कर सकते हैं। पर स्मरण रखना चाहिये कि युगल-स्वरूपकी उपासना साधक अपनी-अपनी रुचिके अनुसार श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीगौरीशङ्कर, श्रीसीताराम, श्रीराधा-माधव आदि किसी भी युगलस्वरूपकी कर सकते हैं। भगवान् तथा भगवती-जैसे शक्तिमान् तथा शक्तिके रूपमें सदा एक हैं, वैसे ही भगवान्‌के सभी लीलारूप तथा भगवतीके सभी लीलारूप भी एक ही परमतत्त्वके विभिन्नस्वरूप हैं।

श्रीराधा-माधव दोनों मङ्गलस्वरूपोंके पृथक्-पृथक् विग्रहकी चित्रपट, मूर्ति अथवा मानस—किसी भी रूपमें उपासना की जा सकती है। पर उसमें श्रीराधा-माधवकी धारणात्मक मूर्तियाँ अनन्य असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यमयी होनी चाहिये। श्रीराधा-माधव अनन्त दिव्य रस-समुद्र हैं।

> कोटि-कोटि शत मदन-रति सहज विनिन्दक रूप।
> श्रीराधा-माधव अतुल शुचि सौन्दर्य अनूप॥

मुनि-मन-मोहन, विश्वजन-मोहन मधुर अपार।
अनिर्वाच्य, मोहन-स्वमन, चिन्मय सुख रस-सार ॥
शक्ति, भूति, लावण्य शुचि, रस, माधुर्य अनन्त।
चिदानन्द-सौन्दर्य-रस-सुधा-सिन्धु श्रीमन्त ॥

श्रीमाधव नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय नीलकान्तिमय परमोज्ज्वल मरकतमणि हैं और श्रीराधा नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय स्वर्णकेतकी-सुमन हैं। दोनों ही अपने-अपने सौन्दर्य-माधुरीसे परस्पर नित्य आकर्षणशील हैं। दोनों ही दोनोंके गुणोंपर नित्य मुग्ध हैं। एक ही परमतत्त्व दो रूपोंमें अपने-अपने अन्तरके मधुरतम भावोंसे एक दूसरेके प्रति लोलुप होकर निरुपम निरुपाधि अनिर्वचनीय सुषमासे सम्पन्न और परस्परके मधुरतम सुखविधानमें संलग्न हैं।

इन श्रीराधा-माधवके सर्वविध सात्त्विक शृंगारयुक्त दिव्य चिन्मय युगल-विग्रहकी उपासना साधक अपने-अपने भावानुसार कर सकते हैं।

युगल-स्वरूपके उपासकोंको उपासनासे पूर्व गौण रूपसे कायिक, वाचिक, मानस—तीन व्रतोंसे युक्त होना चाहिये।

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर ॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये ॥

देवर्षि नारदजीने राजा अम्बरीषसे कहा है—

'राजन् ! दिनभरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे खा लेना और रातको उपवास करना—(अर्थात् जीभको वशमें रखना) यह 'कायिक व्रत' कहलाता है। वेदका (वेदमूलक शास्त्रोंका, संत-वाक्योंका) अध्ययन, भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन-कथन, सत्य (अनुद्वेगकारक, प्रिय-मधुर और हितकारक) भाषण और किसीकी भी निन्दा-चुगली न करना—यह 'वाचिक व्रत' कहलाता है और अहिंसा (किसीका भी अनिष्ट-चिन्तनतक न करना) किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे ब्रह्मचर्यका पालन करना तथा कपट, दम्भ न करना 'मानसव्रत' है।'

साधकको शरीरसे या मनसे ही श्रीराधा-माधव-तत्त्वके ज्ञाता प्रेमस्वरूप सद्गुरुकी सेवामें रहकर उनसे दीक्षा लेनी चाहिये। कान फूँकनेवाले तथा मान, द्रव्यादिकी आशासे गुरु-पदका ग्रहण करनेवाले यथार्थ गुरु नहीं होते। यहाँ श्रीकृष्ण-प्रेममय पुरुष ही गुरु हैं। उनके संक्षेपमें ये लक्षण हैं—

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

'गुरु उन्हें कहते हैं, जो शान्त (चित्त) हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई भी प्रयोजन न हो, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हों, श्रीकृष्णके रस-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्र जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हों, श्रीकृष्णके मन्त्रका ही सदा आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे, मनमें तथा व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारमें लगानेवाले हों, श्रीराधामाधव-तत्त्व जाननेवाले सम्प्रदायमें हों और जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो एवं जो भुक्ति-मुक्ति दोनोंमें ही राग न रखते हों।'

साधकको कृतज्ञता, निरभिमानिता, नियमानुवर्तिता, विनय, सरलता, श्रद्धा और सेवा आदि गुणोंसे युक्त होकर गुरुदेवसे रहस्य जानना तथा तदनुसार आचरण करना चाहिये। शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'गुरुदेव ऐसे साधकको ही यह परम रहस्यमय विषय बतलावें जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हो'—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिने।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

साधकको तन-मन-वचनका संयम रखते हुए चातककी एक निष्ठाकी भाँति श्रीराधामाधव-युगलका ही अनन्य आश्रय रखना और उन्हींसे प्रेमयाचना करनी चाहिये। तथा—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा ।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैककाङ्क्षिणी ॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च ।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाऽऽचरेत् ॥

'जैसे बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई तथा एकमात्र उसीके संगकी आकाङ्क्षा करती हुई, दीन होकर, सदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके ही गुणोंको गाती-सुनती है, वैसे ही अधिकारी साधकको एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये ।'

साधकको सर्वथा 'कामविजयी' होना चाहिये । कामी मनुष्य दिव्य श्रीराधा-माधव-युगलकी मधुर उपासनाका कदापि अधिकारी नहीं है । साथ ही, उसे दम्भ, द्रोह, द्वेष, कामना, लोभ तथा विषयासक्ति—इन छः दोषोंसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये । असत्संग (धन, स्त्री, मान, विषय-वासना बढ़ानेवाले दृश्य, साहित्य, पदार्थ, व्यक्ति एवं वातावरण तथा इनके संगियों) का परित्याग, इन्द्रिय-सुखकी वासनाका त्याग, जनसंसर्गमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-चरित्र लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी सर्वथा विरक्ति तथा उपरति और निजसुख (इहलोक-परलोकके समस्त भोग तथा मोक्ष) की इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

इस प्रकार करनेवाला श्रद्धालु साधक ही श्रीराधामाधव-युगलकी उपासनाका और उनके प्रेमका अधिकारी है ।

अब यहाँ श्रीराधामाधव-युगलकी पूजाकी संक्षिप्त विधि लिखी जाती है। मानस या श्रीविग्रहकी स्थापना कर साधक पूजा कर सकते हैं।

श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तीरपर अनेक प्रकारके वृक्ष-लताओंका एक बृहत् वनकुञ्ज है। भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं और उनपर मधुपान-मत्त भ्रमरोंके समुदाय गुञ्जार कर रहे हैं। यमुनाजीमें वायुके झोकोंसे सुन्दर मन्द-मन्द तरंगें नाच रही हैं। भाँति-भाँति के कमल खिल रहे हैं। वहीं श्रीराधामाधव एक कदम्ब-वृक्षके नीचे विराजित हैं। श्रीकृष्णके वामपार्श्वमें श्रीराधिकाजी हैं। इस प्रकार ध्यान करके वृन्दावनकी कल्पना करे। तदनन्तर निम्नलिखित रूपमें श्रीराधामाधवका स्मरण तथा ध्यान करे—

गोविन्दका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंगावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

'प्रफुल्ल नील कमलके समान जिनकी श्याम मनोहर कान्ति है, मुखमण्डली चारुता चन्द्रबिम्बको भी विलज्जित करती है, मोरपंखका मुकुट जिन्हें अधिक प्रिय है, जिनका वक्ष स्वर्णमयी श्रीवत्सरेखासे समलंकृत है, जो अत्यन्त तेजस्विनी कौस्तुभमणि धारण करते हैं

और रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं, गोपसुन्दरियोंके नयनारविन्द जिनके श्रीअङ्गोंकी सतत अर्चना करते हैं, गौओं तथा गोपकिशोरीके संघ जिन्हें घेरकर खड़े हैं तथा जो दिव्य अङ्गभूषासे विभूषित हो मधुरातिमधुर वेणुवादनमें सलग्न हैं, उन परम सुन्दर गोविन्दका मैं भजन करता हूँ ।'

श्रीराधाका ध्यान

हेमाभां द्विभुजं वराभयकरां नीलाम्बरेणावृतां
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलाम् ।
लीलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं बिम्बाधरां राधिकां
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्याङ्गभूषां भजे ॥

'जिनके गोरे-गोरे अङ्गोंकी हेममयी आभा है, जो दो ही भुजाओंसे युक्त हैं और दोनों हाथोंमें क्रमशः वर एवं अभयकी मुद्रा धारण करती हैं, नीले रंगकी रेशमी साड़ी जिनके श्रीअङ्गोंका आवरण बनी हुई है, जो श्यामसुन्दरके अंकमें विलास करती हैं, सीमन्तगत सिन्दूरपुञ्जसे जिनकी सौन्दर्य-श्री और भी उद्भासित हो उठी है, चपल नयन, नित्य नूतन यौवन, मुखपर मन्दहासकी छटा तथा बिम्बफलकी अरुणिमाको भी तिरस्कृत करनेवाला अधर-राग जिनका अनन्यासाधारण वैशिष्ट्य है, जो नित्य आनन्दमयी तथा विलासकी आवासभूमि है, जिनके अङ्गोंके आभूषण दिव्य (अलौकिक) हैं, उन भगवती श्रीराधिकाका मैं चिन्तन करता हूँ ।'

तत्पश्चात् मन-ही-मन श्रीराधामाधवका आवाहन करके निम्न-लिखित श्लोकोंसे श्रीराधा-माधवको प्रणाम करे—

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते ।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते ॥
तप्तकाञ्चनगौरांगि राधे वृन्दावनेश्वरि ।
वृषभानुसुते देवि त्वां नमामि हरिप्रिये ॥

तदनन्तर श्रीराधामाधवके चरणोंका विशुद्ध प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पूजनका संकल्प करे और पूजा आरम्भ कर दे—

आसन——

इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः
'श्रीकृष्ण ! प्रभो ! इदमासनं सुखमास्यताम् ।
इदमासनं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः
श्रीराधे ! भगवति ! इदमासनं सुखमास्यताम् ।'

इस मन्त्रके द्वारा सुमनोहर आसन प्रदान करे। अभावमें पुष्प अर्पण करे। स्वागत—निम्नलिखित वाक्यके द्वारा सादर अभ्यर्थना करके कुशलप्रश्न करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये ।
तस्य ते परमेशान ! सुस्वागतमिदं वपुः ॥
भो भगवन् ! श्रीकृष्ण ! स्वागतं सुस्वागतम् ।
हे श्रीकृष्ण ! प्रभो ! स्वागतं करोषि ॥
यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये ।
तस्य ते राधिके देवि ! सुस्वागतमिदं वपुः ॥
'भो भगवति श्रीराधिके ! स्वागतं सुस्वागतम् ।
हे राधिके ! परमेश्वरि ! स्वागतं करोषि ॥'

पाद्य—किसी चाँदी, ताम्र या पीतलके पात्रमें चन्दन-सहित पुष्प और तुलसीदल डालकर जल भर ले और—**'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—कहकर श्रीकृष्णके चरणोंमें जल अर्पण करे। इसी प्रकार—**'एतत् पाद्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—बोलकर श्रीराधाके चरणोंमें जल अर्पण करे।

अर्घ्य—शङ्खमें जल लेकर—**'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके मस्तकपर अर्घ्यजल प्रदान करे। **'इदमर्घ्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः'** बोलकर श्रीराधाके मस्तकपर अर्घ्यजल अर्पण करे।

आचमनीय—दूसरे पात्रमें जल लेकर—**'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके हाथोंमें आचमनीय-जल अर्पण करे। **'इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** कहकर श्रीराधाके हाथोंमें आचमनीय जल अर्पण करे।

मधुपर्क—काँसी अथवा चाँदीके पात्रमें (ताँबेका पात्र न हो) मधुपर्क (मधु, घृत, शर्करा, दधि और जल—अभावमें पुष्प, तुलसी और जल) लेकर **'इदं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः'**—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे। **'इदं मधुपर्कं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे।

पुनराचमनीय—एक पात्रमें जल लेकर **'इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** बोलकर श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे।

इसी प्रकार 'इदं पुनराचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।' बोलकर श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे ।

स्नान—किसी शुद्ध ताम्रपात्र या शङ्खमें कपूर, चन्दन, सुवासित शुद्ध जल लेकर—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥

यह मन्त्र बोलकर जलपर अंकुशमुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे । तदनन्तर—

वृन्दावनविहारेण श्रान्तिं विश्रान्तिकारकम् ।
चन्द्रपुष्करपानीयं गृहाण पुरुषोत्तम ॥

बोलकर श्रीकृष्णको स्नान करावे—इसी प्रकार श्रीराधाको स्नान करावे ।

वस्त्र—'इदं परिधेयवस्त्रम् इदमुत्तरीयवासश्च श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।' यह मन्त्र बोलकर बहुत बढ़िया महीन पीला वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र भगवान्‌को पहना दे । इसी प्रकार—'इदं परिधेयवस्त्रं कञ्चुकीम् उत्तरीयवासश्च श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।' यह मन्त्र बोलकर बढ़िया नीले रंगकी साड़ी कञ्चुकी और किनारीदार ओढ़नी श्रीराधिकाजीके अर्पण करे ।

भूषण—'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।' बोलकर रत्न-स्वर्ण आदि निर्मित अलंकार (हार, मुकुटमणि, कड़े आदि गहने) भगवान्‌को पहना दे ।

इसी प्रकार—'इमानि भूषणानि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।' बोलकर राजरानियोंके पहननेयोग्य रत्न-स्वर्णादिके गहने श्रीराधाके अर्पण करे ।

गन्ध—केसर-कर्पूर-मिश्रित चन्दन लेकर **'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'** कहकर चन्दनको श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे । **'इमं गन्धं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'** कहकर चन्दनको श्रीराधाके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे ।

पुष्प—सुगन्धित नाना प्रकारके पुष्प लेकर **'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'** बोलकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंपर अर्पण करे । **'इमानि पुष्पाणि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'** बोलकर पुष्प श्रीराधाके श्रीचरणोंपर अर्पण करे ।

तुलसीदल—इसके अनन्तर चन्दनसहित तुलसीदल लेकर **'इदं सचन्दनं तुलसीदलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'** कहकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें आठ बार अर्पण करे ।

श्रीराधाजीके तुलसीदल अर्पण नहीं किया जाता ।

तदनन्तर श्रीकृष्णके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीकृष्णको अर्पण करे—

श्रीकृष्णाय नमः । श्रीवासुदेवाय नमः । श्रीनारायणाय नमः । श्रीदेवकीनन्दनाय नमः । श्रीयदुश्रेष्ठाय नमः । श्रीवार्ष्णेयाय नमः । श्रीअसुराक्रान्तभूभारहारिणे नमः । श्रीधर्मसंस्थापनार्थाय नमः ।

श्रीराधाके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीराधाको अर्पण करे—

श्रीराधिकायै नमः। श्रीरासेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णकान्तायै नमः। श्रीनित्यनिकुञ्जेश्वर्यै नमः। श्रीवृषभानुसुतायै नमः। श्रीगान्धर्विकायै नमः। श्रीवृन्दावनमहेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्ण-प्राणाधिकादेव्यै नमः।

धूप—पीतल या चाँदीकी धूपदानीमें धूप रखकर 'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः'—कहकर श्रीकृष्णको धूप अर्पण करे। 'इमं धूपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः'—कहकर श्रीराधाको धूप अर्पण करे।

दीप—गोघृत या सुगन्धित तैलके द्वारा जलाये हुए दीपकको, 'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः'—बोलकर बायें हाथसे घंटी बजाते हुए एवं दायें हाथमें दीपकको लेकर आरतीकी भाँति घुमाते हुए श्रीकृष्णको अर्पण कर दे। 'इमं दीपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः'—कहकर दीपकको श्रीराधाको अर्पण कर दे।

नैवेद्य—पवित्र थाली एवं कटोरोंमें भोज्य पदार्थ सजाकर धुली हुई चौकी या पाटेपर रख दे और पीनेके लिये एक-दूसरे पात्रमें सुवासित जल भरकर रख दे। फिर 'अस्त्राय फट्' मन्त्र बोलकर चक्रमुद्रा दिखलाते हुए नैवेद्यका संरक्षण करे। तदनन्तर किसी शुद्ध पात्रमें स्थापित जलमें 'य' वायु-बीजका बारह बार जप करके उस जलके द्वारा नैवेद्यका प्रोक्षण करे और दाहिने हाथमें 'रं' बीजका स्मरण करते हुए दाहिने हाथकी पीठपर बायाँ हाथ रखकर वह्नि-बीजका उच्चारण करे। इसके द्वारा नैवेद्यकी शुष्कताका दोष दूर

होता है। फिर बायें हाथकी हथेलीपर अमृत-बीज 'ठं' का स्मरण करके बायें हाथकी पीठपर दायाँ हाथ रखकर नैवेद्यको अमृतधारासे सिक्त करे। पीछे चन्दन और पुष्प लेकर—'एते गन्धपुष्पे श्रीकृष्णाय नमः।' एवं 'एते गन्धपुष्पे श्रीराधिकायै नमः।'—बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको क्रमशः अर्चन करे। फिर बायें हाथसे नैवेद्यके पात्रका स्पर्श करके दाहिने हाथसे गन्ध, पुष्प और जल लेकर 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके—'इदं नैवेद्यं श्रीकृष्णाय कल्पयामि।' 'इदं नैवेद्यं श्रीराधिकायै कल्पयामि।'—बोलकर जलको भूमिपर छोड़ दे। तदनन्तर प्रत्येक नैवेद्यके पात्रमें तुलसीदल रक्खे। फिर दोनों हाथोंद्वारा नैवेद्यपात्रको उठाकर भक्ति और दैन्यके साथ 'निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके दोनोंको नैवेद्य अर्पण करे। पीछे 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'—बोलकर श्रीराधामाधवके हाथोंमें जल देकर बायें हाथके द्वारा 'ग्रास-मुद्रा' दिखावे। तदनन्तर 'प्राणाय स्वाहा।' 'अपानाय स्वाहा।' 'व्यानाय स्वाहा।' 'उदानाय स्वाहा।' समानाय स्वाहा।'—इन पाँचों मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करके प्राणादि पाँच मुद्राएँ दिखावे।

पानीयोदक—फिर तुलसीपत्रसे सम्बन्धित सुवासित निर्मल जलसे पूर्णपात्र 'एतत् पानीयोदकं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।' एवं 'एतत् पानीयोदकं श्रीराधिकायै निवेदयामि।'—बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको अर्पण करे। तदनन्तर नैवेद्यपर दस बार

उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके घंटी बजाये और पर्दा लगाकर घरसे बाहर आ जाय और १०८ बार उसी मन्त्रका जप करे तथा मन-ही-मन यह भावना करे कि श्रीराधा-माधव भोजन कर रहे हैं। इसके पश्चात् भोजन-समाप्तिके बाद द्वार खोलकर या पर्दा हटाकर—

आचमन—जलके द्वारा '**इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।', इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—कहकर आचमनके लिये जल प्रदान करे।

ताम्बूल-अर्पण—इसी प्रकार '**एतत् ताम्बूलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।', एतत् ताम्बूलं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—कहकर श्रीकृष्ण-राधाको ताम्बूल अर्पण करे। बादमें माला-चन्दन आदि अर्पण करे।

आरती—आसनपर बैठकर कर्पूर मिले हुए गोघृतमें रूईकी बत्तियाँ भिगोकर पाँच दीपककी आरती बनावे और तर्जनी तथा अँगूठेसे उसे पकड़कर दाहिनी ओरसे बायीं ओर और बायीं ओरसे दाहिनी ओर तीन बार या सात बार ले जाये। गात्रमार्जनीय वस्त्र और तुलसीके द्वारा भी इसी प्रकार आरती करे।

पुष्पाञ्जलि—फिर मूल-मन्त्रका स्मरण करते हुए दीपकपर धेनुमुद्रा दिखाकर श्रीराधामाधवको पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। अन्तमें तीन बार या पाँच बार शंखध्वनि करके पूजा समाप्त करे। आरतीके समय इस आरतीका गान करे—

राधामाधव-युगलकी आरती

आरति राधा-राधावर की।
महाभाव रसराज-प्रवरकी ॥
स्याम बरन पीताम्बरधारी।
हेम बरन तन नीली सारी।
सदा परस्पर सुखसंचारी।
नील कमल कर मुरलीधर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ १ ॥

चारु चन्द्रिका मन-धन-हारी।
मोर-पिच्छ सुन्दर सिरधारी।
कुंजकुँवरि नित कुंजविहारी।
अधरनि मृदु मुसकान मधुरकी।
आरति राधा-राधावर की ॥ २ ॥

प्रेम दिनेस कामतम-हारी।
रहित सुखेच्छा निज, अविकारी।
आश्रय-विषय परस्पर-चारी।
पावन परम मधुर रसधर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ ३ ॥

निज-जन-नेह अमित विस्तारी।
उर पावन रस-संग्रहकारी।
दिव्य सुखद, दुख-दैन्य-विदारी।
भक्त-कमल हित हिय सरवर की।
आरति राधा-राधावर की ॥ ४ ॥

आरतीके समय मृदङ्ग, ढोल, झाँझ, करताल आदि बजाने चाहिये। आरती करनेके पश्चात् उपस्थित व्यक्तियोंको आरती

दिखावे और आरतीसे जलके छींटे उनपर डाले। तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण करे। अन्तमें निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा स्तुति करे—

कातर-प्रार्थना

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥
यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
आवेदितं निवेद्यान्नं तद् गृहाणानुकम्पया॥
त्राहि मां पापिनं घोरं धर्माचारविवर्जितम्।
नमस्कारेण देवेश दुस्तराद्भवसागरात्॥
दैन्यार्णवे निमग्नोऽस्मि मन्तुग्रावभरार्दितः।
दुष्टे कारुण्यपारीण! मयि कृष्ण! कृपां कुरु॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम्।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं दास्येनैव गृहाण माम्॥
आधारोऽप्यपराधानामविवेकहतोऽप्यहम् ।
त्वत्कारुण्यप्रतीक्ष्योऽस्मि प्रसीद मयि माधव॥
युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि॥
नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

श्रीराधा-माधव-युगलसे कृपाभिक्षा

राधे वृन्दावनाधीशे करुणामृतवाहिनि ।
कृपया निजपादाब्जे दास्यं मह्यं प्रदीयताम् ॥
तवास्मि राधिकानाथ ! कर्मणा मनसा गिरा ।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
योऽहं ममास्ति यत् किञ्चिदिह लोके परत्र च ।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु मयार्पितम् ॥
संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात् ।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

अपराध-क्षमापन

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा तांसर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥

तदनन्तर इच्छा हो तो निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करे—

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ
वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
नववसनहरितनीलौ चन्दनालेपनाङ्गौ
मणिमरकतदीप्तौ स्वर्णमालाप्रयुक्तौ ।
कनकवलयहस्तौ रासनाट्यप्रसक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥

अतिमधुरसुवेषौ रङ्गभङ्गीत्रिभङ्गौ
मधुरमृदुलहास्यौ कुण्डलाकीर्णकर्णौ ।
नटवरवररम्यौ नृत्यगीतानुरक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
विविधगुणविदग्धौ वन्दनीयौ सुवेशौ
मणिमयमकराद्यैः शोभिताङ्गौ स्फुरन्तौ ।
स्मितनमितकटाक्षौ धर्मकर्मप्रदत्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
कनकमुकुटचूडौ पुष्पितोद्भूषिताङ्गौ
सकलवननिविष्टौ सुन्दरानन्दपुञ्जौ ।
चरणकमलदिव्यौ देवदेवादिसेव्यौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुवलितगात्रौ गन्धमाल्यैर्विराजौ
कतिकतिरमणीनां सेव्यमानौ सुवेशौ ।
मुनिसुरगणभाव्यौ वेदशास्त्रादिविज्ञौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुमधुरमूर्तौ दुष्टदर्पप्रशान्तौ
सुरवरवरदौ द्वौ सर्वसिद्धिप्रदानौ ।
अतिरसवशमग्नौ गीतवाद्यप्रतानौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ।
अगमनिगमसारौ सृष्टिसंहारकारौ
वयसि नवकिशोरौ नित्यवृन्दावनस्थौ ।
शमनभयविनाशौ पापिनस्तारयन्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥

इदं मनोहरं स्तोत्रं श्रद्धया यः पठेन्नरः।
राधिकाकृष्णचन्द्रौ च सिद्धिदौ नात्र संशयः॥

पूजाके पश्चात् अपने इच्छानुसार नियमितरूपसे भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाके मन्त्रका जप करे—

श्रीकृष्ण-मन्त्र

(१) अष्टादशाक्षर मन्त्र

ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

(२) दशाक्षर मन्त्र

ॐ गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

(३) गोपाल-गायत्री

ॐ कृष्णाय विद्महे दामोदराय धीमहि तन्नः कृष्ण प्रचोदयात्।

(१) श्रीराधा-मन्त्र

ॐ ह्रीं श्रीराधिकायै नमः।

(२) श्रीराधा-गायत्री

ॐ ह्रीं राधिकायै विद्महे गान्धर्विकायै विधीमहि तन्नो राधा प्रचोदयात्।

श्रीराधामाधव-युगल महाभाव-रसराज।
करुना करियो दीन पै रहियो हृदयँ विराज॥
दीजो निज पद कमल की प्रीति पवित्र अनन्य।
प्रभु-सुख-हित सेवा बनै सुचि जीवन हो धन्य॥

भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन

शास्त्रोंकी आलोचना करते समय सबसे पहले अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् अधिकारी, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका विचार किया जाता है। अतएव भक्ति-शास्त्रके अनुबन्धचतुष्टय क्या है ? श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव कहते हैं कि भक्ति-शास्त्रके प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है। 'वाच्य वाचकः सम्बन्धः।' इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है—'उपास्य-तत्त्व'। अतएव शास्त्रका उपास्य-तत्त्वके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। उपास्य-तत्त्व श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय 'अभिधेय' है। अतएव भक्ति अभिधेय है और श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही इसका 'प्रयोजन' है।

१. अधिकारी (जीव-तत्त्व)

जब भक्ति-शास्त्रका अधिकारी श्रद्धावान् जीव है, तब यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जीव-तत्त्व क्या है और वह श्रद्धावान् होता कैसे है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें जीव-तत्त्वके विषयमें जामाता मुनि कहते हैं—

> ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः।
> न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्॥
> अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा।
> अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः॥
> अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्याक्षर एव च।
> एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै॥

मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा ।
दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन ॥
आत्मा न देवो न नरो न तिर्यक् स्थावरो न च ।
न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न चापि धीः ॥
न जडो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च ।
स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक् ॥
अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः ।
तथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मकः ॥
परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः ॥

अर्थात् जीव देह नहीं है, ज्ञानका आश्रय है। ज्ञान उसका गुण है। जैसे अग्निका गुण दाह है, सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी प्रकार जीवका गुण ज्ञान है। वह चेतन है, प्रकृतिके परे है। जैसे काष्ठमें व्यापक अग्नि काष्ठसे भिन्न है, उसी प्रकार देही (जीव) देहसे भिन्न है, इन्द्रिय, मन, प्राण या बुद्धि भी नहीं है। वह अजन्मा है, निर्विकार है, सदा एकरूप रहता है। अणु है, नित्य है, व्यापक है, चित् और आनन्दस्वरूप है। 'अहं'-शब्द-वाच्य, अविनाशी, क्षेत्री (शरीररूप क्षेत्रका स्वामी) शरीरसे भिन्नरूप, सदा रहनेवाला, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर आदि गुणोंसे युक्त है। जीव समस्त पदार्थोंका द्रष्टा और प्रकाशक है तथा स्वयं अपना भी द्रष्टा और प्रकाशक है। वह न जड है और न जडसे पैदा हुआ है। जीव केवल श्रीहरिका दास है, और किसीका नहीं। वह देवता नहीं, मनुष्य नहीं, न तिर्यक् है, न स्थावर है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है, कर्मानुसार उसका गमनागमन

होता है। परमात्माका शेषत्व-भगवद्दासत्व ही जीवका स्वभाव है।

ये जीव असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल, स्थल और अन्तरिक्षमें कोई स्थान ऐसा नहीं, जो जीवोंसे खाली हो। जीवके सम्बन्धमें श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

अर्थात् स्वरूपतः जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है, वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, भेद और अभेदरूपमें प्रकाशित होता है। शास्त्रोंमें अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था-भेदसे श्रीभगवान्‌की तीन शक्तियोंका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
चित्-शक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

अर्थात् श्रीभगवान्‌की स्वभावतः तीन शक्तियोंमें परिणति होती है—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिमें। चित्-शक्ति ही अन्तरङ्गा शक्ति है, मायाशक्ति बहिरङ्गा तथा जीवशक्ति तटस्था। श्रीनारदपाञ्चरात्रमें भी लिखा है—

यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

अर्थात् चित् पदार्थ स्वसंवेद्य मूलरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है। गुणरागके द्वारा रञ्जित वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिसे भिन्न एक मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। अर्थात् जैसे देहीके द्वारा यह देह धारण किया जाता है, उसी प्रकार असंख्य-असंख्य जीवोंके द्वारा जल, स्थल और अन्तरिक्षरूप अनन्त ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि 'जब जीव स्वयं भगवान्‌की, श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, तब फिर श्रीकृष्ण-तत्त्व है क्या?' वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंकी चरम आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अखिल-प्रेम-रसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं, नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्यकी किरणके समान, अग्निके स्फुलिङ्गके समान जीव इस अखिल प्रेम-रस-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णका ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम-रस-आनन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है; एवं परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। इस आनन्दसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा आनन्दमें ही जीवोंका लय होता है। श्रुति भी कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्दसे ही भूतगण उत्पन्न

होते हैं, आनन्दसे वे जीवित रहते हैं, आनन्दमें गमन करते हैं तथा आनन्दमें ही प्रवेश करते हैं।

अतएव प्रेमानन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप है। फिर यह इस संसारमें इतना दुखी क्यों है? श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं कि जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, उनकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंके मध्यमें स्थित है। अन्तरङ्गा शक्तिके आकर्षणको प्राप्तकर जीव श्रीकृष्णोन्मुख होता है—नित्यानन्द नित्य-सुखका भोग करता है, परंतु बहिरङ्गा शक्तिके आकर्षणसे वह मायामुग्ध होकर सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभू स्वर्गे उठाय, कभू नरके डुबाय।

अर्थात् वही अनादि जीव श्रीकृष्णको भूलकर जब बहिर्मुख होता है, तब माया उसको सांसारिक दुःख प्रदान करती है। कभी ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबा देती है। अविद्या या माया श्रीभगवान्‌की परिचारिका है। भगवद्विमुख जीवोंका अपने प्रभुकी अवज्ञा करना वह सहन नहीं कर सकती, इसीलिये दण्डविधान करती है। अतएव भगवद्विमुखता ही दुःखका हेतु है और इस मायासे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌के सम्मुख होना। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यय है, इससे पार पाना कठिन है। जो मेरी शरणमें आ जाते हैं, वे ही इस मायासे निस्तार पाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

> भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
> भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
> (श्रीमद्भागवत ११। १४। २०)

'हे उद्धव! मैं श्रद्धापूर्वक की हुई एकमात्र भक्तिसे ही वशमें होता हूँ; क्योंकि मैं संतोंकी आत्मा और प्रिय हूँ। मेरी दृढ़भक्ति चाण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।' अतएव भक्ति ही श्रीकृष्ण-प्राप्तिका उपाय है। भक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमसे दुःख दूर होता है और संसार-यातना तिरोहित हो जाती है। परंतु इस प्रेमका मुख्य प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन ही है।

२. सम्बन्ध (भगवत्तत्त्व)

वेदादि समस्त शास्त्र सब प्रकारसे श्रीकृष्णके ही तारतम्यको प्रकट करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परतम हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा उपास्य-तत्त्व नहीं है—यही सब शास्त्रोंका अभिप्राय है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

> कृष्णेर स्वरूपविचार सुन सनातन।
> अद्वय ज्ञान-तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
> सर्व आदि सर्व अंशी किशोर शेखर।
> चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

अर्थात् हे सनातन ! अब श्रीकृष्णके स्वरूपके विषयमें मैं कहता हूँ, तुम सुनो । कृष्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व हैं, और वे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन हैं । वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं, वे अंशी हैं । वे किशोरशेखर श्रीकृष्ण चिदानन्दमूर्ति हैं, सबके आश्रय हैं, सर्वेश्वर हैं । ब्रह्मसंहितामें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

(ब्र० सं० ५·१)

अर्थात् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि—मूलकारण हैं । गोविन्द सब कारणोंके कारण हैं अर्थात् उनका कारण कोई नहीं । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(१ । २ । ११)

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिसको अद्वय ज्ञान-तत्त्व कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—इन तीन शब्दोंसे अभिहित होता है ।

एक ही अद्वयतत्त्वकी यह त्रिविध अनुभूति है । जैसे दूरसे दीखनेवाला सूर्यका विस्तृत प्रकाश समीपसे गोलाकार ज्योतिः-पिण्डके रूपमें तथा और भी समीप जानेपर उसमें विराजित भगवान् सूर्यदेवके रूपमें मूर्तिमान् दिखायी देता है, उसी प्रकार ज्ञानके उदयकालमें साधकके शुद्ध सात्त्विक हृदय-पटपर जो भगवद्विग्रह-का आलोक प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं । यह सत्ता-मात्र आलोक ही निर्गुणवादियोंके द्वारा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष,

निष्क्रिय आदि नामोंसे पुकारा जाता है। यही आलोकपुञ्ज जब बिम्बरूपसे साधकके हृदयाकाशमें प्रतिभात होता है, तब इसे 'परमात्मा' कहते हैं। योगीजन इसका प्रादेशमात्र दीपकलिका-ज्योतिके समान दर्शन करते हैं। इसीको जगत्का 'अन्तर्यामी' माना जाता है। ये 'ब्रह्मानुभव' और 'परमात्मदर्शन' दोनों ही भगवत्तत्वके अंशबोध मात्र हैं। इस 'ब्रह्मके' प्रतिष्ठान और 'परमात्मा' के अधिष्ठानभूत परम-तत्त्वको ही 'भगवान्' कहते हैं। भक्तोंको प्रेमाञ्जनच्छुरित नेत्रोंसे अचिन्त्य-अनन्त-गुणसम्पन्न, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्यामसुन्दररूपके मधुर दर्शन होते हैं। ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें उपनिषद् कहते हैं—

ॐ एकमेवाद्वितीयम्। सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

—सम्भवतः इस श्रुतिका अवलम्बन करके ही श्रीकृष्णको अद्वय ज्ञानतत्त्वकी संज्ञा दी गयी है। वही परम ब्रह्म भगवान् हैं। उपर्युक्त भागवतीय श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीजीवगोस्वामी लिखते हैं—

अद्वयत्वं चास्य स्वयंसिद्धतादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्यैकसहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च।

अर्थात् स्वयंसिद्ध तादृश और अतादृश (सजातीय और विजातीय) तद्भिन्न किसी अन्य तत्त्वके न होनेके कारण तथा एकमात्र स्वशक्तिपर अवलम्बित होनेके कारण और अन्य सब शक्तियोंके परम आश्रय होनेके कारण श्रीकृष्ण ही अद्वयतत्त्व हैं। उनके बिना कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। श्रुति भी कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ८)

अतः स्पष्ट है कि परम ब्रह्मकी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उनमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं, जिनके प्रभावसे जगद्-व्यापार आदि कार्य सम्पन्न होते रहते हैं। उसी परम ब्रह्मका नाम श्रीकृष्ण है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५५)

'हे महाराज! तुम इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण जीवात्माओंका आत्मा जानो, जो वैसे होकर भी जगत्‌के हितके लिये अपनी योगमायाके प्रभावसे सर्वसाधारणके सामने सांसारिक जीवके समान जान पड़ते हैं।'

यह श्रीकृष्णतत्त्व ही है, जिससे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर विधृत हो रहे हैं; इसका समर्थन आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानके द्वारा भी होता है। रात्रिके समय नील आकाशकी ओर देखिये। अनन्त नक्षत्रमालाएँ रजतके समान शुभ्र किरणोंसे युक्त दीख पड़ेंगी। वे यद्यपि देखनेमें अति क्षुद्र हैं, फिर भी वस्तुतः उनमें अनेकों तारे सूर्यकी अपेक्षा भी कई लाख गुना बड़े हैं। यह सूर्य भी, जो इतना छोटा दीख पड़ता है, इस पृथ्वीकी अपेक्षा चौदह लाख गुना बड़ा है। परंतु जो नक्षत्रपुञ्ज आकाशमें हम देखते हैं, वे वस्तुतः अनन्त आकाशमें फैली असंख्य नक्षत्रराशिके करोड़वें अंशके

बराबर हैं। इससे विश्वब्रह्माण्डकी विशालता और असीमताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इनमेंसे एक-एक नक्षत्र-विशेषको केन्द्रमें लेकर अनेकों ग्रह अपने उपग्रहों और उल्कापुञ्जोंके साथ भ्रमण कर रहे हैं। जैसे पृथ्वी, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—ये नौ ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते हुए सौरमण्डलका निर्माण करते हैं, वैसे इस अनन्त आकाशमें असंख्य सौरमण्डल हैं। सबकी रचना और गति-विधि विलक्षण ही हैं। वे नाना प्रकारके रक्त, नील, पीत आदि वर्णोंसे युक्त हैं। उनके प्रकाश और तापमें भी निरन्तर परिवर्तन देखा जाता है। एम्० फ्लेमेरिअन नामक फ्रेंच ज्योतिर्विद्ने स्वान, ह्वेल तथा हाइड्रा प्रभृति नक्षत्रपुञ्जोंके विषयमें बतलाया है कि ये नक्षत्रपुञ्ज कुछ दिनोंतक प्रकाशकिरणोंको बिखेरकर अन्धकारमें विलीन हो जाते हैं। सम्भवतः इनमें हमारी पृथ्वीकी दृष्टिसे दो-दो, तीन-तीन महीनोंका रात-दिन होता है। यह अनन्त विलक्षणताओंसे युक्त अनन्त तारकाराशि केन्द्राकर्षण और केन्द्रापकर्षण—दो विभिन्न शक्तियोंके द्वारा विधृत होकर जीवन-यापन कर रही हैं। यदि ये आकर्षणशक्तियाँ न होतीं तो ब्रह्माण्डकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाती। अनन्त सौरमण्डल इसी आकर्षण-शक्तिके बलपर अवस्थित है। इससे यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका एक ऐसा भी केन्द्र है, जिसके आकर्षणसे ये दृष्टादृष्ट, कल्पित, कल्पनातीत, अनुमित और अनुमानातीत निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड आकृष्ट होकर उसमें विधृत हो रहे हैं। वे सर्वाकर्षक, सर्वाधार, सर्वपोषक,

सर्वाश्रय, निखिल आकर्षण और निखिल शक्तिके परमाश्रय और परमाधार श्रीकृष्ण गोविन्द ही हैं।

पाठकोंको इस विवेचनसे 'श्रीकृष्ण' शब्दकी वैज्ञानिक निरुक्ति सहज ही समझमें आ सकती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं; जो सर्वापेक्षा बृहत्तम है, वही श्रीकृष्ण हैं—

यदेव परमं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्तमम्।
सर्वस्यापि बृंहणत्वात् कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'जो परम ब्रह्म है, सबसे बृहत्तम है, सबको फैलाये हुए है, वही श्रीकृष्ण कहलाता है।' बृहद् गौतमीतन्त्रमें भी आया है—

अथवा कर्षयेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्ण उच्यते॥

अर्थात् भगवान् सारे स्थावर-जङ्गम जगत्को कालरूपसे आकर्षित कर रहे हैं, इसी कारण वे श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

सम्बन्ध-तत्त्वमें अवतारवाद

इस जगत्में सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् जो अपने रूपको प्रकट करते हैं, वह उनका अपना रूप प्रकट करना ही अवतार कहलाता है। वे अशेषकल्याणगुणमय हैं। दया उनका विशिष्ट गुण है। जीवके प्रति श्रीभगवान्की दयाको सभी धर्म-विश्वासी स्वीकार करते हैं। परंतु जब जीवके परित्राणका उपाय प्रदर्शन करनेके लिये वे जगत्में अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी दयाका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है। अन्य किसी अवस्थामें उनकी दया वैसे समुज्ज्वलरूपमें प्रकाशित नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥
(१ । ७ । २५)

अतएव श्रीभगवान्‌के अवतारका उद्‌देश्य है—पृथ्वीके भारका हरण तथा अनन्यभावविशिष्ट अपने भक्तोंके अनुध्यानमें सहायता करना । भगवान् स्वरूपशक्तिके विलासरूपमें इस जगत्‌में अपने रूपको प्रकट करते हैं । भक्तोंको सुख देनेके लिये ही उनकी श्रीमूर्ति प्रपञ्चमें आविर्भूत होती है । गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

धर्म ही जीवके मङ्गलका हेतु है । धर्मकी उन्नतिसे ही जीवकी उन्नति होती है । धर्मसे च्युत होना ही जीवका अध:पतन है । इस धर्मकी रक्षाके लिये ही श्रीभगवान् इस धराधाममें अवतीर्ण होते हैं । उपर्युक्त श्लोककी टीकामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीके कथनका अभिप्राय यह है कि कर्मफलके भोगके लिये जीवका जन्म होता है । कर्मानुसार जीव देह ग्रहण करता है । परंतु जो सर्वकारणोंके कारण तथा सर्वकर्मातीत हैं; उनका देहधारण कर्माधीन नहीं है और न उनका शरीर ही भौतिक शरीर है । इसी कारण बृहद् विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः॥

भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी भी कहते हैं—

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया।

अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजके द्वारा सदा सम्पन्न वे भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया, प्रकृतिको वशीभूत करके, निखिल भूतोंके ईश्वर तथा अज, अव्यय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव होते हुए भी अपनी मायाके द्वारा देहवान्‌के समान प्रकट होते हुए-से तथा उनका अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी सृष्ट जीवोंके प्रति अनुग्रहकी इच्छासे संसारका कल्याण करते हुए दीख पड़ते हैं।

श्रीभगवान्‌की प्रकृति भौतिक नहीं है, उनका श्रीविग्रह भौतिक नहीं है—इस बातको श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीमान् बलदेव विद्याभूषण तथा महाभारतके टीकाकार श्रीमान् नीलकंठ प्रभृतिने शास्त्र और युक्तिके अनुसार सुस्पष्टरूपसे प्रमाणित कर दिया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

सारांश यह है कि भगवान्‌के जन्म और कर्म दिव्य हैं, भौतिक नहीं। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि 'ईश्वरका ज्ञानादि जैसे नित्य है, देह भी वैसे ही नित्य है। उनमें देहदेहीका भेद नहीं। जीवदेह जैसे चेतनाविहीन होनेपर 'शव' बन जाता है, भगवद्‌देहके बारेमें ऐसी बात नहीं; वह सदा ही चिदानन्दरसमय बना रहता है। अतएव श्रीविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप भजनीय है।' वे श्रीभगवत्संदर्भमें लिखते हैं—

यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च।

अर्थात् भगवान् जैसे हैं, वैसे ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। भगवान् कैसे हैं? वे ज्ञानस्वरूप हैं, ऐश्वर्यस्वरूप हैं और शक्तिस्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूपसे भगवद्‌देह भिन्न नहीं है। जो स्वरूप है, वही विग्रह है। विज्ञान-आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, अतएव भगवद्विग्रह भी विज्ञानानन्दमय है। भगवान् रसस्वरूप हैं, अतएव श्रीभगवद्विग्रह भी रसमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

अर्थात् मूढ़लोग मुझको भौतिक मानव-देह धारण किये हुए समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्वव्यापक परम ब्रह्म सीमित मानव-देह कैसे धारण कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि जो सर्वव्यापक है, निराकार, निर्विकार है, वह सर्वशक्तिमान् भी है। अतएव वह साकाररूपमें प्रकट हो, इसमें कुछ भी असम्भव या अयौक्तिक नहीं है। दुर्गासप्तशतीमें श्रीअम्बिका देवीके प्राकट्यके विषयमें लिखा है—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

भाव यह है कि सम्पूर्ण देवताओंके शरीरका सूक्ष्म अतुल तेज एकत्र होकर नारीके रूपमें प्रकट हुआ और उस तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो उठे। अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूलरूप प्रकट हुआ।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी विग्रहवत्ता भी स्वीकृत हुई है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद् वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाविधानानि। अथापि पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते। (३। ७। २। ६)

अर्थात् वेद-मन्त्रोंमें मनुष्योंके समान आकारविशिष्ट रूपमें देवताओंका चिन्तन होता है, चेतनके समान उनकी स्तुतियाँ होती हैं तथा पुरुषके समान उनके अङ्गादिका वर्णन पाया जाता है। मन्त्रोंमें मनुष्यके समान अश्व-सैन्य-गृहादिसे युक्त विग्रहरूपमें उनकी उपलब्धि होती है।

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र १। ३। २७ के शारीरक भाष्यमें लिखा है—

एकस्यापि देवतात्मनो युगपद् अनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति।

अर्थात् एक देवताका आत्मा भी अनेक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। योगी भी कायव्यूहका विस्तार कर सकता है। जैसे—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥

प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

अर्थात् हे राजन् ! योगबलको प्राप्त करके योगी सहस्रों शरीर धारण कर सकता है और उन सबके द्वारा पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। किसी शरीरसे विषयोंको प्राप्त करता है तो किसी शरीरके द्वारा उग्र तप करता है और फिर उन शरीरोंको अपने भीतर इस प्रकार समेट लेता है जैसे सूर्य अपनी रश्मियोंको बटोर लेता है।

योगदर्शनमें आया है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

अर्थात् मन्त्र-जपसे इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। अतएव जब देवता और मनुष्य इस प्रकार शरीर धारण करनेमें समर्थ हैं, तब सर्वशक्तिमान् प्रभुके लिये अवतारविग्रह धारण करना सर्वथा सम्भव है। इसमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान ही नहीं है। अब यहाँ भगवान्‌के विविध अवतारोंके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(क) पुरुषावतार

भगवान्‌के पुरुषावतारके विषयमें सात्वततन्त्रमें आता है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥

विष्णुभगवान्‌के तीन रूप शास्त्रमें निर्दिष्ट हुए हैं। उनमें जो प्रकृतिके अन्तर्यामी हैं और महत्तत्त्वके स्रष्टा हैं, उनका नाम प्रथम

पुरुष है। जो ब्रह्माण्डके और जीव-समष्टिके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम द्वितीय पुरुष है। तथा जो सर्वभूतोंके अथवा व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम तृतीय पुरुष है।

प्रलयलीन, वासनाबद्ध, भगवद्विमुख जीवोंके प्रति करुणावश भगवान् सृष्टिकी इच्छा करते हैं, जिससे वे जीव संसारमें कर्म करते हुए भगवत्सान्निध्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करें और वासनाजालसे मुक्त हों। इस इच्छासे भगवान् पुरुषरूप होकर प्रकृतिकी ओर देखते हैं। इससे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है और गुणत्रयमें वैषम्य होकर महत्तत्त्वसे लेकर क्षित्यादिपर्यन्त सारे तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। ये प्रथम पुरुष ही इस सृष्टिके कर्त्ता हैं। इनको महाविष्णु या संकर्षण कहते हैं। इनका रूप विराट् है।

इस महदादि सृष्टि और असंहत कारण-तत्त्वोंको परस्पर सम्मिलित करनेके लिये प्रथम पुरुष अंशतः अनेक रूप होकर उनमें प्रवेश करते हैं। यह प्रविष्ट अंश ही द्वितीय पुरुष है। ये अपने प्रबल आकर्षणके द्वारा उनको वक्रगति प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये तत्त्व वक्रगतिविशिष्ट होकर, पञ्चीकृत दशामें चक्राकारमें आवर्तित और आकुञ्चित होकर केन्द्र-विच्छिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्डका आकार धारण करते हैं। द्वितीय पुरुष इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता हैं, इनको गर्भोदशायी और प्रद्युम्न आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। ये भी विराट्‌रूप हैं।

द्वितीय पुरुषद्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड सूक्ष्म होता है। स्थूल सृष्टिके लिये द्वितीय पुरुषसे विविध अवतारोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें

जो पालनकर्त्ता विष्णु हैं, उन्हींको तृतीय पुरुष कहते हैं। ये व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, इन्हें क्षीरोदशायी और अनिरुद्ध भी कहते हैं। ये चतुर्भुज हैं, इन्हें अन्तर्यामी परमात्मा भी कहा जाता है।

(ख) गुणावतार

स्थूल-सृष्टि या चराचर-सृष्टिके लिये गुणावतारोंका प्रयोजन होता है। उनमें सृष्टिकर्त्ता रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा, संहारकर्त्ता तमोगुणविशिष्ट रुद्र तथा पालनकर्त्ता सत्त्वगुणविशिष्ट विष्णु हैं।

(ग) लीलावतार

भगवान्‌के जिन अवतारोंमें विश्रामरहित, विविध विचित्रताओंसे पूर्ण, नित्य नूतन उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त, स्वेच्छाधीन कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनको लीलावतार कहते हैं। लीलावतार पूर्ण अंश और आवेश-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। कल्पावतार और युगावतार—सबका समावेश लीलावतारके उक्त तीन भेदोंके अन्तर्गत हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्णावतार हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार १४ मन्वन्तरावतार हैं। जैसे—

१. यज्ञ—ये स्वायम्भुव मन्वन्तरके पालक हैं। इनके पिताका नाम रुचि और माताका नाम आकूति था।

२. विभु—स्वारोचिष मन्वन्तरके पालक हैं। पिता वेदशिरा, माता तुषिता।

३. सत्यसेन—औत्तमीय मन्वन्तरके पालक। पिता धर्म, माता सूनृता।

४. हरि—तामसीय मन्वन्तरके पालक और गजेन्द्रको मोक्ष देनेवाले। पिता हरिमेध और माता हरिणी।

५. वैकुण्ठ—रैवतीय मन्वन्तरके पालक। पिता शुभ, माता विकुण्ठा।

६. अजित—चाक्षुषीय मन्वन्तरके पालक। पिता वैराज, माता सम्भूति। ये ही कूर्मरूपधारी हैं।

७. वामन—वैवस्वत मन्वन्तरके पालक। पिता कश्यप, माता अदिति।

८. सार्वभौम—सावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवगुह्य, माता सरस्वती।

९. ऋषभ—दक्षसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आयुष्मान्, माता अम्बुधारा।

१०. विष्वक्सेन—ब्रह्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता विश्वजित्, माता विषूची।

११. धर्मसेतु—धर्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आर्यक, माता वैधृता।

१२. सुधामा—रुद्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता सत्यसह, माता सूनृता।

१३. योगेश्वर—देवसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवहोत्र, माता बृहती।

१४. बृहद्भानु—इन्द्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता सत्रायन, माता विनता।

कल्पावतार—२५ हैं—जैसे (१) चतुस्सन (सनत्कुमार, सनक, सनन्दन और सनातन), (२) नारद; ये दोनों अवतार ब्राह्म कल्पमें आविर्भूत होते हैं और सभी कल्पोंमें विद्यमान रहते हैं। (३) वाराह—इनका दो बार आविर्भाव होता है, पहला ब्राह्म कल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ब्रह्माके नासारन्ध्रसे और दूसरा ब्राह्म कल्पके चाक्षुप मन्वन्तरमें जलसे। (४) मत्स्य, (५) यज्ञ, (६) नर-नारायण, (७) कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) हयशीर्ष, (१०) हंस, (११) ध्रुवप्रिय या पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु—ये १३ अवतार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें होते हैं। (१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) रामचन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) श्रीकृष्ण, (२४) बुद्ध और (२५) कल्कि। इनमें अन्तिम आठ वैवस्वत मन्वन्तरके अवतार हैं।

युगावतार ४ हैं—सत्ययुगमें शुक्ल, त्रेतामें रक्त, द्वापरमें श्याम और कलिमें कृष्ण। यज्ञ और वामन अवतारोंका समावेश मन्वन्तरावतार तथा कल्पावतार दोनोंमें होता है।

सम्बन्ध-तत्त्वमें श्रीकृष्ण

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय तत्त्वके वाचक शब्द हैं। परंतु साधकोंके भावानुसार ये तीनों शब्द तीन विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होते हैं। जहाँ किसी गुणका प्रकाश नहीं है, तादात्म्य साधनके द्वारा साधकके हृदयमें जब वैसे तत्त्वकी स्फूर्ति

होती है, तब उसको ब्रह्म कहते हैं। बिम्बज्योतिरूपसे दीखनेवाले अन्तर्यामीको योगी परमात्मा कहते हैं और भक्तकी साधनामें सर्वगुण-परिपूर्ण-अशेषकल्याणगुणमय श्रीभगवत्तत्त्वकी स्फूर्ति होती है। वे ऐश्वर्य-वीर्यादि अशेष कल्याणगुणोंके निधान परम तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं। श्रीजीवगोस्वामी श्रीकृष्ण-संदर्भमें लिखते हैं—

एवं च आनन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयो विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्यायातम्। तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्—ब्रह्म तु स्फुटमप्रकटितवैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैव असम्यग् आविर्भाव इत्यायातम्॥

अर्थात् शक्तिविशिष्टताके साथ परम तत्त्वका जो पूर्ण आविर्भाव है, वही भगवत् शब्दवाच्य है। ब्रह्म उसका असम्यक् आविर्भावमात्र है। ब्रह्ममें शक्तिकी स्फूर्ति परिलक्षित नहीं होती; परन्तु अवतारोंमें शक्तिकी लीला परिलक्षित होती है। अतएव श्रीभगवत्-शक्ति-प्रकटनका तारतम्य ही अंशत्व, पूर्णत्व, पूर्णतरत्व और पूर्णतमत्वका परिमापक है। श्रीजीवगोस्वामीने कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—इस भागवतीय श्लोककी व्याख्यामें श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको पूर्णतम कहकर निर्देश किया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी लिखा है—

पूर्णो नृसिंहो रामश्च श्वेतद्वीपविराड् विभुः।
परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम्॥
वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः।
गोलोकगोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम्॥

अस्यैव तेजो नित्यं च चित्ते कुर्वन्ति योगिनः ।
भक्ताः पादाम्बुजं तेजः कुतस्तेजस्विना विना ॥
(ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पूर्वार्द्ध, अध्याय ९)

अर्थात् नृसिंह, राम और श्वेतद्वीपके विराट् विभु—ये पूर्ण हैं । परंतु वैकुण्ठमें और गोकुल (वृन्दावन) में श्रीकृष्ण ही परिपूर्णतम हैं । वैकुण्ठमें कृष्णकी विलासमूर्ति कमलापति नारायण विराजित हैं । वहाँ वे चतुर्भुज हैं । गोलोकमें तथा गोकुलमें स्वयं द्विभुज राधाकान्त हैं । इन्हींके तेजका योगिजन नित्य चिन्तन करते हैं, भक्तगण इन्हींके चरण-कमलोंकी छटाका ध्यान करते हैं ।

इसके अतिरिक्त माधुर्य-रसयुक्त ऐश्वर्य बहुत ही सुखकर होता है । श्रीकृष्णमें जैसा परमैश्वर्य और परम माधुर्यका पूर्णतम समावेश देखा जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता । विष्णुपुराणमें कहा गया है—

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥
(६।५।८४)

अर्थात् वे सम्पूर्ण कल्याण-गुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी माया शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त किया है और अपने इच्छानुसार मनमाने विविध देह धारण करते हैं और जगत्का अशेष कल्याण-साधन करते हैं । यह अनन्तगुणविशिष्ट परम तत्त्व ही भगवान् हैं तथा भागवतके अकाट्य प्रमाणके अनुसार

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीलघुभागवतामृतमें कहा गया है—

इति प्रधानशास्त्रेषु तस्य ब्रह्मस्वरूपतः।
माधुर्यादिगुणाधिक्यात् कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते॥
अतः कृष्णोऽप्राकृतानां गुणानां नियुतायुतैः।
विशिष्टोऽयं महाशक्तिः पूर्णानन्दघनाकृतिः॥

अर्थात् मुख्य-मुख्य शास्त्रोंमें माधुर्यादि गुणकी अधिकताके कारण ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता वर्णित की गयी है। अतएव असंख्य अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रीकृष्ण महाशक्तिमान् और पूर्णानन्दघन हैं।

भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त तथा बल-प्रभावादिके आधिक्यसे युक्त जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबको मेरी शक्तिके लेशसे उत्पन्न हुआ जानो। तथा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'हे अर्जुन! मेरी विभूतिके विषयमें तुमको इतना अधिक जाननेसे क्या प्रयोजन—मैं अपनी प्रकृतिके एक अंश अन्तर्यामी पुरुष अर्थात् परमात्मरूपसे इस जड-चेतनात्मक जगत्को व्याप्त करके अवस्थित हूँ।'

भगवान्के ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण-लीलाके सम्बन्धमें श्रीसनातनजीसे कहते हैं कि व्रजेन्द्रनन्दन

श्रीकृष्ण चिरकिशोर हैं। प्रकट और अप्रकट-भेदसे उनकी लीला दो प्रकारकी है। वे जब प्रकट-लीला करनेकी इच्छा करते हैं, तब पहले पिता-माता और भक्तोंको आविर्भूत करते हैं, उसके बाद स्वयं आविर्भूत होते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भक्तिरसोंके आश्रय हैं तथा नित्यलीलामें विलास करते हैं। नरलीलाका अनुकरण करनेमें विभिन्न वयस् होनेपर भी वे चिरकिशोर हैं। उनकी सारी लीलाएँ नित्य हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, एक-एक ब्रह्माण्डमें क्षण-क्षणमें पूतना-वध आदि सारी लीलाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीकृष्णका प्रकट प्रकाशकाल १२५ वर्ष है; जिसमें वे व्रजमें अपना प्रकट लीला-विलास करते हैं। श्रीकृष्ण-लीलामें भी तारतम्य पाया जाता है। व्रजधाममें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे परिपूर्णतम रूपमें प्रकाशित होते हैं, अतएव व्रजमें वे पूर्णतम हैं, मथुरामें पूर्णतर हैं और द्वारकामें पूर्ण। श्रीकृष्ण सर्वत्र एक ही हैं; परंतु केवल उनके ऐश्वर्य-माधुर्यके प्रकाशके तारतम्यमें पूर्णतमता, पूर्णतरता और पूर्णता प्रकटित होती है। जैसे एक ही चन्द्र विभिन्न तिथियोंमें कला-किरणोंको प्रकाशित करते हुए पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्णतमताको प्राप्त होता है, व्रजमें भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपने पूर्णतम ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकाशित करते हैं।

इसी कारण वृन्दावन धामकी महामहिमा है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥

कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी।
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्।
आविर्भावस्तिरोभावो भवत्येव युगे युगे॥
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥

'यह रम्य वृन्दावन ही मेरा एकमात्र धाम है। यह पाँच योजन विस्तारवाला वन मेरा देह ही है। यह कालिन्दी परम अमृतरूप जलप्रवाहित करनेवाली मेरी सुषुम्णा नाड़ी है। यहाँ देवतागण सूक्ष्मरूपसे निवास करते हैं और सर्वदेवमय मैं इस वृन्दावनको कभी नहीं त्यागता। केवल युग-युगमें इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रम्य वृन्दावन तेजोमय है, चर्मचक्षुके द्वारा यह देखा नहीं जा सकता।'

पद्मपुराणके पातालखण्डमें आया है—

यमुनाजलकल्लोले सदा क्रीडति माधवः।

अर्थात् श्रीकृष्ण यमुना-जलकी तरङ्गोंमें वहाँ सदा क्रीडा करते हैं। श्रीजीवगोस्वामी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

यमुनाया जलकल्लोले यत्र एवम्भूते वृन्दावने इति प्रकरणाल्लब्धम्।

अजहल्लक्षणासे तीर-हृदादि अर्थ भी लिया जा सकता है। तीरका अर्थ यहाँ वृन्दावन ही लक्षित है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

भा० जी० ल० १७-१८—

सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश
गोपी गोपी सङ्गे याहा कृष्णेर विलास॥

अर्थात् सबसे ऊपर श्रीगोकुल अथवा व्रजलोक धाम है, जिसे 'श्रीगोलोक', 'श्वेतद्वीप' तथा 'वृन्दावन' नामसे पुकारते हैं। वह श्रीकृष्णके शरीरके समान सर्वव्यापी, अनन्त, विभु है। ऊपर और नीचे व्याप्त है, उसका कोई हेतु नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छासे ही वह ब्रह्माण्डमें प्रकाशित हो रहा है। वह एकमात्र चैतन्यस्वरूप है; देह-देहीके समान उसका द्विविध रूप नहीं है। वहाँ भूमि चिन्तामणिके समान तथा वन कल्पवृक्षमय हैं। चर्म-चक्षुओंसे देखनेपर वह वृन्दावन-धाम प्रपञ्चके समान दीखता है। प्रेमनेत्रसे देखनेपर उसके स्वरूपका प्रकाश होता है और गोप-गोपाङ्गनाओंके साथ श्रीकृष्णकी विलासलीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णकी चित् शक्तिके द्वारा विरचित है, यह सब कुछ उन्हींकी महिमा है—इससे सहज ही

अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने महान् और कितने ऐश्वर्यशाली हैं। शास्त्रमें कहा गया है कि जो निरतिशय बृहत् है, जिससे बड़ा और कुछ नहीं है, वही ब्रह्म है; प्राकृत-अप्राकृत अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें अवस्थित हैं। ब्रह्म सर्वाधार है, परंतु उस ब्रह्मके भी प्रतिष्ठान, आधार श्रीकृष्ण हैं। गीतामें उन्होंने कहा है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अतएव श्रीकृष्ण क्या वस्तु हैं, यह इससे समझा जा सकता है। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

एइ मत षडैश्वर्य-पूर्ण अवतार।
ब्रह्मा विष्णु अन्त ना पाय जीव केन छार॥

अर्थात् श्रीकृष्णका पूर्णावतार इस प्रकार षडैश्वर्योंसे पूर्ण है। उनका ब्रह्मा और विष्णु भी जब अन्त नहीं पाते, तब बेचारा मिट्टीका पुतला जीव क्या पता पा सकता है। ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निजधाम गोलोक श्रीवृन्दावनके नीचे परव्योम है, जिसे विष्णुलोक भी कहते हैं, तथा देवीलोक अर्थात् मायालोक, शिवलोक आदि लोक परव्योमके नीचे हैं। इन लोकोंमें तत्तद्देवोंके प्रभावोंका जो विधान करते हैं, उन गोलोकविहारी आदिपुरुष गोविन्दको मैं भजता हूँ।

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य और माधुर्य

भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। एक वार श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीसे कहा कि मैं तुमसे एक-पादविभूतिकी वात कह रहा हूँ, श्रवण करो। श्रीकृष्णकी त्रिपादविभूति मन और वाणीके अगोचर है। त्रिपादविभूतिकी तो वात ही क्या, एकपादविभूतिका भी कोई अन्त नहीं पा सकता। परिदृश्यमान एक-एक सौर जगत् एक-एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकारके ब्रह्माण्ड असंख्य हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक सृष्टिकर्त्ता, एक संहारकर्त्ता और एक पालनकर्त्ता हैं। इनका साधारण नाम चिर-लोकपाल है।

श्रीकृष्णकी द्वारका-लीलाके समय एक दिन इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उनके दर्शनार्थ द्वारकामें आये। उन्होंने आकर द्वारपालके द्वारा अपने आगमनकी सूचना दी। श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा—'कौन ब्रह्मा आये हैं, उनका नाम क्या है? पूछकर आओ।' द्वारपालने ब्रह्माके पास आकर तदनुसार पूछा। सुनकर ब्रह्मा विस्मित होकर वोले—'मैं सनक-पिता चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ।' द्वारपालने श्रीकृष्णके पास जाकर ब्रह्माके उत्तरको निवेदन किया। श्रीकृष्णने ब्रह्माको अंदर बुलानेकी आज्ञा दी। ब्रह्माने आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीकृष्णने उनका यथायोग्य पूजा-सत्कार करके आनेका कारण पूछा। ब्रह्मा वोले—"मैं अपने आनेका कारण पीछे निवेदन करूँगा; पहले यह तो वतलाइये कि आपने द्वारपालके द्वारा जो पुछवाया कि 'कौन ब्रह्मा

आये हैं'—इसका कारण क्या है ? क्या ब्रह्माण्डमें मेरे सिवा कोई और ब्रह्मा भी हैं ?"

ब्रह्माके इस प्रश्नको सुनकर श्रीकृष्ण मुस्कराये और तत्काल ही उस सभामें अनेकों ब्रह्माओंका आविर्भाव हो गया । उनमें कोई तो दस मुखका था, कोई बीस मुखका, कोई सौ मुखका, कोई सहस्रमुख, कोई लक्षमुख । इन असंख्य ब्रह्माओंके साथ-साथ लक्ष-कोटि नेत्रोंवाले इन्द्र प्रभृति देवता भी आये । उनको देखकर चतुर्मुख ब्रह्माके आश्चर्यकी सीमा न रही । वे सब ब्रह्मा आकर कोटि-कोटि मुकुटोंके द्वारा श्रीकृष्णके पादपीठको स्पर्श करने लगे और प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभो ! इन दासोंका किसलिये आपने आह्वान किया है ?' श्रीकृष्ण बोले—'कोई विशेष प्रयोजन नहीं है । आपलोगोंको देखनेकी इच्छासे ही बुलाया है ।' इसके बाद श्रीकृष्णने उनको एक-एक करके बिदा किया । चतुर्मुख ब्रह्मा विस्मित नेत्रोंसे यह सब देख रहे थे; अन्तमें श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार करते हुए बोले—'प्रभो ! मेरा संशय निवृत्त हो गया; जो सुनना-जानना चाहता था, वह प्रत्यक्ष देख लिया ।' इतना कहकर ब्रह्मा श्रीकृष्णसे आज्ञा प्राप्तकर अपने धामको चले गये ।

गोलोक अर्थात् गोकुल, मथुरा और द्वारका—इन तीन धामोंमें श्रीकृष्ण नित्य अवस्थान करते हैं । ये तीनों धाम उनके स्वरूपैश्वर्यद्वारा पूर्ण हैं । अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर होकर भी प्रभु अपनी योगमायासे इस गोलोकधाममें लीला करते हैं । उनकी यह गोप-लीलामूर्ति उन वैकुण्ठादि लोकोंकी अधीश्वर-मूर्तियोंकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है ।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
(३।२।१२)

'श्रीभगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानव-लीलाके योग्य जो श्रीविग्रह धारण किया था, वह स्वयं प्रभुके चित्तको विस्मित करनेवाला था, सौभाग्य और ऐश्वर्यका परम धाम था तथा आभूषणोंको भी भूषित करनेवाला था।' श्रीभगवान्‌की अन्यान्य देवलीलाओंकी अपेक्षा यह मानव-लीला अधिक मनोहर है। इसमें भगवान्‌की चित्-शक्तिका अद्भुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी मनोहरताका लेश भी किसी देवलीलामें नहीं पाया जाता। यही बात भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है—

स्वस्य देवादिलीलाभ्यो मर्त्यलीला मनोहरा।
अहो मदीयचिच्छक्तेः प्रभावं पश्यताद्भुतम्॥
दिव्यातिदिव्यलोकेषु यद्गन्धोऽपि न सम्भवेत्॥

श्रीमद्भागवतमें इसी रूपकी महिमाका संकेत करते हुए कहते हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
(१०।४४।१४)

रङ्गस्थलमें श्रीकृष्णका दर्शन करके मथुरानगरीकी रमणियाँ बोलीं कि 'जो लावण्यका सार है, जिसकी तुलनामें भी कोई दूसरा रूप नहीं रखा जा सकता, फिर उससे बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है, जिसकी रमणीयता स्वयं सिद्ध है तथा जो क्षण-क्षण नूतन बना रहता है, जो महान् ऐश्वर्य, शोभा और यशका एकान्त आश्रय है तथा जो औरोंके लिये दुर्लभ है, श्रीकृष्णके उस रूपको गोपिकाएँ निरन्तर नयनोंके द्वारा पान करती रहती हैं अतएव बतलाओ, उन्होंने कौन-सा तप किया है ?' तथा—

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २४ । ६५)

'मकराकृति कुण्डलोंके द्वारा शोभायमान मनोहर कर्णयुगल तथा गण्डयुगलसे जो मुखमण्डल श्रीसम्पन्न हो रहा है, जिसमें विलास-युत मन्द-मधुर मुसकान विराज रही है तथा जो नित्य आनन्दमय है, श्रीकृष्णके उसी मुखाम्बुजको नेत्रद्वारा पान करके नर-नारीगण आनन्दसे परितृप्त हो रहे हैं तथा उस दर्शनमें बाधा डालनेवाले निमेषोन्मेषको सहन न करके इनके गिरानेवाले निमिके प्रति कोप प्रकाशित कर रहे हैं ।

श्रीभगवान्‌का भजन करनेवालोंके लिये उनके गुणोंमें माधुर्यकी ही प्रधानता है । गोपीगण माधुर्यमूर्ति श्रीभगवान्‌की प्रियतमा

उपासिका हैं। श्रीविल्वमङ्गलका श्रीकृष्णकर्णामृत, जयदेवका श्रीगीतगोविन्द, सूरदास, विद्यापति और चण्डीदासकी पदावलियाँ आदि ग्रन्थ श्रीकृष्ण-माधुर्य-वर्णनके अशेष अमृत भंडार हैं। श्रीमद्भागवतकी तो बात ही क्या, अन्यान्य ग्रन्थोंमें श्रीकृष्णलीलाका सहस्रों स्थलोंपर वर्णन प्राप्त होनेपर भी श्रीमद्भागवत और महाभारतमें विस्तृतरूपसे भगवान्‌की माधुर्यमयी तथा ऐश्वर्यमयी लीलाका रसास्वादन प्राप्त होता है। महर्षि व्यासने अपने इन महान् ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिख दिया है कि 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।'

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें श्रीकृष्णके जन्म-प्रसङ्गका वर्णन है। जब कारागारमें वसुदेवके यहाँ श्रीकृष्ण चतुर्भुज नारायणरूपमें अवतीर्ण हुए, तब उस रूपको देखकर वसुदेव और देवकी विस्मयापन्न हो उठे। देवकी उस चतुर्भुज रूपके तेजको सह न सकनेके कारण प्रार्थना करने लगीं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

अर्थात् 'हे विश्वात्मन्! शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मकी शोभासे युक्त अपने इस अलौकिक चतुर्भुज रूपका उपसंहार करो।' भक्तवत्सल भगवान्‌ने तत्काल ही द्विभुजधारी प्राकृत शिशुका आकार ग्रहण किया। वसुदेवजीने उनकी आज्ञासे उस प्राकृत शिशुको नन्दजीके घर पहुँचा दिया। ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्णका जब कंसके

कारागारमें ऐश्वर्यमय रूपमें आविर्भाव हुआ, उसी समय मधुररूपमें वे यशोदाके यहाँ भी प्रकट हुए थे। वसुदेवजी जब शिशु कृष्ण-को लेकर यशोदाके सूतिकागृहमें पहुँचे, उसी समय वसुदेवनन्दन उन यशोदानन्दन परिपूर्णतम लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हो गये और बदलेमें वे नन्दात्मजा महामायाको ले आये। श्रीकृष्णकी प्रेमानन्द-माधुर्यमयी लीलाका श्रीगणेश नन्दजीके घरसे ही प्रकट होता है। मानव-शिशुका ऐसा भुवन-मोहन रूप और कहीं देखनेमें नहीं आता। श्रीकृष्ण सर्वप्रथम अपने रूपके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यसे गोप-गोपिकाओंके चित्तको आकर्षित करते हैं। श्रीभगवान्‌के जितने रूप प्रकट हुए हैं, ऐसा सुन्दर सच्चिदानन्द विग्रह और कहीं प्रकट नहीं हुआ। इस रूप-माधुर्यसे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आकृष्ट हो जाते हैं।

इसके बाद पूतना-मोचन, तृणावर्त-वध, वत्सासुर-वध, बकासुर-वध; अघासुर-प्रलम्बासुर-शङ्खचूड-अरिष्ट-केशी-व्योमासुर-वध, कंसके महलमें कुवलयापीड गजराजका वध इत्यादि कार्योंमें श्रीकृष्णका असीम वीर्य-पराक्रम, असीम सुहृद्वात्सल्य तथा असीम लोकानुग्रहका परिचय प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें कंस-वध श्रीकृष्णके आविर्भावके प्रथम कारणरूपमें वर्णित है। एक गोपबालक श्रीकृष्णका अनेक यदुवीरोंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दण्ड प्रतापशाली महाबली कंसको युद्धमें क्षणभरमें पछाड़ना उनकी भगवत्ताको प्रकट करता है। उसके बाद इन्होंने प्रबल शक्तिशाली मगध-सम्राट् जरासंधको, जिसने सैकड़ों राजाओंको पराजित करके उनको कारागृहमें डालकर उनके राज्य हड़प लिये थे,

नीति-बलसे भीमके द्वारा मल्लयुद्धमें मरवा डाला। जरासंधके पास अपार सैनिक बल था। उसकी सैन्यशक्तिका कुछ अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि महाभारतके युद्धमें उभय-पक्षमें कुल मिलाकर केवल अठारह अक्षौहिणी सेना थी, जब कि जरासंधने तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना साथ लेकर सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालित मथुरापुरीपर चढ़ाई की, किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर तथा अपनी सारी सेनाको खपाकर लौट जाना पड़ा। श्रीकृष्ण उसे हर बार इसी आशासे जीता छोड़ देते थे कि वह दुबारा विशाल वाहिनी लेकर मथुरापर चढ़ आयेगा और इस प्रकार घर बैठे उन्हें पृथ्वीका भार हरण करनेका अवसर हाथ लगेगा। अठारहवीं बार दूसरे प्रबलतर शत्रु कालयवनको भी साथ-ही-साथ आक्रमण करते देखकर प्रभुने अपनी यादवी सेनाको संहारसे बचानेके उद्देश्यसे संग्राम-भूमिसे भाग खड़े हुए और इसी बीचमें समुद्रके बीच द्वारकापुरी बसाकर समस्त मथुरावासियोंको उन्होंने योगबलसे वहाँ पहुँचा दिया। अन्तमें भीमसेनके द्वारा जरासंधको भी मरवाकर श्रीकृष्णने बंदीगृहसे राजाओंको मुक्त किया और इस प्रकार दुर्बलोंके ऊपर सबलके अत्याचारको समाप्त कर दिया। इसके बाद नरकासुर, बाणासुर, कालयवन, पौण्ड्रक, शिशुपाल, शाल्व आदिके वध भी साधारण पराक्रमके द्योतक नहीं हैं। इसीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
> समीहितेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
> न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
> स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥

'जो अनन्तगुणशाली भगवान् अपनी लीलासे त्रिभुवनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते रहते हैं, उनके लिये शत्रुपक्षका निग्रह करना कोई चमत्कारकी बात नहीं है, तथापि उन्होंने मनुष्यके समान युद्धमें असाधारण युद्धनैपुण्य दिखलाकर और विजय प्राप्त करके संसारके लोगोंके सामने वीरताका आदर्श उपस्थित किया, इसीलिये उसका वर्णन किया जाता है।'

इस अलौकिक ऐश्वर्य-लीलाके बीच श्रीभगवान्‌ने जो अति विलक्षण प्रेम—माधुर्यकी लीला प्रदर्शित की है, उसका आभास श्रीउद्धवजीको व्रजमें दूत बनाकर भेजनेकी लीलामें मिलता है। भागवत, दशम स्कन्धके ४६वें अध्यायमें श्रीकृष्ण गोपियोंको अपना संदेश भेजते समय अपने प्रिय सखा भक्तप्रवर श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव! तुम व्रजमें जाओ, मेरी विरह-विधुरा गोपिकाएँ मुझको न देखकर मृतवत् पड़ी हुई हैं। मेरी बात सुनाकर तुम उन्हें सान्त्वना दो। उनके मन प्राण-बुद्धि और आत्मा दिन-रात मुझमें ही अर्पित हैं। वास्तवमें मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नहीं जानतीं; उन्होंने मेरे लिये लोकधर्म, वेदधर्म तथा देहधर्म—सबका परित्याग कर दिया है। वे व्रजबालाएँ दिन-रात केवल मेरा ही चिन्तन करती हैं, विरहकी उत्कण्ठामें वे विह्वल हो रही हैं; मेरे स्मरणमें, मेरे ध्यानमें विमुग्ध पड़ी हुई हैं तथा मुझको देखनेकी आशामें अतिक्लेशसे जीवन-यापन कर रही हैं।'

श्रीकृष्णके इस सरल हृदयगत भावोच्छ्वाससे सहज ही जाना जाता है कि उनका हृदय प्रेम-रस—माधुर्यसे इतना परिपूर्ण है!

आगे चलकर एकादश स्कन्धके द्वादश अध्यायमें श्रीकृष्ण पुनः उद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव ! व्रजबालाओंकी बात मैं तुमसे क्या कहूँ। श्रीवृन्दावनमें वे सुदीर्घ कालतक मेरे सङ्ग-सुखको प्राप्त कर चुकनेके बाद भी उस सुदीर्घकालको एक क्षणके समान बीता हुआ समझती थीं। इस समय मेरे चले आनेके कारण आधा क्षण भी उनके लिये कोटि कल्पोंके समान क्लेशप्रद हो रहा है। उनको जब मेरा सङ्ग प्राप्त होता था, तब वे अपना गेह-देह-मन-प्राण-आत्मा सब कुछ भूल जाती थीं । जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपनेको खो देती हैं, ध्यानमग्न मुनिगण जैसे समाधिमें अपने-आपको खो देते हैं, गोपियाँ भी मुझको पाकर उसी प्रकार आत्म-विस्मृत हो जाती थीं । हे उद्धव ! व्रजबालाओंके भाव-रस, ध्यान-धारणा योगीश्वरोंकी ध्यान-समाधिसे भी अधिक प्रगाढ़ हैं।' इस कथासे श्रीकृष्णके महागाम्भीर्यमय माधुर्यभावका परिचय प्राप्त होता है। श्रीरासलीलामें उन्होंने जिस महान् माधुर्यका निदर्शन प्रदर्शन किया है, उसकी तुलना कहीं नहीं है। उसको प्रकट करनेके लिये उपयुक्त भाषाका अभाव है, मानवी भाषामें कभी वह भाव प्रकाशित ही नहीं किया जा सकता। रासलीलाके अवसान-में उन्होंने गोपी-प्रेमके महान् माधुर्यको अपने हृदयमें अनुभव करके कहा था कि 'मैं तुमलोगोंके प्रेमका सदाके लिये ऋणी हूँ। तुम-लोगोंने दुरन्त—दुश्छेद्य गृहशृङ्खला, समाज-बन्धन, लोक-धर्म और वेदधर्मका त्याग करके, आर्यपथको छोड़कर मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं कदापि तुम्हारे इस अनवच्छिन्न, अनवद्य,

अव्यभिचारी प्रेमका बदला नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारे प्रेम-ऋणका ऋणी होकर चिरकालके लिये तुम्हारे चरणोंमें बँध गया। इस ऋणके परिशोधका साधन मेरे पास नहीं है; तथापि यदि तुम्हारे भावमें तुम्हारा अनुशीलन कर सकूँ, रात, दिन तुम्हारे भावमे विभोर हो सकूँ, तुम्हारा गुण-कीर्तन करते-करते, तुम्हारा नाम जपते-जपते, तुम्हारा रूप-ध्यान करते-करते दिन-रात बिता सकूँ तो वही तुम्हारे सामने मेरा कृतज्ञताज्ञापन तथा आत्मप्रसाद-प्राप्तिका यत्किंचित् उपाय होगा।'

सांदीपनि मुनिके आश्रममें रहते हुए श्रीकृष्ण स्वल्पकालमें ही १४ विद्याओं और ६४ कलाओंमे पारंगत हो गये। हम युद्ध-कलाकी शिक्षाके लिये सांदीपनि मुनिके गुरुकुलको धन्यवाद दें, अथवा यमुनातटस्थ केलिकुञ्जसमलंकृत, गोपबालाविलसित रास-स्थलीको धन्यवाद दें— समझमें नहीं आता। जो रण-रङ्गमें रुद्रलीलाके ताण्डवनृत्यमें विश्वविजयी महागुरु है, वे ही रासलीलामें व्रजबालाओंको नृत्यशिक्षाके लिये गुरुरूपमें वरण करते हैं—इसका चिन्तन करते-करते मन भावना-सिन्धुकी तरङ्गोमें तरङ्गायमाण होने लगता है।

श्रीकृष्णकी शिक्षाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें जो वर्णन है, वह अद्भुत है। श्रीकृष्णकी राजनीतिके विषयमें जगत्‌मे आन्दोलन और आलोचना होती आ रही है और होती रहेगी। परंतु महाभारतमें जो हमें विशाल, विपुल राजनीतिकी सामग्री प्राप्त होती है, व्यास-भीष्म आदि जो नीतिका उपदेश देते हैं, वह

समस्त नीति एक श्रीकृष्णमें मूर्तिमान् होकर नित्य विराजती है। युद्ध-नीतिमें श्रीकृष्णकी अपूर्व बुद्धि तथा संग्राममें उनकी असीम शक्तिका वर्णन महाभारतमें पद-पदपर प्राप्त होता है। जो वृन्दावनमें वन-वन धेनु चराते और वंशी बजाते थे, वे ही पाञ्चजन्य-शङ्खके मधुर-घोर निनादसे, कौमोदकी गदाके भीषण प्रहारसे, शार्ङ्गधनुषके सुतीक्ष्ण शराघातसे; सुदीर्घ धूमकेतुसम कृपाण और खड्ग तथा अनन्त शक्तिशाली सुदर्शन चक्रके प्रभावसे देवताओं और मनुष्यों-को भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दान्त दैत्योंको संत्रस्त और निहत करके अपने बल-वीर्य और पराक्रमकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं। कहाँ तो यमुना-पुलिनमें, कुञ्ज-काननमें मुरलीके मधुर नादसे व्रजबालाओंको आकुलित करना और कहाँ पाञ्चजन्यके भीषण निनादसे समराङ्गणको प्रकम्पित करना! चरित्रका ऐसा पूर्णतम बहुमुखी विकास और कहाँ मिल सकता है!

श्रीकृष्णके दिव्य उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें उपलब्ध हैं और भागवत, महाभारतादि शास्त्रोंमें नीति-धर्म और आचारसम्बन्धी उनके उपदेश भरे पड़े हैं। कर्णपर्वके ६९वें अध्यायमें अर्जुनको श्रीकृष्णने धर्म-तत्त्वके सम्बन्धमें एक सूक्ष्म उपदेश प्रदान किया है। उपदेशका हेतु यह है कि अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति उन्हें गाण्डीव परित्याग करनेके लिये कहेगा, उसको वे मार डालेंगे। दैवात् जब कर्ण सेनानी होकर पाण्डव-सैन्यको मथने लगा और अर्जुन उसे पराजित न कर सके, तब युधिष्ठिरने रुष्ट होकर उन्हें उत्साहित करनेके उद्देश्यसे भर्त्सना करनी प्रारम्भ की—

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ
यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य ।
तदाहनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं
मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाद्यशक्तः
चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ।
प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेत-
द्यत्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः ॥
(अ० ६८ । २६½-२७½)

'तुम अपना गाण्डीव-धनुष भगवान् श्रीकृष्णको दे दो तथा रणभूमिमें स्वयं इनके सारथि बन जाओ । फिर जैसे इन्द्रने हाथमें वज्र लेकर वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्णको मार डालेंगे । यदि तुम आज रणभूमिमें विचरते हुए इस भयानक वीर राधापुत्र कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो ।'

धर्मराजके इस वचनको सुनकर सत्यसङ्कल्प अर्जुन पददलित नागराजके समान क्रुद्ध हो उठे और खड्ग उठाकर उनका शिरश्छेदन करनेके लिये उद्यत हो गये । श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने अर्जुनको रोकते हुए कहा—

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै ।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः ॥
(कर्ण० ६९ । १८)

'पार्थ ! जो करने योग्य होनेपर भी असाध्य हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हों ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है वह पुरुषोंमें अधम माना गया है ।'

यही नहीं, यहाँ श्रीकृष्णने अहिंसाका उपदेश देते हुए कहा है—

> प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ।
> अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥
> (कर्ण० ६९ । २३)

'तात ! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है । किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे ।'

युद्ध-नीतिका उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

> अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद ।
> पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥
> कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ।
> न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥
> (कर्ण० ६९ । २५-२६)

'मानद ! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो, संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं । तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं ।'

श्रीकृष्णने अर्जुनसे पुनः कहा—हे पार्थ ! धर्मकी गति अतिसूक्ष्म है । किसी कार्यमें धर्म होता है तो किसी कार्यमें धर्मका क्षय होता है, इसका विचार करना सहज नहीं है ।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥
(कर्ण० ६९ । ३१)

'सत्य बोलना उत्तम है । सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है, परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है ।'

बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती, उनके मुखपर दुर्वचन कहनेसे ही उनका वध हो जाता है । यही धर्म-तत्त्व है ।

महाभारतके अन्तमें सारे नर-संहारका कारण अपनेको मानकर जब युधिष्ठिर विलाप करने लगे, तब भगवान्ने धर्मतत्त्वका सार उपदेश करते हुए उनसे कहा—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

'सब प्रकारकी कुटिलता ही मृत्युका आस्पद है और सरलता मोक्षका मार्ग है । इतना ही ज्ञातव्य विषय है । इस व्यर्थके प्रलापसे क्या लाभ ?'

युधिष्ठिरको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए अन्तमें वे कहते हैं—

लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां स तु स्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥

'महाराज ! यदि किसीने सारी स्थावर-जङ्गमात्मक पृथ्वीको प्राप्त कर लिया, परंतु उसमें उसकी ममता नहीं है तो वह उस पृथ्वीको लेकर क्या करेगा ।'

श्रीकृष्णके द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक उपदेशरत्न यत्र-तत्र शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं । भगवद्गीता, उद्धवगीता, अनुगीता आदिमें आध्यात्मिक ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है, इन ग्रन्थोंमें भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट अलौकिक सारे तत्वज्ञान भरे पड़े हैं । श्रीकृष्णके द्वारा जगत्‌के जीवोंके कल्याणार्थ दिये गये विभिन्न प्रकारके योग, ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनपरक उपदेश जो इन ग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ प्राप्त होते हैं, उनके सर्वज्ञत्वके द्योतक हैं, पूर्णतमत्वके परिचायक हैं ।

३. अभिधेय तत्त्व

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—परमतत्त्वके ये त्रिविध आविर्भाव उपासकोंकी विभिन्न धारणाओंके अनुसार शास्त्रमें वर्णित हैं । श्रीकृष्ण परमतत्त्वके पूर्णतम आविर्भाव हैं, यह उपर्युक्त सम्बन्धतत्त्वमें विविध प्रकारसे निर्दिष्ट किया जा चुका है । श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह बात सुनकर चित्तमें स्वभावतः ही यह सद्वासना उत्पन्न होती है कि हृदयकी ऐसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति कैसे हो सकती है । इस जिज्ञासाकी परितृप्तिके लिये 'अभिधेय तत्त्व' की अवतारणा की जाती है । श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी ।

पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर ! भवानेव शरणम् ॥

'माता श्रुतिसे पूछा गया तो उन्होंने तुम्हारी आराधना करनेके लिये कहा । माता श्रुतिने जो बतलाया, वहिन स्मृतिने भी वही कहा । पुराण-इतिहास आदि भ्रातृवर्ग भी उन्हींके अनुगामी हैं; अर्थात् उन्होंने भी तुम्हारी आराधना करनेके लिये ही कहा है । अतएव हे मुरारि ! एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, यह मैंने ठीक-ठीक जान लिया ।'

यह कहा जा चुका है कि तटस्थाशक्तिरूप समस्त जीव श्रीकृष्णके ही विभिन्नांश हैं । वे जीव नित्यमुक्त और नित्य-संसारी भेदसे दो प्रकारके हैं । जो सदा श्रीकृष्णके चरणोंमें उन्मुख रहते हैं, वे नित्यमुक्त हैं और उनकी गणना पार्षदोंमें होती है । इसके विपरीत जो जीव नित्य बहिर्मुख रहते हैं, वे ही नित्य-संसारी हैं । वे अनादि बहिर्मुखताके वश होकर संसारके बन्धनमें पड़कर दुःख-भोग करते हैं । बहिर्मुखताके कारण माया उनको बन्धनमें डालकर त्रितापसे संतप्त करती रहती है । जीव काम और क्रोधके वशीभूत होकर त्रिताप भोगता रहता है । संसारचक्रमें भ्रमण करते-करते जब जीवको साधु-सङ्ग प्राप्त होता है, तब उनके उपदेशसे संसार-रोगसे मुक्ति मिल जाती है । जीव कृष्णभक्ति प्राप्त करके पुनः श्रीकृष्णके चरणप्रान्तमें गमन करता है । अतएव संसारके त्रिविध तापोंसे निस्तार पानेके लिये जीवको सारी वासनाओंका परित्याग करके एकमात्र कृष्णभक्ति करना ही विधेय है ।

श्रीकृष्णभक्ति ही सर्वप्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान—ये तीनों भक्तिमुखापेक्षी हैं। भक्तिके फलकी तुलनामें कर्म, योग और ज्ञानके फल अति तुच्छ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना कर्मादि अति तुच्छ फल प्रदान करनेमें भी समर्थ नहीं होते। भक्ति-रहित कर्म और योग कुछ-कुछ फल प्रदान करके निवृत्त हो जाते हैं, परंतु वे फल चिरस्थायी नहीं होते। भक्ति-रहित ज्ञान भी इसी प्रकार अकिंचित्कर होता है। श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(२।४।१७)

'तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्र-जप करनेवाले तथा सदाचारी लोग अपना तप आदि जिसको समर्पण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं कर सकते, उन मङ्गल यशवाले भगवान्‌को पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।'

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।२-३)

'विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और चरणोंसे सत्त्वादि गुण-तारतम्यके अनुसार पृथक्-पृथक् ब्राह्मण आदि वर्णों और आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। जो इस वर्णाश्रमके साक्षात् जनक, नियन्ता एवं आत्मा उन ऐश्वर्यशाली पुरुषको नहीं भजते, अपितु उनकी अवज्ञा करते हैं, वे कर्मोंके द्वारा प्राप्त अपने अधिकारसे च्युत होकर नीचे गिर जाते हैं।'

जो लोग जान-बूझकर भगवत्पादपद्मोंकी भक्तिके प्रति अवज्ञा प्रकट करते हैं, ज्ञानके द्वारा उनके पापकर्मोंके दग्ध हो जानेपर भी इस अवज्ञाके अपराधसे उनका संसार-बीज नष्ट नहीं होता। श्रीकृष्ण-भक्तिके बिना मायाके पंजेसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है। भगवान्ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

अर्थात् जो एक बार भी मेरे शरणागत होकर यह कहता हुआ कि 'हे प्रभो! मै तुम्हारा हूँ' मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, मैं उसको सदाके लिये निर्भयताका वर दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

इसीलिये श्रीमद्भागवतमे कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२।३।१०)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह चाहे अकाम अर्थात् एकान्तभक्त हो, सर्वकाम अर्थात् इहामुत्र कर्मफलकी कामना करनेवाला हो, अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, उसे तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीकृष्णकी आराधना करनी चाहिये।'

मनुष्यका चित्त स्वभावतः सकाम और स्वार्थके लिये व्याकुल होता है। जबतक देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी यह स्वार्थ-कामना वर्तमान है, तबतक चित्त भगवत्साधनाके द्वारा अपनी सुख-वासनाकी पूर्तिके लिये व्याकुल न होगा। साधना या उपासनाका प्रधानतम पवित्र उद्देश्य है—भगवद्भावके द्वारा हृदयको नित्य-निरन्तर पूर्ण किये रखना। परंतु नश्वर धन-जन, यश-मान, विषय-वैभव तथा भोग-विलासकी लालसामें यदि हृदय व्याकुल रहता है तो इससे साधनाके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती। दयामय भगवान् जिसके प्रति अनुग्रह करते हैं, उसके हृदयसे विषय-भोगकी वासना और लालसाको तिरोहित कर देते हैं और अपने चरणोंमें अनुराग प्रदानकर विषयवासनाको दूर कर देते हैं।

साधु-सङ्ग

सांसारिक वासनासे निष्कृति प्राप्त करना जीवके लिये सहज नहीं है। संतकी संगतिके विना संसारकी निवृत्ति नहीं होती। पूर्व जन्मोंके शुभ कर्मोंके विना तथा भगवत्कृपाके विना साधु-सङ्ग मिलना दुर्घट है। सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है, अतएव साधुसङ्ग भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥
(१० । ५१ । ५४)

हे अच्युत ! जन्म-मृत्युरूप इस संसारका चक्कर काटते-काटते जब किसी मनुष्यकी संसार-वासनाके क्षयकी ओर प्रवृत्ति होती है, तब उसको साधुसङ्ग प्राप्त होता है । साधुसङ्ग प्राप्त होनेपर उनकी कृपासे संतोंके आश्रय तथा कार्य-कारणरूप जगत्‌के एकमात्र स्वामी आपमें रति उत्पन्न होती है ।'

कभी-कभी भगवान् अपनी साधु-संततिको प्रेरित करके अपनी कृपाके योग्य जीवोंको संसार-बन्धनसे मुक्त करते हैं, कभी स्वयं अन्तर्यामीरूपसे उनके हृदयमें भक्ति-तत्त्वका प्रकाश करते हैं । उनकी कृपाकी इयत्ता नहीं है । श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने ।
गुरु अन्तर्यामि रूपे शिखाय आपने ॥ × × ×
साधुसङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय ॥

अर्थात् यदि किसी भाग्यवान् जीवपर श्रीकृष्णकी कृपा होती है तो वे अन्तर्यामी गुरुके रूपमें उसको स्वयं शिक्षा देते हैं । यदि साधुसङ्गके फलस्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा होती है तो वह

भक्ति-साधन करता है और उसके फलस्वरूप उसे श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त होता है तथा आवागमनरूप संसारका नाश हो जाता है। अतएव श्रद्धालु पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

> जातश्रद्धो मत्कथादौ निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
> वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
> ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
> जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
> (श्रीमद्भा० ११। २०। २७-२८)

हम चित्तकी अनन्त कामनाओंसे निरन्तर व्याकुल रहते हैं। सागरकी तरङ्गोंके समान कामनाओंकी तरङ्गें एक-एक करके आती हैं और हमारे हृदयको विक्षुब्ध कर देती हैं; हम इसको समझते हैं, पर उनका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी अवस्थामें हम विवेक-वैराग्यका अधिकार प्राप्त करके ज्ञानकी साधनामें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं। संसारमें अत्यधिक आसक्तिके कारण भक्तियोगका अधिकारी होना भी असम्भव ही जान पड़ता है। परंतु श्रीभगवान्‌की आश्वासन-वाणी यहाँ भी हमारे भीतर आशाका संचार करती है। वे कहते हैं—'अविद्याके महाप्रभावसे तुम सहसा सांसारिक कामनाओंका परित्याग नहीं कर सकते, यह सत्य है। परंतु मेरी कथामें श्रद्धावान् होकर, दृढ़निश्चयी होकर, प्रसन्नचित्त होकर दुःखप्रद कामनाओंका भोग करते समय भी उनको निन्दनीय समझते हुए मेरा भजन करते रहो।' भक्ति

स्वतन्त्र है; ज्ञानके लिये जैसे पहले विवेक-वैराग्य आवश्यक हैं, भक्तिके लिये उस प्रकारकी किसी पूर्वावस्थाकी अपेक्षा नहीं होती।

भक्तिर्हि स्वतः प्रवर्त्स्यात् अन्यनिरपेक्षा।

श्रीभगवान् और भी कहते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(११।२०।३१)

'अतएव मेरी भक्तिसे युक्त तथा मुझमें लीन रहनेवाले योगीके लिये पृथक् ज्ञान-वैराग्यरूप साधन श्रेयस्कर नहीं; क्योंकि भक्तिकी साधनामें प्रवृत्त होनेपर ये स्वतः आविर्भूत होते हैं।' श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥
(१।२।७)

यों तो कर्म और ज्ञानकी साधनाके लिये भी श्रद्धा अपेक्षित है, क्योंकि श्रद्धाके बिना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु भक्तिमें सम्यक् प्रवृत्तिके लिये तो श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धाके बिना अनन्य भक्तिमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं और होनेपर भी वह स्थायी नहीं होती। कर्म-परित्यागका अधिकार दो प्रकारसे होता है— ज्ञानमार्गमें वैराग्यके उदयके लिये और भक्तिमार्गमें श्रद्धाके उदयके लिये कर्म-त्याग प्रशस्त होता है। परन्तु भक्ति-साधनामें श्रद्धासे

भी बढ़कर महत्कृपाकी आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> रहूगणैतत् तपसा न याति
> न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
> नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
> र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
> (५। १२। १२)

जडभरतजी कहते हैं—'हे रहूगण! महापुरुषकी चरण-धूलिसे अभिषेक किये बिना धर्म-पालनके लिये कष्ट सहने, यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी उपासनासे, अन्नादिके दानसे, गृहस्थोचित धर्मानुष्ठानसे, वेदाध्ययनसे अथवा मन्त्रोंके द्वारा वरुण, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे भी मनुष्य भगवद्भक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।'

यह श्रीकृष्ण-भक्ति जीवके लिये सर्वप्रधान कर्तव्य होनेपर भी वेदविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म सबके लिये कर्तव्य हैं। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

> श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
> आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति भगवान्‌की ही आज्ञा हैं; और जो इनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा विद्रोही तथा द्वेषी है; वह मेरा भक्त या वैष्णव नहीं कहला सकता।

यह साधारण मनुष्यके लिये उपदेश है। इसके विपरीत श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारमें भगवान्‌ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

यहाँ सर्व-कर्म-परित्यागका उपदेश दिया गया है। इससे भगवद्वाक्यमें परस्पर विरोधकी आशङ्का होती है। इसके समाधान-स्वरूप श्रीमद्भागवतमें भक्त उद्धवके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(११।२०।९)

अर्थात् तभीतक वेदविहित कर्मोंका करना आवश्यक है जबतक निर्वेद (वैराग्य) न हो जाय और मेरी कथा सुननेमें तथा मेरा भजन करनेमें जबतक श्रद्धा न उत्पन्न हो।

भगवद्भक्तिके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं। भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥
यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।
यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते॥

अर्थात् जो शास्त्रमें तथा युक्तिमें निपुण है तथा सब प्रकारसे तत्त्वविचारके द्वारा दृढनिश्चयी है, ऐसा प्रौढ श्रद्धावान् व्यक्ति भक्तिका उत्तम अधिकारी है। शास्त्रवचनमें विश्वास ही श्रद्धा कहलाता

है। श्रद्धाके तारतम्यके अनुसार ही भक्तिके अधिकारीके तारतम्यका निर्णय किया जाता है। सर्वथा दृढ़निश्चयी वह है जो तत्त्वविचार, साधन-विचार तथा पुरुषार्थके विचारसे दृढ़निश्चयपर पहुँच गया है। युक्तिका अर्थ शास्त्रानुगायुक्ति है, स्वतन्त्र युक्ति नहीं। जो शास्त्रादिमें निपुण नहीं हैं, परन्तु श्रद्धावान् हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं। अनिपुणका अर्थ है—जो अपनी श्रद्धाके प्रतिकूल बलवान् तर्क उपस्थित होनेपर उसका समाधान नहीं कर सकता। बहिर्मुख व्यक्तिके कुतर्कसे क्षणमात्रके लिये चित्तके डोल जानेपर भी जो अपने विवेकद्वारा गुरुके उपदिष्ट अर्थमें विश्वास करते हैं, इस प्रकारके भक्त कनिष्ट भक्त हैं। कुतर्कसे चित्तका कुछ क्षणोंके लिये हिल जाना ही कोमलत्व है। कुतर्कसे जिसका विश्वास बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है, उसको भक्त नहीं कह सकते। श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें चतुर्विध भक्तोंका उल्लेख किया है—

> **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
> **आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥**
> **तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
> **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥**
> **उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**
>
> (७। १६-१८)

अर्थात् हे अर्जुन! वे सुकृती व्यक्ति, जो मेरी भक्ति करते हैं चार प्रकारके होते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और

ज्ञानी । जो अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवद्भजन करते हैं, वे आर्त्त हैं। सुख-प्राप्तिके लिये जो भजन करते हैं, वे अर्थार्थी हैं। संसारको अनित्य जानकर जो आत्मतत्त्वके ज्ञानकी इच्छासे भगवद्भजन करते हैं, वे जिज्ञासु हैं। ज्ञानी भक्त तीन प्रकारके होते हैं—इनमें एक श्रेणीके ज्ञानी भगवदैश्वर्यको जानकर भगवद्भजन करते हैं, दूसरी श्रेणीके ज्ञानी भगवन्माधुर्यको जानकर भजन करते हैं और तीसरी श्रेणीके ज्ञानी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोको जानते हुए भजन करते हैं। इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि ज्ञानी परमगति-स्वरूप मेरा ही आश्रय लेते हैं। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त तो सकाम होते हैं, उनमें अन्यान्य विषयोंके प्राप्त करनेकी वासना होती हैं, परंतु ज्ञानी भक्त मुझको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
> (गीता ७ । १९)

'अनेक जन्मोंमें अर्जित पुण्यके प्रतापसे ज्ञानवान् इस चराचर विश्वको वासुदेवात्मक देखकर मेरी भक्तिमें लीन रहता है। ऐसा महात्मा नितान्त ही दुर्लभ है।'

शरणागति

श्रीकृष्णकी दयाका स्मरण होनेपर उनके प्रति भक्तिरससे चित्त अभिभूत हो जाता है। श्रीउद्धवजी कहते हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'दुष्टा पूतनाने अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पान कराया, किंतु परम दयामय श्रीकृष्णने उस मातृवेषधारिणी पूतनाको माताके समान सद्गति प्रदान की। अतएव श्रीकृष्णके सिवा दूसरा ऐसा दयालु कौन है, जिसकी शरणमें हम जायँ ?' इसलिये अन्य देवताओंको त्यागकर परम दयालु श्रीकृष्णके शरणापन्न होना जीवका परम कर्तव्य है। यहाँ शरणागतिका लक्षण जानना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
(वैष्णवतन्त्र)

शरणागति छः प्रकारकी होती है—जैसे (१) भगवान्‌की अनुकूलताका संकल्प अर्थात् जो भगवद्भावके अनुकूल कर्तव्य हों, उनके पालनका नियम, (२) प्रतिकूलताका त्याग, (३) प्रभु हमारी निश्चय ही रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) एकान्तमें अपनी रक्षाके लिये भगवान्‌से प्रार्थना, (५) आत्मनिवेदन और (६) कार्पण्य— अर्थात् 'हे प्रभो ! त्राहि माम्, त्राहि माम्' कहते

हुए अपनी कातरता प्रकट करना । इस शरणागतिकी महिमा स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

> मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
> निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
> तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
> मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २९ । ३४)

'मनुष्य जब सारे कर्मोंका त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य-प्राप्तिके योग्य हो जाता है ।'

साधन-भक्ति

श्रीकृष्ण-प्रेम-भक्तिकी साधना ही साधन-भक्ति कहलाती है । जिन कर्मोंके अनुशीलनसे भगवान्‌में परा भक्तिका उदय होता है, उसीका नाम साधन-भक्ति है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥
> (१ । २ । ६)

अर्थात् मनुष्यका परमधर्म वही है, जिसके द्वारा श्रीकृष्णमें अहैतुकी, अप्रतिहत (अखण्ड) भक्ति प्राप्त होती है, जिस भक्तिके बलसे वह आत्माकी प्रसन्नता लाभ करता है । साधन-भक्ति ही वह परम धर्म है । क्योंकि—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

'इन्द्रिय-प्रेरणाके द्वारा जो साध्य है तथा प्रेमादि जिसके साध्य (फल) हैं, उसको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। तथा हृदयमें नित्य-सिद्ध भावके आविर्भावका नाम ही साध्यता है।'

श्रवण आदि नवधा भक्ति ही साधन-भक्ति है। नित्य-सिद्ध वस्तु है श्रीभगवत्प्रेम। यह आत्माका नित्यधर्म है। अग्निमें दाहिका शक्ति तथा पुष्पोंमें सुगन्धके समान आत्माके साथ इसका समवाय सम्बन्ध है, अतएव यह नित्य वस्तु है। यह नित्यसिद्ध वस्तु उत्पाद्य नहीं है। परंतु श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा जब हृदयमें इसका उदय होता है, तब इसको 'साध्य' कह सकते हैं। इस प्रकार 'साधनभक्ति' और 'साध्यभक्ति'का विचार किया जाता है। साधन-भक्तिके दो भेद हैं, वैधी और रागानुगा। भक्तिके इन दोनों भेदोंके रहस्यको हृदयंगम करनेके लिये उत्तमा भक्ति या पराभक्तिके मार्गसे अग्रसर होना ठीक होगा। यहीं गीतोक्त परा-भक्तिका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। यह 'निष्काम-परा-भक्ति' ब्रह्मज्ञानके बाद उदित होती है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५४-५५)

उत्तमा भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस साधन-भक्तिका अनु-शीलन करना पड़ता है, उसका अन्याभिलाषिता-शून्य होना आवश्यक है। इसी प्रकार स्पृहायुक्त सकाम कर्म तथा तद्विपरीत शुद्ध ब्रह्मज्ञानके भाव भी उस अनुशीलनमें नहीं होते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निखिल वासनाओंका त्याग करते हुए केवल श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ श्रीकृष्णका अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। अर्थात् श्रीकृष्णके लिये सब प्रकारके स्वार्थका परित्याग अथवा श्रीकृष्ण-समुद्रमें एकबारगी आत्मविसर्जन ही उत्तमा भक्ति है। अपने स्वार्थकी तनिक भी वासना रहनेपर 'उत्तमा भक्ति' नहीं हो सकती। प्रवृत्तिमार्गमें स्वत्वकी कामना, धन्य-धान्य-बाहुल्यकी कामना, मनुष्यके लिये स्वाभाविक है। इसके लिये भगवान्‌की अर्चना-वन्दना आदि करना निश्चय ही भक्तिका अङ्ग होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है, परंतु यह उत्तमा भक्ति नहीं होगी। आत्म-विसर्जनके बिना उत्तमा भक्ति होती ही नहीं। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें लिखा है—**सा परानुरक्तिरीश्वरे।** अर्थात् ईश्वरमें परा अनुरक्ति ही भक्ति कहलाती है। भक्तिके लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखे हैं—

(१) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(२) अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

(३) सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

(४) देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।

सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

यहाँ 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' विशेषण विचारणीय है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षणमें निर्दिष्ट हुआ है—जैसे **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**—(तैत्तिरीयोपनिषद्) । यहाँ 'ज्ञान' पदार्थ, द्रव्य, गुण या कर्म नहीं है। अन्यत्र 'ज्ञान'का प्रयोग मानसिक क्रियाके अर्थमें होता है—जैसे प्रपञ्च-पदार्थका ज्ञान। परंतु यहाँ 'ज्ञान' वह मानसिक क्रिया भी नहीं है। यह आत्मनिष्ठ गुण-विशेष है। इसके साथ मनका या चित्तवृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्तवृत्तिके द्वारा उत्पन्न संवित्को भी 'ज्ञान' कहते हैं, परंतु यहाँ जिस ज्ञानकी बात हो रही है, वह है 'ब्रह्मज्ञान'। परंतु वह सगुण-ब्रह्मज्ञान नहीं है। यहाँ निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान ही अभिप्रेत है; क्योंकि निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान भक्तिका विरोधी है। 'ज्ञानादिद्वारा अनावृत जो कृष्णानुशीलन' है, उसीका नाम भक्ति है। अर्थात् यदि निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान कृष्णानुशीलनमें समाविष्ट होता है तो उसकी भक्ति-संज्ञा नहीं होती। परंतु भगवत्तत्त्वके ज्ञानका निषेध यहाँ नहीं है; क्योंकि भगवत्तत्त्वका ज्ञान भक्तिका बाधक न होकर साधक ही होता है। इसी प्रकार स्वर्गादिजनक कर्मानुष्ठान भी भक्तिके बाधक हैं। अतएव कृष्णानुशीलनमें तादृश कर्मोंका संसर्ग नहीं चाहिये। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कर्ममात्र ही बाधक हैं; क्योंकि भगवत्परिचर्या भी कर्मविशेष है। परंतु ऐसे कर्म भक्तिके बाधक न होकर साधक ही होते हैं।

*

इस प्रकार जान पड़ता है कि उत्तमा भक्तिके लक्षण इतने सुन्दररूपसे विवृत हुए हैं कि वेदान्तशास्त्रके चरम प्रान्तमें उपस्थित हुए बिना इस प्रकारकी भक्ति-साधनाका ज्ञान अति दुर्लभ है। फलतः वेदान्तशास्त्रका जो चरम लक्ष्य है, यह भक्ति साधकको उसी सुविशाल सुन्दर सरस राज्यमें उपस्थित करती है। वेदान्त ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते-करते जब **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**—इस मन्त्रका उल्लेख करता है, तब उसको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठतम साधन भक्ति ही होती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

ऋग्वेदके अनेक स्थलोंमें जीवके साथ भगवान्‌के मधुर सम्बन्धकी सूचना देनेवाले मन्त्र प्राप्त होते हैं। 'हे अग्नि! तुम मेरे पिता हो। हे अग्नि! हम तुम्हारे हैं। तुम हमारा सब प्रकारसे कल्याण करो।' इन सब मन्त्रोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषिगण ब्रह्मतत्त्वको मधुमयरूपमें अनुभव कर चुके थे। '**मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः**—इस ऋग्मन्त्रसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि जिससे इस विश्वब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, वह मधुमय है। उसके मधुमय होनेके कारण ही वायु मधु वहन करता है, सिन्धु मधु क्षरण करता है। हमारा अन्न मधुमय है, पृथिवीके रज:कण मधुमय हैं—इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन कालमें भी आर्य ऋषिगण भगवान्‌की आधुनिक वैष्णवोंके समान रसमय, प्रेममय और मधुमय भावमें उपासना करते थे।

विष्णुमें अनन्य ममता अथवा प्रेमसंगत ममताको भक्ति कहते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त भगवत्संलीन इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्णका

सेवन उत्तमा भक्ति है । श्रीमद्भागवतमें वैधी भक्तिके नौ अङ्ग वर्णित हुए हैं, जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
(७।५।२३)

वैधी भक्तिके ये सब अङ्ग 'परा भक्ति' के साधक हैं तथा इनकी समष्टि ही परम धर्म है।

साधन-भक्तिद्वारा साध्य भक्तिका उदय होता है। यह भक्तियोग अथवा साधन-भक्ति परा-भक्ति नहीं है, यह परम धर्म है। यह एक ओर जैसे परा-भक्तिका प्रकाशक है, वैसे ही उपनिषद्-ज्ञानका भी प्रकाशक है। इसके सिवा—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥
(४।२९।३७)

'भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी भक्तिसे शीघ्र ही वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति होती है।'

भक्तियोग अर्थात् साधन-भक्तिसे इस प्रकार उपनिषद्-ज्ञान प्रकाशित होता है और उसका परिपाक होनेपर साध्य भक्ति या प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रकट होती है।

भक्तिके प्रकार

'भक्ति-संदर्भ' में लिखा है कि रुचि आदिके द्वारा श्रीगुरुका आश्रय लेनेके बाद उपासनाके पूर्वाङ्गस्वरूप उपास्यदेवका साम्मुख्य प्राप्त

करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। इस प्रकार उपास्यदेवके सम्मुख होना ही उपासनाका पूर्वाङ्ग है। इस साम्मुख्यका श्रेष्ठतम उपाय है—भक्ति। भक्ति-सदर्भमें भक्तिके तीन प्रकार वर्णित हैं—आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा और स्वरूपसिद्धा। भक्तित्वका अभाव होनेपर भी भगवान्को अर्पण आदि जिन कर्मोंके द्वारा भक्तित्वकी प्राप्ति होती है, उन कर्मोंको 'आरोपसिद्धा' भक्ति कहते हैं और भक्तिके परिकरके रूपमें जो कार्य किये जाते हैं, उनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। ज्ञान और कर्म भक्तिके सङ्गके रूपमें व्यवहृत होते हैं, अतएव इनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। स्वरूपसिद्धा भक्ति वह है, जो स्वतः भक्तिरूपमें प्रसिद्ध है। श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है। 'भक्तिसंदर्भ' ग्रन्थमें इसके सिवा अनेक भेदोपभेदसहित भक्तिका वर्णन किया गया है।

रागमयी भक्तिको 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं। व्रजवासियोंमें रागात्मिका भक्ति दृष्टिगोचर होती है। जो लोग व्रजवासियोंके समान अर्थात् श्रीकृष्णके दास-दासी, सखी-सखा तथा माता-पिता आदिके भावसे श्रीकृष्णको भजते हैं या भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे 'रागानुगा भक्ति'के साधक कहलाते हैं। जो भक्ति रागात्मिका भक्तिके अनुकरणके लिये होती है तथा उसी प्रकारके भावकी ओर साधकको परिचालित करती है, वही 'रागानुगा भक्ति' है। परंतु रागानुगा साधकके चित्तमें सख्यरस या अन्य किसी व्रजरसका उदय होनेपर भी वह अपनेको श्रीदाम, ललिता, विशाखा, श्रीराधा या नन्द-यशोदा आदिके रूपमें नहीं मानता। ऐसा करनेसे 'अहंग्रह' उपासना हो जाती है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ॥

'श्रीभागवतादि शास्त्र सुनकर तत्तद्भावोंके माधुर्यका अनुभव करनेपर साधकका चित्त विधिवाक्य या किसी प्रकारकी युक्तिकी अपेक्षा नहीं करता, उसमें स्वतः प्रवृत्त हो जाता है । यही लोभोत्पत्तिका लक्षण है ।' अतएव श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

लोभे व्रजवासीर भावेर करे अनुगति ।
शास्त्रयुक्ति नाहिं माने रागानुगार प्रकृति ॥

अर्थात् रागानुगाकी प्रकृति यह है कि उसका साधक लोभसे व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करता है, शास्त्र और युक्तिपर ध्यान नहीं देता ।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः ॥
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद् वासं व्रजे सदा ॥

रागानुगा भक्तिका साधक दो प्रकारकी साधना करता है, साधकरूपसे वह उपास्यदेवका श्रवण-कीर्तन करता है और सिद्धरूपसे मनमें अपने सिद्धदेहकी भावना करता है । वह श्रीकृष्ण और उनके जनोंका स्मरण करता है । अपनेमें उनमेंसे अन्यतमकी भावना करता है और सदा-सर्वदा व्रजमें रहकर श्रीकृष्ण-सेवा करता है ।

जो लोग मधुर-रसके रागानुगीय साधक हैं, वे श्रीललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदिकी आज्ञासे श्रीराधा-माधवकी सेवा करें

तथा स्वयं श्रीकृष्णका आकर्षण करनेवाले वेशमें सुसज्जित तथा श्रीराधिकाके निर्माल्यस्वरूप वसन-आभूषणसे भूषित सखियोंकी सङ्गिनीके रूपमें अपनी मनोमयी मूर्तिका चिन्तन करें। सनत्कुमार-तन्त्रमें लिखा है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगीय साधक भक्त सखियोंके मण्डलमें अपनेको रूपयौवनसम्पन्ना किशोरीरूपमें चिन्तन करते हैं। श्रीनरोत्तमदास ठाकुरके 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' ग्रन्थमें 'रागानुगा भक्ति' वर्णित है। उस ग्रन्थके भाव दुरूह हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत 'रागवर्त्म-चन्द्रिका' तथा 'श्रीकृष्णकर्णामृत', 'श्रीकृष्णमाधुरी' आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

श्रीरागानुगा भक्ति जिनके हृदयमें प्रादुर्भूत हो गयी है, वे सिद्धदेहमें श्रीराधा-माधवकी कुञ्जसेवा करके निरतिशय परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। ऐसे साधकजन साधनराज्यके भूषण हैं। योगीन्द्रगणदुर्लभा रागानुगा भक्ति बहुत साधनके द्वारा प्राप्त होती है।

प्रयोजन-तत्त्व

इस संसारमें प्रयोजनके बिना कोई कार्य नहीं करता। भगवत्साधनाका भी प्रयोजन है और वह प्रयोजन है प्रेम। प्रेमकी पूर्वावस्थाका नाम है 'भाव या रति'। साधन-भक्तिके परिपाकमें अथवा भक्तिकी कृपासे भावभक्तिका उदय होता है। जब श्रीकृष्णमें

प्रीतिके कारण उनमें मन संलग्न रहना चाहता है, तब भाव ही रति नामसे अभिहित होता है । यह भाव मनकी अवस्था (विकार)-विशेषका नाम है । विषय-रस-निमग्न व्यक्तिका चित्त जब भगवद्-उन्मुख होता है तथा भगवद्भावमें विभावित होता है, श्रीभगवान्‌को चिन्तन करनेमें रस लेता है, तब कहना पड़ेगा कि उसके अंदर भाव उत्पन्न हो गया है ।

श्रीराधिकाका चित्त अन्यान्य बालिकाओंके समान बाल्यक्रीड़ामें रत था । सहसा उन्हें एक दिन चित्रपटमें मुरलीधर श्रीकृष्णकी भुवनमोहिनी श्रीमूर्ति देखनेको मिली । सुना, इनका नाम श्यामसुन्दर है । दूरसे आती हुई वंशीध्वनि उनके कानोंमें प्रविष्ट हुई, उसी क्षण उनके मनमें प्रेम-विकार उत्पन्न हुआ । बाल्यक्रीड़ासे मन हट गया । क्षणभरमें चित्त बदल गया । योगिनीके समान वे शिखिपिच्छचूडालंकृत वंशीधर श्यामसुन्दरके ध्यानमें निमग्न हो गयीं । उनकी आहार-निद्रा छूट गयी, सखियोंके साथ आलाप-संलाप बंद हो गया । वे घरके कोनेमें बैठकर श्यामसुन्दरके रूपका ध्यान करने लगीं । इसीका नाम भाव है । यह प्रेमकी प्रथम अवस्था है ।

भाव चित्तको रञ्जित करता है, चित्तकी कठोरता दूर करके उसको कोमल बनाता है । यह ह्लादिनीशक्तिका वृत्तिविशेष है और इसकी अपेक्षा कोटिगुना आनन्दरूप अह्लादिनीशक्तिके साररूप वृत्तिको रति कहते हैं ।

जिनके हृदयमें यथार्थ प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है, प्राकृतिक दुःखसे उनको दुःख-बोध नहीं होता, वे सर्वदा ही श्रीकृष्णके

परिचिन्तनमे काल-यापन करते हैं, प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होनेके पूर्व निम्नाङ्कित नौ लक्षण उदित होते हैं, जैसे–(१) क्षान्ति—क्षोभके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी चित्तका अक्षुब्ध दशामें स्थित रहना क्षान्ति कहलाता है। तितिक्षा, क्षमा, मर्ष इसके नामान्तर हैं। (२) *अव्यर्थकालत्व*—प्रेमी-भक्त श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी विषयमें क्षणभरके लिये चित्तको नहीं लगने देता। (३) *विरति*—भगवद्-विषयके सिवा प्रेमीके चित्तमें अन्य किसी विषयकी कभी भी रुचि नहीं होती। (४) *मानशून्यता*; (५) *आशाबन्ध*—निरन्तर श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा बँधी रहती है। (६) *समुत्कण्ठा*; (७) *नाम-स्मरणमें रुचि*; (८) *भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति* और (९) *उनकी लीला-भूमिमें प्रीति*।

प्रेमाविष्ट चित्तकी उच्चतम दशामें नाना प्रकारके विवश भावोंका आविर्भाव होता है। इस दशामें प्रायः बाह्यज्ञान नहीं रहता।

धन्यस्यायं नवप्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

'जिस धन्य-पुरुषके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है, उसकी वाणी और क्रियाके रहस्यको शास्त्रप्रणेता भी नहीं जान सकते।' श्रीमद्भागवतने इस सम्बन्धमें एक अति सुन्दर प्रमाण दिया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११ । २ । ४०)

'उपर्युक्त साधनप्रणालीके अनुसार साधना करनेवाला स्वप्रिय श्रीभगवान्के नामका कीर्तन करते-करते श्रीभगवान्में अनुराग हो जानेके कारण द्रवितचित्त होकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उच्चस्वरसे प्रलाप करता है। कभी गाता और कभी उन्मत्तके समान नाचने लगता है। वह साधक स्वभावतः जनसाधारणके आचार-व्यवहारसे बहिर्भूत होकर कार्य करता है।'

मधुरा-रतिमें भाव और महाभाव उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएँ कहलाती हैं। भावकी चरम सीमामें अनुराग प्राप्त होता है। भाव ही अनुरागका महान् आश्रय है। अनुरागके दृष्टान्तमें गोपी-प्रेमका उल्लेख किया जा सकता है। परंतु गोपी-प्रेम क्या वस्तु है, यह बतलाना कठिन है। तथापि सुरसिक प्रेमी भक्तगण आदिपुराणसे गोपी-प्रेमामृतकी दो-एक बातें लेकर भक्तोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतके चतुर्थ अध्यायमें गोपी-प्रेमका माहात्म्य वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम ॥
कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
गोपिका हयेन प्रिया, शिष्या, सखी, दासी ॥
गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
प्रेम सेवा परिपाटी इष्टसेवा समाहित ॥

अर्थात् गोपी-प्रेम स्वभावतः काम-गन्धशून्य होता है; वह तपाये हुए स्वर्णके समान निर्मल, उज्ज्वल और शुद्ध होता है। गोपिकाएँ श्रीकृष्णकी सहायिका, गुरु, शिष्या, प्रिया, बान्धव, सखी, दासी—सब कुछ हैं। गोपिकाएँ श्रीकृष्णके मनकी अभिलाषा, प्रेम-सेवाकी परिपाटी तथा इष्ट-सेवामें लगे रहना अच्छी तरह जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। दशम स्कन्धमें श्रीरासलीलाके ३२वें अध्यायमें प्रेमिक भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २१)

'हे अबलागण! यह जानता हुआ भी कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक और वेदका तथा स्वजनोंका परित्याग कर दिया है, मैं तुम्हारे निरन्तर ध्यान-प्रवाहको बनाये रखनेके लिये तथा प्रेमालाप-श्रवण करनेके लिये समीपमें रहता हुआ भी अन्तर्हित हो गया था। हे प्रियागण! मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। मेरे प्रति दोषदृष्टि रखना योग्य नहीं है।'

गोपी-प्रेमके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इस प्रेमकी तुलना संसारमें है ही नहीं। परंतु इस प्रेमका प्रकृत आश्रय गोपी-हृदयके सिवा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है—

वराामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः॥

'यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतके तुल्य स्वरूप-सम्पत्ति धारण करके चित्तको निज स्वरूप प्रदान करता है। पण्डितलोग इस महाभावके रूढ़ और अधिरूढ़—दो भेद बतलाते हैं।'

जिस महाभावमें सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं, उसको रूढ़-भाव कहते हैं। रास-रस-निमग्ना गोपियोंमें स्वरभङ्ग, कम्प, रोमाञ्च, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वेद तथा मूर्च्छा—ये आठों सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं। अब अधिरूढ़ महाभावका लक्षण कहते हैं—

रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते॥

'जहाँ रूढ़भावोक्त अनुभावोंसे आगे बढ़कर सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त होते हैं, उसको अधिरूढ़-भाव कहते हैं।' इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दुःखं चेति पृथग् यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम्।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका-
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्द्वोरपि॥

एक दिन श्रीश्रीराधिकाजीके प्रेमके विषयमें जिज्ञासा करनेपर श्रीशंकरजीने पार्वतीजीसे कहा—'हे शिवे! लोकातीत—वैकुण्ठ-गत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकालसम्बन्धी सुख-दुःख यदि विभिन्नरूपमें राशीभूत हों, तो भी वे दोनों श्रीराधाजीके प्रेमोद्भव सुख-दुःख-सिन्धुके एक बूँदकी भी तुलना नहीं कर सकते।' इसी

अधिरूढ़ महाभावका एक दूसरा उदाहरण पद्यावलीसे दिया जाता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गण-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

श्रीश्रीराधाजी श्रीललिताजीसे कहती हैं कि 'हे सखि! श्रीकृष्ण यदि लौटकर व्रजमें नहीं आते तो निश्चय ही मैं इस जीवनमें उनको नहीं पाऊँगी। अतएव अब इतना कष्ट उठाकर इस शरीरकी रक्षा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। शरीर भी चला जाय—यह पञ्चत्वको प्राप्त होकर स्पष्टरूपसे आकाशादि स्वकारणरूप भूतोंमें लीन हो जाय। परंतु मैं विधातासे हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीरके पाँचों भूत प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्पर्कित भूतोंमें ही विलीन हों—जलतत्त्व उस बावड़ी-के जलमें मिले जहाँ श्रीकृष्ण जल-विहार करते हों, तेजस्तत्त्व उस दर्पणमें समा जाय जिसमें श्रीकृष्ण अपना मुख देखते हों, आकाश-तत्त्व उस आँगनके आकाशमें चला जाय जिसमें श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हों, पृथ्वीतत्त्व उस धरणीमें समा जाय, जिसपर श्रीकृष्ण चलते-फिरते हों और वायुतत्त्व उस ताड़के पंखेकी हवामें समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्णको हवा देता हो।' यह भावसमुद्र अगाध, अनन्त है, इसका वर्णन करके पार पाना असम्भव है। यहाँ यत्किंचित् दिग्दर्शनमात्र करानेकी चेष्टा की गयी है।

वृन्दावनवासके लिये स्थिर मनकी आवश्यकता

महापुरुषोंके दिव्य भाव

श्रीगौडेश्वरसम्प्रदायके विश्वविख्यात आचार्य श्रीरूपगोस्वामी महाशय श्रीवृन्दावनमें एक निर्जन स्थानमें वृक्षकी छायामें बैठे ग्रन्थ लिख रहे थे। गरमीके दिन थे। अतः उनके भतीजे और शिष्य महान् विद्वान् युवक श्रीजीवगोस्वामी एक ओर बैठे श्रीगुरुदेवके पसीनेसे भरे वदनपर पंखा झल रहे थे। श्रीरूप-गोस्वामीके आदर्श स्वभाव-सौन्दर्य और माधुर्यने सभीका चित्त खींच लिया था। उनके दर्शनार्थ आनेवाले लोगोंका ताँता बँधा रहता था। एक बहुत बड़े विद्वान् उनके दर्शनार्थ आये और श्रीरूपजीके द्वारा रचित 'भक्तिरसामृत' ग्रन्थके मङ्गलाचरणका श्लोक पढ़कर बोले, 'इसमें कुछ भूल है, मैं उसका संशोधन कर दूँगा।' इतना कहकर वे श्रीयमुना-स्नानको चले गये। श्रीजीवको एक अपरिचित आगन्तुकके द्वारा गुरुदेवके श्लोकमें भूल निकालनेकी बात सुनकर कुछ क्षोभ हो गया। उनसे यह बात सही नहीं गयी। वे भी उसी समय जल लानेके निमित्तसे यमुनातटपर जा पहुँचे। वहाँ वे पण्डितजी थे ही। उनसे मङ्गलाचरणके श्लोककी चर्चा छेड़ दी और पण्डितजीसे उनके संदेहकी सारी बातें भलीभाँति पूछकर अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ताके द्वारा उनके समस्त संदेहोंको दूर कर दिया। उन्हें मानना पड़ा कि श्लोकमें भूल नहीं थी। इस शास्त्रार्थ-के प्रसङ्गमें अनेकों शास्त्रोंपर विचार हुआ था और इसमें श्रीजीव-गोस्वामीके एक भी वाक्यका खण्डन पण्डितजी नहीं कर सके।

शास्त्रार्थमें श्रीजीवकी विलक्षण प्रतिभा देखकर पण्डितजी बहुत प्रभावित हुए और श्रीमद्रूप गोस्वामीके पास आकर सरल और निर्मत्सरभावसे उन्होंने कहा कि आपके पास जो युवक थे, मैं उल्लासके साथ यह जाननेको आया हूँ कि वे कौन हैं ?' श्रीरूप-गोस्वामीने कहा कि 'वह मेरा भतीजा है और शिष्य भी, अभी उस दिन देशसे आया है ।'

यह सुनकर उन्होंने सब वृत्तान्त बतलाया और श्रीजीवकी-विद्वत्ताकी प्रशंसा करते हुए श्रीरूपगोस्वामीके द्वारा समादर प्राप्त करके वे लौट गये। इसी समय श्रीजीव यमुनाजीसे जल लेकर आये और उन्होंने गुरुदेवके चरणकमलोंमें प्रणाम किया । श्रीरूप-गोस्वामीजीने अत्यन्त मृदु-वचनोंमें श्रीजीवसे कहा—'भैया ! भट्टजी कृपा करके मेरे समीप आये थे और उन्होंने मेरे हितके लिये ही ग्रन्थके संशोधनकी बात कही थी । यह छोटी-सी बात तुम सहन नहीं कर सके । इसलिये तुम तुरंत पूर्व देशको चले जाओ । मन स्थिर होनेपर वृन्दावन लौट आना ।'

व्रज-रसके सच्चे रसिक, व्रजभावमें पारङ्गत श्रीरूपके मुख-कमलसे बड़ी मृदु भाषामें ये शासनवाक्य निकले । इनमें मृदुता है, दैन्य है, शिष्यके प्रति उपदेश है और कृपासे पूर्ण शासन है। 'मन स्थिर होनेपर वृन्दावन आना ।' अर्थात् वृन्दावनवास करनेके वे ही अधिकारी हैं, जिनका मन स्थिर है । अस्थिर मनवाले लोगों-का वृन्दावनवास सम्भवतः अनर्थोत्पादक हो सकता है । और स्थिर मनका स्वरूप है—परम दैन्य, आत्यन्तिक सहिष्णुता, नित्य

श्रीकृष्णगत चित्त होनेके कारण अन्यान्य लौकिक व्यवहारोंकी ओर उपेक्षा। भट्टजीने श्रीरूपगोस्वामीजीकी भूल बतायी थी, इससे उन्हें क्षोभ होना तो दूर रहा, उन्हें लगा कि सचमुच मेरी कोई भूल होगी, भट्टजी उसे सुधार देंगे। श्रीजीवगोस्वामीने शास्त्रार्थमें पण्डितजीको हरा दिया, इससे श्रीरूपगोस्वामीको सुख नहीं मिला। उन्हें संकोच हुआ और अपने प्रियतम शिष्यको शासन करना पड़ा। वे श्रीजीवगोस्वामीके पाण्डित्यको जानते थे, पर श्रीजीवमें जरा भी पाण्डित्यका अभिमान न रह जाय, पूर्ण दैन्य आ जाय– वे यह चाहते थे और इसीसे उन्होंने श्रीजीवको चले जानेकी आज्ञा दी। यह उनका महान् शिष्यवात्सल्य था और इसी रूपमें बिना किसी क्षोभके अत्यन्त अनुकूलभावसे श्रीजीवने गुरुदेवकी इस आज्ञाको शिरोधार्य किया। वे बिना एक शब्द कहे तुरंत पूर्वकी ओर चल दिये तथा यमुनाके नन्दघाटपर जहाँ स्नान करते समय नन्दबाबाको वरुण देवताके दूत वरुणालयमें ले गये थे, जाकर निर्जन-वास करने लगे। वे कभी कुछ खा लेते, कभी उपवास करते और भजनमें लगे रहते। उन्होंने एक बार श्रीगुरुमुखसे सुना था कि 'सुख-दुःख—दोनोंमें ही परमानन्दका आस्वादन हुआ करता है।' यहाँ श्रीजीवको गुरुदेवके वियोगका दुःख था, परंतु इस दुःखमें भी वे श्रीगुरुदेवके पादपद्ममें तन्मयता प्राप्त करके परमानन्द प्राप्त कर रहे थे। विरहमें ही मिलनकी पूर्णता हुआ करती है।

श्रीजीव इस प्रकार जब निर्जन-वास कर रहे थे, तब एक समय अकस्मात् श्रीसनातनगोस्वामी (श्रीरूपके बड़े भाई) वहाँ

जा पहुँचे। श्रीसनातनके प्रति व्रजवासियोंका बड़ा प्रेम था। व्रजवासी भक्तोंने श्रीसनातनको बताया कि 'आजकल यहाँ नन्दघाटपर एक अत्यन्त सुन्दर तरुण तपस्वी निर्जन वनमें निवास कर रहे हैं। बड़ा प्रयत्न करनेपर भी वे कभी-कभी निराहार रह जाते हैं, कभी फल-मूल खा लेते हैं और कभी सत्तू ही जलमें सानकर खाते हैं।' सनातन समझ गये कि ये तपस्वी हमारे श्रीजीव ही हैं। वे अत्यन्त स्नेहार्द्रचित्त होकर वहाँ गये। उनको देखते ही श्रीजीव अधीर होकर उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे अपने ताऊके चरणोंमें लुट पड़े और आँसू बहाने लगे। व्रजवासी बड़े आश्चर्यसे इस दृश्यको देख रहे थे। श्रीजीवसे बातचीत करके तथा व्रजवासियोंको समझाकर श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन चले गये।

श्रीवृन्दावनमे वे श्रीरूप गोस्वामीके पास पहुँचे। श्रीरूप गोस्वामीने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीसनातनके पूछनेपर श्रीरूपने बतलाया कि उनका भक्तिग्रन्थ-लेखन प्रायः समाप्त हो गया है। श्रीजीव होते तो शीघ्र संशोधन हो जाता। प्रसङ्ग पाकर श्रीसनातनने कहा—'श्रीजीव केवल जी रहा है, मैंने देखा, जरा-सी हवासे उसका शरीर काँप जाता है।' इतना सुनते ही श्रीरूपका हृदय द्रवित हो गया। श्रीजीवका पता लगाकर उन्होंने तुरंत उन्हें अपने पास बुला लिया और उनकी ऐसी दशा देखकर परम कृपार्द्रहृदयसे उनकी उचित सेवा-शुश्रूषा करके उन्हे स्वस्थ किया। फिर तो श्रीरूप-सनातन दोनोंका सारा भार श्रीजीवने अपने ऊपर ले लिया। श्रीजीव श्रीरूपकी परिभाषाके अनुसार अब पूर्ण स्थिरचित्त थे।

परम त्यागी गोस्वामी रघुनाथदास

सच्चे महात्मा श्रीरघुनाथदासका जन्म आजसे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व बंगालके श्रीकृष्णपुर नामक स्थानमें सप्तग्रामके बहुत बड़े जमींदार श्रीगोवर्धनदासके घर हुआ था। गोवर्धनदास जातिके कायस्थ थे। राज्यकी ओरसे इन्हें 'मजूमदार' उपाधि मिली हुई थी। इनकी वार्षिक आय थी बारह लाख रुपये। जिस ज़मानेमें एक रुपयेके कई मन चावल मिलते थे, उस जमानेके बारह लाख आजके बारह करोड़के बराबर समझिये। इतने बड़े सम्पत्तिशाली और आमदनीवाले गोवर्धनदासके एकमात्र पुत्र थे रघुनाथदास !

इनके कुलपुरोहित थे श्रीबलराम आचार्य और रघुनाथदासने उन्हींसे विद्या पढ़ी थी। एक समय श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनन्यभक्त श्रीहरिदास बलरामजीके घर आकर ठहरे थे। रघुनाथदास उस समय वहीं थे। श्रीहरिदासजीके मुखसे वहाँ उन्होंने पहले-पहले श्रीचैतन्य महाप्रभुकी महिमा सुनी और श्रीहरिदासको कीर्तन करते हुए प्रेममग्न देखा, तभीसे इनके मनमें भगवान्‌की ओर लगन लग गयी। इन्हें संसारके भोग बुरे मालूम होने लगे और भगवान्‌के विशुद्ध प्रेममार्गमें पहुँचनेके लिये इनके मनमें महाप्रभु चैतन्यके दर्शनकी प्रबल लालसा जाग उठी।

रघुनाथदास अब युवावस्थाको प्राप्त हो गये। अतुल ऐश्वर्यके एकमात्र उत्तराधिकारी थे ये, पर जिनके सामने भगवत्कृपासे भोगोंका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है, जो भोगोंकी विषमयताको जान लेते हैं और भगवान्‌के मधुरतम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी कल्पना जिनके मनमें परम विश्वासके साथ जम जाती है, उन्हें ये भोगबहुल घर-द्वार कैसे अच्छे लग सकते हैं? उनका मन कैसे इनमें रम सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
>
> (२।२२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये जो भोग हैं, वस्तुतः दुःखकी उत्पत्तिके स्थान और आदि-अन्तवाले हैं, अतएव अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष इनमें रमण नहीं करता।'

रघुनाथदासके मनमें भोगोंकी परिणाम-दुःखमयता तथा असारताका प्रत्यक्ष हो रहा था, इससे उसका जीवन सर्वथा विरक्त-सा रहने लगा। विषयीकी दृष्टिमें जो आनन्दकी वस्तु है, वही विषय-विरागीकी दृष्टिमें भयानक और त्याज्य होती है। यही दशा श्रीरघुनाथदासकी थी। पिता गोवर्धनदासने पुत्रकी ऐसी मनोदशा देखकर एक अत्यन्त सुन्दरी रूप-लावण्यमयी कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया। शील-संकोचवश तथा अन्यमनस्क रघुनाथने विरोध नहीं किया।

कुछ समय बाद रघुनाथदासको पता लगा कि महाप्रभु श्रीचैतन्य शान्तिपुरमें श्रीअद्वैताचार्यके घर पधारे हुए हैं। यह सुनते ही रघुनाथदास शान्तिपुर गये। गोवर्धनदासने पुत्रकी देखरेख तथा उसे वापस लौटा लानेके लिये विश्वासी पुरुषोंको साथ भेजा। रघुनाथदास महाप्रभुके चरणोंमें उपस्थित हुए। महाप्रभुने उनसे बातचीत की। अभी वैराग्यमें कुछ कचाई मालूम दी, इसलिये बड़े स्नेहसे महाप्रभुने रघुनाथसे कहा—

> यों मत पागल बनो, चित्त स्थिर कर जाओ घर।
> क्रम-क्रमसे ही तरता है मानव भवसागर॥
> उचित नहीं करना मर्कट-वैराग्य दिखाकर।
> अनासक्त हो, भोगो युक्त विषय तुम जाकर॥
> भीतरसे निष्ठा करो, बाहर जग व्यवहार।
> तुरत तुम्हारा करेंगे, कृष्ण चरम उद्धार॥

'भैया! यों पागलपन मत करो, मन स्थिर करके घर जाओ, मनुष्य क्रम-क्रमसे ही योग्यता प्राप्त करके भवसागरसे पार हुआ करता है। लोगोंको दिखाकर मर्कट-वैराग्य नहीं करना चाहिये। अभी तुम घर लौटकर भोगोंकी आसक्ति छोड़कर उचित भोगोंका भोग करो। अंदर भगवान्‌में निष्ठा रक्खो, बाहरसे यथायोग्य जगत‌्का व्यवहार करो, श्रीकृष्ण तुम्हारा शीघ्र ही उद्धार करेंगे।'

रघुनाथ घर लौट आये और महाप्रभुके आज्ञानुसार अनासक्त होकर जगत‌्का कार्य करते हुए अपनेको योग्य बनाने लगे। कुछ वर्षों बाद पानीहाटीमें श्रीनित्यानन्द प्रभुका उत्सव चल रहा था।

रघुनाथने पानीहाटी आकर उनके दर्शन किये और श्रीचैतन्य-चरणोंकी प्राप्तिके लिये उनका आशीर्वाद प्राप्त किया ।

रघुनाथ फिर घर लौट आये, पर उनके मनमें व्याकुलता बढ़ती गयी। वे नीलाचल (पुरी) जाकर महाप्रभुके चरण प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आतुर हो उठे। हृदयमें भयानक व्याकुलता और आँखोंसे निरन्तर बहती हुई सलिलधारा—यही उनका जीवन बन गया। भगवान् जिसको अपने पास बुलाना चाहते हैं, उसके जीवनमें स्वाभाविक ही यह स्थिति आ जाती है। वह फिर सहन नहीं कर सकता—क्षणभरका विलम्ब। अनन्य और तीव्रतम लालसा उसको केवल भगवान्की ओर खींच ले जाती है। उसे अपने-आप पथ प्राप्त हो जाता है।

पिताने रघुनाथका सारा भार सौंप दिया था श्रीयदुनन्दन आचार्यको। अतः रघुनाथदास एक दिन रात्रिके समय अपने आचार्यजीके पास गये और उनसे महाप्रभुके पास जानेकी आज्ञा माँगी। गुरुदेवने पता नहीं क्यों, यन्त्र-चालित कठपुतलीकी भाँति कह दिया—'हाँ, जा सकते हो।' बस, फिर क्या था, रघुनाथ उसी क्षण चल दिये। अतुल ऐश्वर्य, अप्सराके समान रूपवती पत्नी, जन्मदाता पिता कोई भी उनको नहीं रोक सके।

पीछेसे लोग आकर कहीं रास्तेमें पकड़ न ले, इसलिये रघुनाथदास सीधा रास्ता छोड़कर गुप्त मार्गसे चले। कहीं घना बीहड़ जंगल, कहीं काँटे-कंकड़से भरी पगडंडी, कहीं भयानक सिंह-बाघोंकी गर्जना, न खाना न पीना, अनजान रास्ता—किसीका

कुछ भी ध्यान नहीं है। चले जा रहे हैं नींद-भूख भूलकर। लगातार बारह दिन बीहड़ पथसे पैदल चलकर रघुनाथदास नीलाचल पहुँचे और वहाँ श्रीकाशी मिश्रके घर जाकर महाप्रभुके चरण-दर्शन कर सके। महाप्रभु वहाँ भावुक मण्डलीसे घिरे थे।

महाप्रभुके श्रीचरणोंमें लकुटीकी तरह पड़कर भावाविष्ट रघुनाथने कहा—'प्रभो! मैं श्रीकृष्णको नहीं जानता, इतना ही जानता हूँ कि आपकी कृपाने ही मुझे जालसे निकाला है।' महाप्रभुके दर्शनका आनन्दरस उमड़कर रघुनाथके नेत्रोंसे पवित्र अश्रुधाराके रूपमें बह चला। उनका शरीर अचेतन होकर प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा। महाप्रभुके परिकरके लोग श्रीकृष्णनाम-कीर्तन करने लगे, तब कुछ देर बाद रघुनाथदासको चेत हो आया। महाप्रभुने उन्हें उठाकर जोरोंसे हृदयसे चिपटा लिया। और श्रीस्वरूप गोस्वामीजीसे कहा—'स्वरूप! मैं रघुनाथको तुम्हारे हाथमें सौंप रहा हूँ।' रघुनाथकी वैराग्यमूर्ति देखकर महाप्रभु बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'भजनका असली आनन्द संयम और वैराग्यके द्वारा ही प्राप्त होता है और संयमी तथा सच्चे विरक्त भक्तोंको ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है—

इत उत जो धावत फिरै रसना-रस बस होय।
पावे नहिं श्रीकृष्ण कौं सिस्नोदर-पर सोय॥

तदनन्तर श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीरघुनाथदासको पाँच उपदेश दिये—

(१) (भगवच्चर्चाके सिवा) लोकचर्चा, ग्राम्य-कथा न कभी सुनना और न कभी करना।

(२) बढ़िया चीजें न खाना और बढ़िया कपड़े न पहनना।

(३) स्वयं मानरहित होकर सबको मान देना ।

(४) सदा श्रीकृष्ण-नामका जप करना । और

(५) मानस-व्रजमें श्रीराधा-कृष्णकी सेवा करना ।

कभी सुनो मत लोकवात कभी करो मत जग भ्मार ।
कभी न बढ़िया खाओ बढ़िया पहनो, सजो साज-शृंगार ॥
स्वयं अमानी मानद होकर कृष्णनाम-जप-गान करो ।
मानस व्रजमें लाल-लाड़िलीका नित पूजन-ध्यान करो ॥

पाँचों ही उपदेश प्रत्येक सच्चे भक्ति-साधकके लिये आदर्श हैं। नहीं तो मनुष्य परनिन्दा-परापवाद, खाने-पहननेके पदार्थोंकी आसक्ति, प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके अभिमान, व्यर्थ वार्तालाप तथा असार दुःखमय जगत्के चिन्तनमें लगकर भक्तिसाधनासे सर्वथा गिर जाता है ।

उधर रघुनाथदासके पिता गोवर्धनदासको जब पता लगा, तब उन्होंने कुछ धन तथा आदमी नीलाचल भेज दिये । रघुनाथकी इच्छा हुई महाप्रभुको महीनेमें दो बार बुलाकर भोजन कराया जाय। इस उद्देश्यसे वे पिताके भेजे हुए धनमेंसे कुछ लेकर उसे महाप्रभुकी सेवामें लगाने लगे । परंतु कुछ ही समयमें रघुनाथ इस बातको जान गये कि महाप्रभु उनके संकोचसे सेवा स्वीकार करते हैं; परंतु उनके मनमें इससे प्रसन्नता नहीं है—तब उन्होंने विचार किया कि 'ठीक ही तो है, अन्नसे ही मन बनता है । विषयीके अन्नसे मन मलिन होता है और मलिन मनसे श्रीकृष्णका स्मरण नहीं होता—

विषयी-जनके अन्नसे होता चित्त मलीन।
मलिन चित्त रहता सदा कृष्ण-स्मृतिसे हीन॥

इसी क्षणसे रघुनाथदासने महाप्रभुको बुलाकर जिमाना छोड़ दिया और स्वयं भी उस अर्थसे सर्वथा अलग हो गये। शरीर-निर्वाहके लिये वे मन्दिरके द्वारपर बैठकर नाम-कीर्तन करते और भीखमें जो मिल जाता, उसीसे काम चलाते। पर वहाँ भी बड़े आदमीका लड़का समझकर लोग कुछ बढ़िया चीज देने लगे, तब इन्होंने सोचा कि मन्दिरके सिंहद्वारपर बैठकर भिक्षा करना तो वेश्याका आचार है। इसे भी छोड़ दिया।

फिर अयाचक-वृत्तिसे कुछ दिन माधुकरी भिक्षा की। तदनन्तर इसका भी त्याग कर दिया। अब वे मन्दिरके आँगनमें बिखरे हुए, गायोंके प्रसाद खानेपर गिरे हुए, नालीमें प्रसादकी जूठन बहकर उसमें गये हुए सड़े भातके दानोंको बटोरकर उन्हें धोकर उन्हींसे पेट भरने लगे। महाप्रभुको रघुनाथदासकी इस वृत्तिसे बड़ा ही अनुपम आनन्द प्राप्त हुआ। वे एक दिन अचानक पहुँचे और रघुनाथके हाथसे इस महाप्रसादको छीनकर बोले—'रघु! तुम जो यह देवदुर्लभ अन्न प्रतिदिन पा रहे हो, इसके सम्बन्धमें मुझसे तो कभी कुछ नहीं कहा, न मुझे कभी कुछ इसका हिस्सा ही दिया।' महाप्रभुकी यह लीला देखकर रघुनाथ व्याकुल होकर रोने लगे—'अहा, मेरे समान अभागेके उद्धारके लिये ही महाप्रभुने ये सड़े दाने खाये हैं।'

इस प्रकार सोलह वर्ष तीव्र भक्ति-साधना करनेके बाद श्रीमहाप्रभुके अन्तर्धानके बाद श्रीरघुनाथदास वृन्दावनमें 'राधाकुण्ड'-पर आ गये। यहाँ इनके जीवनका कार्यक्रम था—

अन्न-जलका त्याग करके ये नियमित दो-चार घूँट मट्ठा लेते। एक हजार दण्डवत् करते, लाख नामका जप करते। प्रतिदिन दो हजार वैष्णवोंको प्रणाम करते। दिन-रात श्रीराधा-माधवकी मानस-पूजा करते, एक प्रहर रोज महाप्रभुका चरित्रगान करते, प्रातः-मध्याह्न-सायं तीनों काल श्रीराधाकुण्डमें पवित्र स्नान करते, व्रजवासी वैष्णवोंका आलिङ्गन करते। इस प्रकार साढ़े सात पहर रसमयी प्रेमभक्तिकी साधनामें बिताते। केवल चार घड़ी सोते सो भी किसी-किसी दिन नहीं।

इस प्रकार वैष्णवचूडामणि गोस्वामी श्रीरघुनाथदासने महान् आदर्श दैन्यपूर्ण, तपोनिष्ठ, संयम-नियमपूर्ण, भक्ति-प्रेमप्लावित जीवन बिताकर श्रीराधामाधवका अनन्य प्रेम प्राप्त किया।

करके त्याग अन्न-जल पूरा लेते थोड़ा मट्ठा माप।
एक सहस्र दण्डवत करते करते लक्ष नामका जाप॥
प्रतिदिन करते दो सहस्र वैष्णव जनको अति नम्र प्रणाम।
करते मानस-सेवन राधामाधवका दिनरात ललाम॥
एक पहर करते प्रतिदिन श्रीमहाप्रभुका मधु लीला-गान।
तीनों संध्या करते राधाकुण्ड-सलिलमें पावन-स्नान॥
व्रजवासी वैष्णवको करते सदा समुद आलिंगन दान।
साढ़े सात पहर करते यो भक्ति-प्रेम-साधन रसखान॥
चार घड़ी सोना केवल, पर उसमें भी होता व्यवधान।
श्रीरघुनाथदास गोस्वामी वैष्णवाग्र आदर्श महान्॥

मानव-जीवनका उद्देश्य और छात्रों तथा सरकारसे प्रार्थना

मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र उद्देश्य है, भगवत्प्राप्ति। इसीको 'मोक्ष', 'मुक्ति' या 'आत्म-साक्षात्कार' कहते हैं। अन्यान्य योनियोंमें इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती; इसीलिये इस मानव-योनिकी विशेष महत्ता है और इसीलिये अनुभवी, ज्ञानी, सर्वभूतोंके हितमें रत महात्मा ऋषियों-मुनियोंने जीवनके आरम्भसे ही नहीं, गर्भाधानकालसे ही, गर्भाधानको भी एक पवित्र संस्कारका रूप देकर मानव-जीवनको ब्रह्मप्राप्ति या भगवत्प्राप्तिका साधन बनानेका प्रयत्न किया है। इसीसे हमारे यहाँ चार वर्ण और चार आश्रमोंका विधान है और इसीलिये कठोर संयम तथा त्याग-तपस्या एवं कर्तव्य-पालनको मुख्य बनाकर जीवन-यापन करनेकी विधियोंका निर्माण हुआ है। इसीलिये हमारा पुरुषार्थ जीवनका ध्येयोपयोगी साधन कामोपभोगपरक नहीं है—वरं धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके रूपमें चार तत्त्वोंसे ग्रथित है। जगत्‌में अर्थ, काम (भोग)की आवश्यकता है, इसलिये उसकी अवहेलना नहीं है। परंतु वह अर्थ, काम (भोग)

स्वच्छन्द नहीं है; वह है धर्मके द्वारा अर्जित और संयमित-नियमित। इसीलिये उसका परिणाम 'मोक्ष' है। धर्मसे अनियन्त्रित यथेष्ट अर्थ और काम तो महान् अनर्थकारी, दुःखोत्पादक (गीताकी भाषामें 'दुःखयोनि') जीवनको पतनके गम्भीर गर्तमें गिरानेवाला होता है। वह मानवको मानवतासे गिराकर क्रूर, पिशाच और भोग-प्रमत्त असुरके रूपमे परिणत कर मानव-जगत्को हिंसामयी क्रूर वधस्थली बना देता है। आज सर्वत्र यही हो रहा है और यह मोक्षकामनाशून्य तथा धर्मसे अनियन्त्रित स्वच्छन्द अर्थ-कामकी अभिलाषा ही अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है। इसलिये मानवको अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको तो कभी भूलना ही नहीं चाहिये। श्रीमद्भागवतमें अवधूतके वाक्य हैं—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
> (११। ९। २९)

'अर्थात् यह मनुष्यशरीर यद्यपि अनित्य है, मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है, तथापि यह है इतने महत्त्वका कि परम पुरुषार्थ—मोक्षकी प्राप्ति इसी शरीरसे हो सकती है। इसलिये अनेक जन्मोंके बाद इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है।

विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये ।'

संसारके अर्थ-भोगकी उपेक्षा नहीं; परंतु वही जीवनका लक्ष्य नहीं है । उसकी वहाँतक आवश्यकता है, जहाँतक वह धर्म-सेवा, लोक-सेवाका हेतुभूत, सबके दुःखका नाशक और सब जीवोंके सुखका साधन, तथा धर्म-न्याय एवं अपने वर्णाश्रमानुकूल जीवन-निर्वाहके अनुरूप हो, ऐसा अर्थ-भोग भी हो, केवल इन माध्यमोंके द्वारा ही, और भगवत्पूजाके लिये ही—भगवत्प्रीत्यर्थ ही, भगवान्‌की प्रसन्नताके हेतु ही । फिर यदि वह प्रारब्धवश प्रचुर मात्रामें हो तो आपत्ति नहीं और अल्पमात्रामें हो तो भी क्षोभका कारण नहीं । क्योंकि उसका उपयोग यथेच्छ भोगमें तो करना ही नहीं है, उसका उपयोग होगा भगवत्-सेवामें, और होगा उपर्युक्त धर्म-सेवा, लोक-सेवा आदि शुभ तरीकोंसे ही । इसीलिये ऐसे धनमें किसीके अर्थापहरणका, चोरी-डकैतीका, चोरबाजारी, घूसखोरी, अनाचार-भ्रष्टाचारका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि यहाँ तो प्रत्येक क्रिया ही धर्मार्थ, यज्ञार्थ, भगवत्-सेवार्थ करनी है । और जबतक ऐसा नहीं होगा, जबतक स्वच्छन्द कामोपभोगके लिये, इन्द्रिय-तृप्तिके लिये, प्रबल-भोगवासनाकी पूर्तिके लिये अज्ञानान्ध होकर अर्थ-भोगका किसी भी प्रकारसे अर्जन और संग्रह-संचय होता रहेगा, तबतक यह पाप बंद नहीं हो सकता, चाहे उसका रूप कैसा ही क्यों न रहे । परस्वापहरण होगा ही—चाहे वह गैरकानूनी हो, व्यक्तिके नामपर हो, राष्ट्रके नामपर हो, विश्वहितके नामपर हो, साम्यवादके सिद्धान्तसे हो, मार्क्सवादके मतसे हो या अन्य किसी भी उच्च या अत्यन्त

नीच भावनासे हो, भावनाके अनुसार उसके स्वरूपमें कुछ तारतम्य अवश्य होगा, परंतु भोगवासनाजनित कार्य विशुद्ध भगवत्सेवा या लोक-सेवाका कभी नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त अटलरूपसे स्वीकार करना पड़ेगा। इसीसे हमारे यहाँ भोग-वासनाके बदले मोक्षको जीवनकी कामना माना गया, इसीलिये प्रत्येक क्रियाके साथ धर्मका सम्बन्ध जोड़ा गया और इसीलिये 'अधिकार'के बदले 'कर्तव्य'को प्रधानता दी गयी है एवं इसीलिये धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' अभ्युदयका अभिप्राय है—ऐहिक उन्नति, अर्थात् ऐसा भौतिक अभ्युदय, जिससे सबके दुःखोंका नाश हो, सबको सुख मिले, जीवन-जगत्के सभी प्राणी सुविधा प्राप्त करें, किसीके साथ अन्याय, पक्षपात न हो और किसीके भी किसी प्रकारके भी न्याय्य स्वत्वपर आघात न पहुँचे तथा सबके सुखसम्पादनके साथ ही इस धर्मका सेवन करनेवाला भी सुखी हो, वह भी जीवनमें सुख-सुविधाका उपभोग करे। पर यही धर्म नहीं है। जिसका फल परमकल्याण या मोक्षकी सिद्धि हो, जो जीव-जीवनकी अनादिकालीन साधको पूरी कर उसे आत्यन्तिक सुख-शान्तिकी स्थितिमें—आत्माके निर्मल शुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें पहुँचा दे, वह धर्म है। तभी मानव-जीवनकी सफलता है और तभी धर्मका यथार्थ पालन हुआ तथा उसके

महान् फलकी प्राप्ति हुई। बस, इसी उद्देश्यसे मानव-जीवनका आरम्भ है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जन्म तथा शिशुपनसे लेकर मरणपर्यन्त उसकी सारी चेष्टा और क्रियाओंका होना आवश्यक है। आर्य-संस्कृतिके इसी महान् लक्ष्यको लेकर मानवको तन-मन-वचनसे सावधान होकर धर्ममय जीवन बिताना है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम्॥

(श्रीमद्भागवत ४। १४। १५)

'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करता है तो वह धर्म उसे शोकरहित दिव्य लोकोंकी प्राप्ति कराता है और यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त नहीं होते तो उन्हें वही धर्म मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

धर्म वही है जो जगत्के परम कल्याणके साथ ही अपना कल्याण करनेवाला हो, वही धर्म भगवान्की पूजा बनता है और उसीसे परम सिद्धि—मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतएव बालकपनसे ही धर्मपालनका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये हमारे यहाँ गुरुकुल-निवास तथा ब्रह्मचर्याश्रमकी सुन्दर व्यवस्था है। ब्रह्मचर्याश्रमका अभिप्राय ही है—विद्याध्ययनके साथ-ही-साथ इन्द्रिय और मनके संयमकी क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त करना और फिर अपने वर्णाश्रमोचित सत्कर्मके द्वारा विश्वव्यापी प्रभुकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करना एवं सेवामें संलग्न हो जाना। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको—मोक्षको प्राप्त होता है।' इसी स्वकर्म-द्वारा भगवान्‌की पूजाके लिये, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये बालकको ब्रह्मचर्याश्रममें तैयार होना—ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका बड़ी श्रद्धा तथा आदर-बुद्धिसे पालन करना पड़ता है। यहाँके कुछ बड़े ही सुन्दर नियम मनु महाराज बतलाते हैं—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥
वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यंगमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
(मनु० २।१७६-१७९)

'ब्रह्मचारी प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध होकर देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करे, देवताओंकी भलीभाँति पूजा करे और सुबह-शाम समिधाके द्वारा हवन करे। ब्रह्मचारी मधु (मदिरा) और

मांसका त्याग करे, इत्रादि सुगन्ध द्रव्य, पुष्पोंकी मालाएँ, शर्करा आदि रस तथा स्त्रीका सर्व प्रकारसे परित्याग करे। जो वस्तुएँ सहज मधुर होनेपर भी किसी दूसरे संयोगसे विकृत हो जाती हैं, ऐसी शुक्त वस्तुओं—दही इत्यादिका त्याग करे और प्राणियोंकी कभी किसी प्रकार हिंसा न करे। तेल लगाना, आँखोंमें काजल या सुर्मा डालना, जूते पहनना, छाता लगाना, काम-क्रोध-लोभके वश होना, नाचना, गाना, बजाना, जुआ आदि खेलना, परचर्चा करना, कलह करना, असत्य बोलना, स्त्रियोंकी ओर देखना, उनका आलिंगन करना, दूसरेकी बुराई करना—इन सबसे ब्रह्मचारी सदा दूर रहे।' इस प्रकार इन्द्रियसंयमका अभ्यास करके बुद्धिको स्थिर करे। भगवान्‌ने कहा कि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
(गीता २। ६१)

हमारे शास्त्रकारोंने कहा है—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

'इन्द्रियोंके असंयमको विपत्तिका तथा उनपर विजय प्राप्त कर लेनेको ही सम्पत्तिका मार्ग कहा गया है। इन दोनों पथोंपर विचार करके ही मनुष्योंको लाभदायक मार्गपर चलना चाहिये।'

प्राचीन युगके इस ब्रह्मचर्याश्रमके संयमित छात्रजीवनके साथ आजके विश्वविद्यालय और महाविद्यालयोंसे सम्पर्कित छात्रावासोंके

छात्र-जीवनकी तुलना कीजिये । शरीरकी शुद्धि तथा देव-ऋषि-पितृतर्पण एवं हवनकी तो कल्पना ही नहीं, शरीरकी सफाई अपवित्र वस्तुओंके द्वारा अवश्य की जाती है। मद्य, अंडे और मांस-सेवनका शौक बढ़ाया जाता है। इत्र नहीं, परंतु शराब मिले अन्यान्य सुगन्धि-द्रव्य तथा शुष्क पदार्थोंका सिंचन-लेपन आवश्यक है। शर्करादि रसकी बात दूर रही अपवित्र और स्वास्थ्यनाशक रसोंका सेवन किया जाता है। किसीकी भी जूठन खानेमें कोई हानि नहीं मानी जाती। प्राणियोंकी हिंसा तो शौकसे की जाती है और शिक्षालयोंकी अनुसन्धान तथा प्रयोगशालाओंमें भी अबाध प्राणि-हिंसा होती है। काजल-सुर्मा तो असभ्यताके भयसे नहीं डाला जाता, पर तैल अभ्यङ्ग तथा अन्यान्य बुरी चीजोंका इस्तेमाल होता है। जूते तो समय-समयके लिये कई रक्खे जाते हैं। छातेके साथ ही पानीसे बचानेवाले कोट तथा हैट आदिका व्यवहार होता है। काम-क्रोध-लोभको तो प्रकारान्तरसे जागृतिके, विकासके या उन्नतिके लक्षण ही स्वीकार कर लिया गया है। नाचना, गाना, बजाना शिक्षाक्रममें आ गया है, जुए भी कई प्रकारके चलते हैं। परचर्चा, परनिन्दा तो अखबारी अध्ययनका प्राण ही है, असत्य भाषण चातुरी है। परायी बुराई भी व्यक्तिगत या दलगत लाभके लिये आवश्यक है। सिनेमा देखनेवाले तथा सहशिक्षा प्राप्त करनेवाले स्त्री-दर्शनादिसे कैसे बच सकते हैं। यों इन्द्रिय-संयमके स्थानपर इन्द्रियअ-संयमकी मानो बाढ़-सी आ गयी है। यह बड़े ही खेदका विषय है और ऐसे छात्र-जीवनसे कैसे संयमकी आशा की जाय !

परंतु केवल स्थितिपर खेद प्रकट करनेसे या निराश होनेसे काम नहीं चलेगा। बहुत बुरे दोष आ गये हैं, वे चाहे किसी भी कारणसे आये हों। इसके लिये भी किसीपर दोषारोपणकी प्रयोजनीयता नहीं है—आवश्यकता है दोषोंके सुधारकी। आज छात्र-छात्राओंमें प्रायः निम्नलिखित दोष विचारों तथा क्रियाओंके द्वारा न्यूनाधिक रूपमें आये और आते हुए बताये जाते हैं—

(१) ईश्वरपर अविश्वास, अतएव ईश्वर-भजनकी अनावश्यकता।

(२) कर्मफल, पुनर्जन्म, परलोकपर अविश्वास।

(३) देवपूजन, श्राद्ध, तर्पण, धार्मिक क्रिया, अनुष्ठान, नित्य-नैमित्तिक शास्त्रीय कर्मोंपर अविश्वास।

(४) प्राचीनकालकी सभ्यता तथा संस्कृतिकी उच्चतापर अविश्वास। अबसे पूर्वकी सभ्यता-संस्कृति पूर्व-से-पूर्व निम्नश्रेणीकी तथा अविकसित थी—ऐसी धारणा।

(५) संसार उत्तरोत्तर सभी विषयोंमें उन्नत हो रहा है—ऐसी धारणा।

(६) चार हजार वर्षके पूर्वका इतिहास नहीं है। वेद, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत, रामायण आदि सभी आधुनिक हैं—ऐसी धारणा।

(७) आर्यजाति भारतमें मूलतः नहीं रहती थी, बाहरसे आयी है—ऐसी धारणा।

(८) माता-पिताकी भक्ति, सेवा तथा उनके आज्ञा-पालनमें अरुचि ।

(९) शास्त्र, वर्णाश्रम, समाज, कुल, शिक्षा-संस्था तथा अन्य सम्बन्धित संस्थाओंका अनुशासन माननेमें आपत्ति ।

(१०) आचार्य, अध्यापक, गुरुका अपमान तथा उनके साथ दुर्व्यवहार ।

(११) खान-पानमें असंयम, तामसी (मद्य, मांस, अपवित्र जूठन आदि) आहारमें रुचि ।

(१२) यौन-सम्बन्धमें स्वेच्छाचारिता ।

(१३) सिनेमा आदि असंयम बढ़ानेवाले खेलोंके देखनेमें, उनमें क्रियात्मक भाग लेने तथा अशुभ सदाचारनाशक साहित्यके लेखन, वाचन तथा प्रचारमें उत्साह और प्रवृत्ति ।

(१४) विलासिताकी सामग्रियोंका अवबोध और अमर्याद सेवन तथा अत्यन्त खर्चीला जीवन ।

(१५) हिंसात्मक तथा मिथ्यापूर्ण कार्योंमें उत्साह तथा प्रवृत्ति ।

(१६) प्राचीनमात्रके विरोध तथा नवीनमात्रके ग्रहणमें विचारशून्य प्रवृत्ति ।

(१७) प्राचीन सांस्कृतिक कार्योंमें, व्यवहारोंमें तथा सदाचारमें अरुचि तथा उनका विरोध ।

(१८) वैदिक, महाभारत तथा रामायणके गौरवपूर्ण इतिहास तथा महापुरुषोंसे अपरिचय ।

संक्षेपमें सूत्ररूपसे दोषोंकी बात कही गयी है, इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से दोष भी हैं; किंतु ये दोष सभीमें हों ऐसी बात भी नहीं है। साथ ही यह बात भी नहीं माननी चाहिये कि ऊपर अपने दृष्टिकोणसे जो दोष बतलाये गये हैं, वे सभीकी दृष्टिमें दोष ही हों। जो कुछ भी हो, कुछ दोष तो ऐसे हैं, जिनको प्रायः सभी अथवा अधिकांश विचारशील लोग दोष मानते हैं और छात्रछात्रागण भी उन्हें दोषरूपमें स्वीकार करते हैं। इन दोषोंके आनेके अनेकों कारण है, पर प्रधान कारण हैं उनके सामने इसी प्रकारके दोषपूर्ण आदेशोंका रक्खा जाना और उनको ऊपरसे रोकनेकी बात कहते हुए भी उन्हीं आदेशोंका अनुकरण करनेके लिये बाध्य करना।

बालक तो निर्दोष होते हैं। यद्यपि पूर्व-संस्कारानुसार उनमें रुचिभेद तथा स्वभावभेद अवश्य होता है, फिर भी वे बनते हैं उनके बीचके और आसपासके वातावरणके अनुसार ही। इसलिये इसका दायित्व बालकोंके अभिभावकोंपर है और इसके लिये प्रधान उत्तरदायी तो हैं समाज तथा राष्ट्रके वे अगुआ पुरुष, जिनके हाथोंमें विधिनिर्माणकी सत्ता है तथा जिनके आदर्श एवं आदेशपर लोग चलते हैं। बालक तो अनुकरणपरायण होता है। उसके सामने जैसी चीज आती है वह उसीकी नकल करता है। अवाञ्छनीय शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय किसने बनाये? उनका संचालन कौन करता है? पाठ्यक्रमका निर्माण किसने किया? ईश्वरका खण्डन, शास्त्रका विरोध, पुनर्जन्म और परलोकपर अविश्वास पैदा करनेवाले साहित्यका प्रणयन किसने किया? प्राचीन शास्त्रोंको आधुनिक किसने बतलाया?

माता, पिता तथा गुरुकी आज्ञा न मानकर अनुशासन-भङ्ग करनेकी शिक्षा किसने दी ? आहार-विहारमें उच्छृङ्खलता, यौन-सम्बन्धमें स्वेच्छाचारिता और हिंसात्मक कार्योंमें प्रवृत्तिका आदर्श किसने उपस्थित किया ? चलचित्रोंका निर्माण, प्रचलन किसने किया ? किसने गंदे चित्रोंको चलानेकी अनुमति दी ? चोर-बाजारी, घूसखोरी, मिथ्यापूर्ण कार्योंमें उत्साहपूर्ण प्रवृत्ति किसने की ? और सहशिक्षाकी बुरी चाल किसने चलायी ? ऐसी ही अन्यान्य बातें हैं । परिस्थितिवश विदेशी शिक्षा तथा संस्कृतिके प्रभावमें आकर, जोशमें होशको खोकर इन्द्रियोंके वेगको रोकनेमें असमर्थ होकर या अन्य किसी भी कारणसे हो,—इन सब प्रवृत्तियोंके प्रेरक, प्रवर्तक, पोषक, प्रचारक प्रायः बड़े लोग ही हैं । यह सत्य है और इसे सभीको समझना चाहिये । बालकको तो जैसे साँचेमें आप ढालेंगे, उसीमें वह ढलेगा । अतएव विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके छात्र-छात्राओंको दोष देना व्यर्थ तथा अनुचित है, उनको सुधारना है तो पहले अपनेको सुधारना होगा । आजकल शिक्षाप्रणाली तथा शिक्षा-संस्थाओंके दोष प्रायः सभी बतलाते हैं, पर उनमें सुधारका कार्य नहींके बराबर ही हो रहा है । इस ओर देशके सभी मनीषियोंको विशेष ध्यान देकर इस विषयपर विचार करना चाहिये ।

यहाँ मैं अपने देशके भावी आशास्थल और भावी मानव-जातिके आदर्श पूर्व पुरुष-छात्र-छात्राओंकी सेवामें नम्रताके साथ

कुछ निवेदन करना चाहता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे विनीत निवेदनपर कृपया ध्यान दें। मेरा बहुत-से छात्रोंसे परिचय और पत्र-व्यवहार है, बहुत-से ऐसे अध्यापकों तथा आचार्योंसे मेरा बड़ा स्नेहका सम्बन्ध है, जो कुछ ही दिनों पहले छात्रावस्थामें थे। उनमें बहुत-से बड़े ही भले, सात्त्विक स्वभावके और दोषों तथा पापोंसे डरनेवाले सदाचारी तथा सुशील व्यक्ति हैं। ऐसे लाखों और भी होंगे। इसलिये छात्र-समाज बुरा नहीं है। छात्रोंमें जो बुराइयाँ आ रही हैं, उसे वे समझें और उन्हें दूर करनेमें उनकी शक्ति आने लगे तो बहुत शीघ्र बहुत कुछ सच्चा लाभ होना सम्भव है।

ईश्वर है, अवश्य है, प्रकृतिका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण दे रहा है। ईश्वरकी सच्ची सत्ताको माननेमें बड़ा लाभ है। यह संत-महात्माओंका अनुभव है।

धर्म है, धर्म ही जीवनका प्रधान अवलम्बन है। धर्महीन जीवन पशुजीवन है।

श्राद्ध-तर्पणसे मृत पितरोंकी तृप्ति होती है, इसमें अनेकों प्रमाण हैं और यह सर्वथा अनुभवसिद्ध तथ्य है।

हमारी सभ्यता तथा धर्म बहुत प्राचीन है। हमारा प्राचीन इतिहास अनन्त गौरव-गाथाओंसे युक्त है, सच्चा है। हमारे बहुत-से पूर्वपुरुष ज्ञानी, योगी, तपस्वी, सिद्ध तथा महान् ऐश्वर्यवान् थे।

आर्यजातिका मूल देश आर्यावर्त या भारतवर्ष ही है और हमारी सभ्यता करोड़ों वर्ष पुरानी है।

महाभारत-रामायण इतिहास हैं, पुराणोंमें प्राचीन ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्वके प्रसंग हैं। इनमें न्यूनाधिकता समय-समयपर की गयी है, ऐसे अनुमान होता है, पर मूल वस्तुतत्त्व सर्वथा यथार्थ है।

यह तो विजेता जातिका एक महान् कूटनैतिक प्रचार था कि आर्यजातिका मूलनिवास भारतवर्ष न माना जाय, जिससे उनकी इस देशपर भक्ति न रहे। विकासका सिद्धान्त माना जाय तो इनकी अपने पूर्व पुरुषों तथा अपनी प्राचीन संस्कृतिपर अनास्था हो जाय। एवं पुराना इतिहास न माना जाय तो इन्हें अपनी गौरव-गाथाका ज्ञान ही न हो।

वस्तुतः हमारा जीवन अत्यन्त गौरवमय था। तप, योग, ज्ञान, सिद्धि आदिके साथ ही मन्त्रविज्ञान बड़े उच्च स्तरपर था। विज्ञान तथा ऐश्वर्य भी बहुत ऊँची स्थितिमें था। हमारे यहाँके शास्त्रोंके समान शास्त्रोंका निर्माण जगत्में अभीतक नहीं हो सका है। मन्त्रात्मक, चेतन, इच्छारूप शस्त्रास्त्र थे। उन्हें लौटाया भी जा सकता था। जिस प्रकारके अस्त्रोंका वर्णन रामायण तथा महाभारतादिमें मिलता है, उनके सामने आजका अणुबम सर्वथा नगण्य तथा दोषयुक्त है।

प्राचीनकालमें विमानविज्ञान भी बड़ा अद्भुत था। रामायणमें चेतनकी भाँति कार्य करनेवाले तथा हजारों व्यक्तियोंको लेकर उड़नेवाले पुष्पक विमानका वर्णन है। कर्दमजीके विमानका वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। वह विमान कान्तिमान् था और इच्छा-

नुसार चलनेवाला तथा चाहे जिस लोकमें जानेवाला था। उसमें सब प्रकारकी सामग्रियाँ थीं। लिखा है वे उस महान् विमानमें बैठकर वायुके समान सभी लोकोंमें विचरते हुए विमानचारी देवताओंसे भी आगे बढ़ गये। शाल्व राजाके सौभ, विमानके सम्बन्धमें वर्णन है कि वह इतना विचित्र था कि कभी अनेक रूपोंमें दीखता, कभी एक रूपमें, कभी दीखता तो कभी न दीखता, कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी आकाशमें उड़ने लगता, कभी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता तो कभी जलमें तैरने लगता, वह अलातचक्रके समान घूमता रहता। वह विमान आकारमें नगरके समान था। विमानसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखा है कि (१) मार्गकी यासा, वियासा, प्रयासा आदि वायुशक्तियोंके द्वारा सूर्यकिरणोंमें रहनेवाली अन्धकारशक्तिका आकर्षण करनेसे विमान छिप जाता है। (२) रोहिणी विद्युत्के फैलानेसे विमानके सामने आनेवाली प्रत्येक वस्तुको देखा जा सकता है। (३) शब्दग्राहक-यन्त्रके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोंकी बातचीत आदि सुनी जा सकती है। (४) रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानोंकी वस्तुओंका रूप देखा जा सकता है। (५) दिशाम्पति नामक यन्त्र (की सूई) के द्वारा विमानके आनेकी दशा जानी जा सकती है। (६) 'सन्धिमुख' नामक नलीके द्वारा 'अपस्मार' नामक धूमको एकत्र करके स्तम्भन-यन्त्रके द्वारा दूसरे विमानपर फेंकनेसे उस विमानपर रहनेवाले सम्पूर्ण व्यक्ति स्तब्ध हो जाते हैं। और भी बहुत-सी बातें हैं। इससे विमान-विज्ञानका अनुमान होता है। पिछले दिनों

समाचारपत्रोंमें आया था कि महाराष्ट्रके एक सज्जनने प्रायः गत सौ वर्ष पूर्व एक विमान प्राचीन पद्धतिके अनुसार बनाया था और वह बहुत ऊँचेपर उड़ा भी था, परंतु प्रोत्साहन न मिलनेसे कार्य रुक गया और उसका बचा हुआ सारा सामान रैली ब्रदर्सको बेच दिया गया।

प्राचीनकालका मन्त्रविज्ञान भी बड़ा चमत्कारिक था। मन्त्रशक्तिसे चाहे जिस वस्तुका निर्माण हो सकता था। पिछले दिनों स्वामी विशुद्धानन्दजीके द्वारा काशीमें सूर्यविज्ञानके द्वारा वस्तुनिर्माणकी बहुत-सी घटनाएँ लोगोंने प्रत्यक्ष देखी थीं।

हमारे शास्त्र ऋषि-प्रणीत तथा सत्य-तत्त्वोंसे भरे हैं। वेद अपौरुषेय हैं।

हमारा सदाचार, मातृ-पितृभक्ति, गुरुभक्ति अत्यन्त लाभदायक हैं। उनके पालनसे आयु, विद्या, आरोग्य, यश, बल, धर्म और मोक्षसाधनकी वृद्धि होती है।

बाजारकी, होटलोंकी, प्रमोद-गृहोंकी बनी हरेक चीज बाजारू सोडा-लैमन बर्फका पानी, हर किसीकी जूठन कभी नहीं खानी चाहिये। खराब चीजोंसे तथा गंदगीमें बनी होनेके कारण उनसे स्वास्थ्यनाश होता है, बीमारियाँ फैलती हैं, व्यर्थ व्यय होता है और आचार तथा धर्मका नाश होता है।

विलासिताके प्रसार-प्रचारसे बड़ी हानि हो रही है। गंदे साहित्यसे लोकहानि बहुत बड़ी मात्रामें होती है। चरित्र ही महान् निधि है और विलासिताकी सामग्री, विलासी जीवन तथा गंदे साहित्यसे

चरित्रका नाश निश्चित होता है। चलचित्र इनमें बहुत बड़ी हानिकारक चीज है। मेरी छात्र-छात्राओंसे प्रार्थना है कि वे विलासिता-प्रसार, गंदे साहित्य तथा चल-चित्रोंके विरुद्ध जोरकी आवाज उठायें। रुपयोंके लोभसे जो व्यापारी, साहित्यिक, चल-चित्र-निर्माता तथा सरकारी अफसर छात्र-छात्राओंसे तथा समाजके नैतिक स्तरको बुरी तरहसे गिरानेका पाप-प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हे ऐसा करनेका क्या अधिकार है ? छात्रगण प्रबल आन्दोलन करके जगह-जगह अपना विरोध करें और प्रतिज्ञाएँ करायें। सरकारको बाध्य करें, जिसमें विलासिताकी सामग्रियोंका प्रचार रुके, गंदा साहित्य बंद हो और कम-से-कम गंदे चलचित्रोंका प्रणयन और प्रचार सर्वथा रुक जाय। छात्रोंको याद रखना चाहिये कि उनके निर्मल तथा निर्दोष मनमें मनोरंजनके तथा कलाके नामपर मीठा जहर भरा जा रहा है और कुप्रवृत्ति, कदाचार, कुसंग, कुकर्मके प्रति उनके मनमें आसक्ति तथा मोह उत्पन्न करके उन्हे पतनके गहरे गर्तमे गिराया जा रहा है। उनके साथ यह बहुत ही जघन्य छलपूर्ण बर्ताव हो रहा है। नहीं तो भला, अच्छे-भले घरकी युवतियों और युवकोंके मनमें पापवासना क्यों पैदा होती ? क्यों वे कुल-कुमारियाँ कलाके नामपर पुरुषोंका नीच स्पर्श और उनके साथ शृंगार आलापका अभिनय करने तथा लाखों-करोड़ों पुरुषोंकी पापदृष्टि अपने ऊपर गिरानेके लिये जगह-जगह गली-गलीमें अपने शृंगार-रूपके पोस्टर छपकर चिपके देखनेमें सुख और गौरव समझतीं ? क्यों सात्त्विक घरके कुलका नाम ऊँचा करनेके लिये उत्पन्न नवयुवक इस पाप-

पङ्कमें फँसते और उस कीचड़में सने रहनेमें निन्द्य गौरवका अनुभव करते ! और क्यों किसी स्टेशनपर, किसी रेलके डिब्बेमें, किसी मकानके बरामदेमें या किसी मैदानमें चलचित्रमें अभिनय करनेवाले उच्छृङ्खल तथा आदर्शहीन तरुण नट-नटियोंके महात्मा तथा पुण्यपुरुषोंकी भाँति देखने, देखकर आनन्दध्वनि करने, उनके नामपर नारे लगाने तथा उनपर फूल बरसानेका अनैतिक तथा अनाचारपूर्ण कार्य करते ! क्यों उन नट-नटियोंके नामोंको अपने पवित्र नामों और कामोंके साथ जोड़ते और क्यों उनके नामके बुश-शर्ट और साड़ी पहननेमें गौरव मानते ! इस सबका कारण यही है कि धनलोलुप तथा विषय-लोलुप बड़ी उम्रके व्यापारियों तथा अन्य लोगोंने निर्दोष छात्र-छात्राओं तथा समाजके तरुण-तरुणियोंको मोह-मदिरा पिलाकर उन्हें पागल बना दिया है। वे अपने ऊपर होनेवाले इस सभ्यताभरे जुल्म, इस मीठे अत्याचारको देखें, अपनी स्थिति समझें, समाजकी स्थिति समझें और इस मायाजालसे मुक्त होकर सबको अपने चेतमें आ जानेकी चेतावनी दे दें और आगेसे इस पापको असम्भव बना दें।

सहशिक्षा हानिकर है और लड़के-लड़कियोंका अबाध मिलना-जुलना अत्यन्त बुरा है, इसका कुफल प्रत्यक्ष है। आये दिन ऐसी अवाञ्छनीय घटनाएँ होती रहती हैं, जो समाज तथा कुलके लिये कलंकरूप हैं तथा अधर्म तो है ही। इससे दूर रहना तथा भले लड़के-लड़कियोंको इसके विरुद्ध भी जोरोंसे आवाज उठानी चाहिये।

दलबंदियोंसे तथा गुटोंसे बड़ी हानि है, उनसे छात्र-समाज यथासाध्य अलग रहे। जहाँतक हो, भगवान्‌को मानें और रोज याद करें। कुलधर्मका मान करें, माता-पिता-गुरु तथा श्रेष्ठोंका सम्मान करें। पातिव्रत्यके आदर्शकी पूजा करें। इन्द्रियसंयम तथा मनोनिग्रह करना सीखें, अनुशासन तथा सदाचारका पालन करें, जहाँतक बने सबके साथ सम्मान, प्रेम, हित तथा सत्यसे पूर्ण व्यवहार करें। सबका भला चाहें, भला करें और भला होते देखकर प्रसन्न हों।

दो महामन्त्र और उनका भाव सब लोग अपने हृदयोंमें भर लें तथा उनके अनुसार भावना एवं क्रिया करें—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

धर्मका सार-सर्वस्व सुनो और उसे धारण करो। जो कुछ भी अपनेसे प्रतिकूल हो दूसरोंके साथ वैसा बर्ताव कभी न करो।'

यही मनाओ कि सब जीव सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सब कल्याणों (मङ्गलका—भगवान्) का दर्शन करें और दुःखका भाग किसीको न मिले।'

इस प्रकार अपने जीवनको संयमपूर्ण, मङ्गलमय और सदाचार-परायण बनाकर इस लोकमें उपर्युक्त अभ्युदयको प्राप्त करें और

मानव-जीवनके चरम लक्ष्य निःश्रेयस या मोक्षको प्राप्त करके—भगवत्प्राप्ति करके जीवनकी चरम सफलताको प्राप्त हों। यही पवित्र धर्मसम्पादन है। बालकों, तरुणों तथा उनके अभिभावकों एवं राज्यके अधिकारी पुरुषोंको यही करना चाहिये। यही सबसे सादर प्रार्थना है।

साथ ही सरकारसे भी प्रार्थना है कि वह विशेष विचार करके भारतकी प्राचीन अध्यात्मप्रधान संस्कृतिकी रक्षा करें। संस्कृतिका विनाश, 'स्व' पर अनास्था यह बहुत बड़ी हानि है। 'स्वराज्य' प्राप्त करके भी यदि हमने 'स्व' को भुला दिया और खो दिया तो वस्तुतः हम हानिमें ही रहेंगे। अतएव अपनी पवित्र संस्कृतिकी रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। सरकारके एक बहुत बड़े उच्चपदस्थ महानुभावोंने मुझसे कहा था कि आजकल पढ़े 'लिखे लोगों'में ऐसे पुरुष बहुत मिलते हैं जो रामकी माता, भ्राता तथा पत्नीका नाम नहीं जानते, पाण्डवोंका नाम नहीं बता सकते आदि' यह बड़ी दुःखद स्थिति है। जब अपने गौरवजीवन पूर्वजोंका ही परिचय नहीं रहेगा, तब उनकी संस्कृतिसे तो सरोकार ही कैसे रहेगा। इस दिशामें सरकारके सम्मानित पुरुषोंको, साथ ही देशके प्रत्येक विचारशील नर-नारीको विचार तथा कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये।

शिक्षा-सुधारकी भी बड़ी ही आवश्यकता है। शिक्षाके वास्तविक उद्देश्यका निर्धारण, शिक्षापद्धति तथा परीक्षापद्धतिमें आमूल परिवर्तन तथा उसे अर्थकरी बनानेके साथ ही अध्यात्मपरक

बनानेकी व्यवस्था, अध्यापकों, आचार्योंके पवित्र उच्च चरित्रका निर्माण, समस्त संस्थाओंमें मानव-धर्मकी अनिवार्य शिक्षा, संस्कृत भाषाके प्रचार-प्रसारकी व्यवस्था आदि ऐसे कार्य हैं, जिनपर अविलम्ब ध्यान देना तथा प्रयत्न करना चाहिये। दुःख है कि संस्कृतके जो विद्वान् पण्डित चले जा रहे हैं उनके स्थानकी पूर्ति असम्भव हो गयी है। यही क्रम रहा तो कुछ वर्षों बाद दर्शन-शास्त्रके तथा व्याकरणके ग्रन्थोंको लगानेवाले भी मिलेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है। परीक्षा-पद्धतिके दोषसे यही दशा अंग्रेजीमें भी है। प्राचीन एण्ट्रेस पास लोगोंमें जो योग्यता थी, वैसी आजके ग्रेजुएटमें नहीं मिलती। परीक्षाका ध्येय भी घटना आवश्यक है। छुट्टियोंका कम किया जाना तथा पढ़ाईकी उम्रका घटाया जाना बड़ा ही आवश्यक है, इसमें धन तथा समयका बड़ा ही दुरुपयोग तथा व्यर्थ-व्यय होता है। धर्म-शिक्षापर भी विशेष ध्यान देना उचित है। 'सैक्यूलर' का अर्थ 'धर्मनिरपेक्ष' होना चाहिये, धर्महीन नहीं। व्यावहारिक क्षेत्रमें भी सरकारको ऐसी प्रजाके निर्माणकी आवश्यकता है, जो धर्मसहिष्णु अवश्य हो, पर साथ ही धर्मपरायण भी हो। तभी मानव मानव रह सकेगा। इसके साथ ही गंदे चलचित्रोंको रोकनेकी तुरंत व्यवस्था होनी चाहिये। इससे बहुत बड़ी नैतिक और आर्थिक हानि हो रही है। मेरी प्रार्थनापर ध्यान दिया जायेगा तो मैं कृतज्ञ होऊँगा

भजन क्यों नहीं होता ?

भगवान् एक हैं, उन्हींसे अनन्त जगत्की—जगत्के समस्त चेतनाचेतन भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, उन्हींमें सबका निवास है, वही सबमें सदा-सर्वत्र व्याप्त हैं, अतएव उनकी भक्तिका, उनके ज्ञानका और उनकी प्राप्तिका अधिकार सभीको है। किसी भी देश, जाति, धर्म, वर्ण, वर्गका कोई भी मनुष्य—स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी विशुद्ध पद्धतिसे भगवान्का भजन कर सकता है और उन्हें प्राप्त कर सकता है। परंतु भजनमे एक बड़ी बाधा है। वह बाधा है—भगवान्में अविश्वास और संसारके भोगोंमें विश्वास; बस, इसी कारण—इसी मोह या अविद्याके जालमें फँसा हुआ मनुष्य भगवान्का कभी स्मरण नहीं करता और भोग-विषयोंके लिये विभिन्न प्रकारके कुकार्य करनेमें अपने अमूल्य जीवनको खोकर

आगेके लिये भयानक दुःखभोगके अचूक साधन उत्पन्न कर लेता है। मनुष्यमें कमजोरी होना आश्चर्य नहीं, वह परिस्थितिवश पापकर्म भी कर सकता है, परंतु यदि उसका भगवान्‌पर विश्वास है, भगवान्‌के सौहार्द और उनकी कृपापर अटूट और अनन्य श्रद्धा है तो वह भगवान्‌का आश्रय लेकर पाप-समुद्रसे उबर जाता है और भगवान्‌की सुखद गोदको प्राप्त कर लेता है। परंतु जो भोगोंको ही जीवनका एकमात्र ध्येय और सुखका परम साधन मानकर उन्हींका आश्रय ले दिन-रात उन्हींके चिन्तन, मनन और उन्हींकी प्राप्तिके प्रयत्नमें तल्लीन रहता है, उसका जीवन तो पापमय बन जाता है, वह कभी भगवान्‌को भजता ही नहीं। भगवान्‌ने गीतामें दो प्रकारके पापियों-का वर्णन किया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(७।१५)

'वे पापकर्म करनेवाले मनुष्य तो मुझको (भगवान्‌को) भजते ही नहीं, जो मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति) को भूलकर प्रमाद तथा विषयसेवनमें लगे रहनेकी ही मूढताको स्वीकार कर चुके हैं, जो विषयासक्ति तथा विषयकामनाके वश होकर नीच कर्मोंमें ही लगे रहते हैं और अपने मानव-जीवनको अधम बना चुके हैं, मायाके द्वारा जिनका विवेक हरा जा चुका है और जो असुरोंके भाव—काम, क्रोध, लोभादिका आश्रय लेकर जीवनको आसुरी बना चुके हैं।' ऐसे लोग न तो भगवान्‌में श्रद्धा रखते हैं और न भजनकी ही आवश्यकता समझते हैं, वे दिन-रात नये-नये पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त

होते रहते हैं, विविध प्रकारके पाप करके गौरवका अनुभव करते और सफलताका अभिमान करते हैं एवं पापोंको ही जीवनका सहारा मानकर उत्तरोत्तर गहरे भव-समुद्रमें डूबते जाते हैं।

दूसरे वे पापी हैं, जो परिस्थिति या दुर्बलताके कारण बड़े-से-बड़ा पापकर्म तो कर बैठते हैं, परंतु वे उस पापको पाप समझते हैं, पाप करके पश्चात्ताप करते हैं, पाप उनके हृदयमें शूल-से चुभते हैं और वे उनसे त्राण पाने तथा भविष्यमें पापकर्म सर्वथा न बनें, इसके लिये सदा चिन्तित और सचेष्ट रहते हैं; ऐसे लोग कहीं आश्रय, आश्वासन न पाकर अन्तमें भगवान्‌को ही परम आश्रय मानकर करुणभावसे उनको पुकारते हैं। भगवान् कहते हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
>
> (गीता ९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी (पापकर्मा मनुष्य) भी यदि मुझ (भगवान्) को ही एकमात्र शरणदाता परम आश्रय मानकर दूसरे किसीका कोई भी आशा-भरोसा न रखकर (पापनाश और मेरी भक्तिकी प्राप्तिके लिये) केवल मुझको ही भजता है, आर्त होकर एकमात्र मुझको ही पुकार उठता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने एकमात्र मुझ (भगवान्) को ही परम आश्रय मानने और केवल मुझको ही पुकारनेका सम्यक् निश्चय कर लिया है।

केवल माननेकी ही बात नहीं, वह तुरंत ही धर्मात्मा (पापकर्मोंसे बदलकर धर्मस्वरूप) बन जाता है और भगवत्प्राप्तिरूप परमा शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम यह सत्य समझो कि मुझको इस प्रकार भजनेवाले भक्तका कभी नाश (अधःपात) नहीं होता।'

इन दोनों प्रकारके पापियोंमें यही अन्तर है कि पहला पापको पाप न मानकर गौरव तथा अभिमानकी वस्तु मानता है, वह काम-क्रोध-लोभादिरूप आसुरभावको ही परम आश्रय समझकर उसीके परायण रहता है तथा नीच कर्मोंकी सिद्धिमें ही सफलताका अनुभव करता है और दूसरा पापी पापको पाप मानकर उनसे छूटना चाहता है और शरणागत-वत्सल भगवान्‌को ही एकमात्र परम आश्रय मानकर परम श्रद्धाके साथ उनका भजन करना चाहता है। इसीसे यह भजन कर सकता है और शीघ्र ही पापमुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

पाप बननेमें प्रधान कारण है—पापमें अज्ञानपूर्ण श्रद्धा या आस्था। मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति तथा कामना होती है और सङ्गदोषसे वह पापोंको ही उनकी प्राप्ति तथा संरक्षण-संवर्द्धनमें हेतु मान लेता है। फिर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक पापोंमें ही लगा रहता है। संसारबन्धनसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे तो वह भगवान्‌को भजनेकी कल्पना भी नहीं कर पाता, सकामभावसे भी भगवान्‌को नहीं भजता, उधर उसकी वृत्ति जाती ही नहीं और वह दिन-रात नये-नये

पापोंमें उलझता हुआ सदा-सर्वदा अशान्तिका अनुभव करता है तथा परिणाममें घोर नरकोंकी यातना भोगनेको बाध्य होता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'अर्जुन ! ऐसे मूढ (मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य) मुझ (भगवान्) को न पाकर जन्म-जन्ममें—हजारों-लाखों बार आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं। तदनन्तर उससे भी अधम गतिमें—नरकोंमें जाते हैं।'

भवाटवीमें भटकते हुए जीवको अकारणकरुण भगवान् कृपा करके मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं, यह देवदुर्लभ शरीर मिलता ही है—केवल भगवत्प्राप्तिका सफल साधन करनेके लिये। इसीके लिये इस जीवनमें विशेषरूपसे 'बुद्धि' दी जाती है, पर मनुष्य परमात्माकी दुर्लभ देन—उसी बुद्धिको भोगासक्तिसे पापार्जनमें लगाकर केवल भगवत्प्राप्तिके साधनसे ही वञ्चित नहीं होता, वरं बहुत बड़े पापोंका बोझ लादकर दुर्गतिको प्राप्त होता है ! यह मानवजीवनकी सबसे बड़ी और महान् दुर्भाग्यरूप विफलता है। इसीसे विषयानुरागी मनुष्यको भाग्यहीन बतलाया गया है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

ते नर नरकरूप जीवत जग
भव-भंजन-पद-विमुख अभागी।
निसि-बासर रुचि-पाप असुचि-मन
खल मति-मलिन, निगम पथ-त्यागी॥
× × ×
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि
सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

अतः मानव-जन्मकी सफलता इसीमें है कि मनुष्य अथक प्रयत्न करके भगवान्‌को या भगवत्प्रेमको प्राप्त कर ले। कम-से-कम भगवत्प्राप्तिके पवित्र मार्गपर तो आरूढ़ हो ही जाय। इसके लिये सत्सङ्ग करे और सत्सङ्गमें भगवान्‌के स्वरूप, महत्त्व तथा उनकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र परम उद्देश्य है—यह जानकर उसीमें लग जाय। मनुष्यको यह बड़ा भारी मोह हो रहा है कि 'सांसारिक भोगोंमें सुख है।' यह मोह जबतक नहीं मिटता, तबतक वह कभी किसी देवताका आराधन भी करता है तो इसके फलस्वरूप वह सांसारिक विषय-भोग ही चाहता है। वह छूटना तो चाहता है दुःखसे और प्राप्त करना चाहता है सुखको—परंतु विषय-सुखकी भ्रान्तिवश मोहसे वह बार-बार प्राप्त करना चाहता है विषय-भोगोंको ही, जो दुःखके उत्पत्तिस्थान हैं—दुःखके खेत हैं—'दुःखयोनय एव ते।'

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्सङ्गके बिना भगवत्कथा सुननेको नहीं मिलती। भगवत्कथाके बिना उपर्युक्त मोहका नाश नहीं होता और मोह मिटे बिना श्रीभगवच्चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

यह प्रबल मोहकी ही महिमा है कि बार-बार दुःखोंका अनुभव करता हुआ भी मनुष्य उन्हीं दुःखदायी भोगोंको चाहता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥

'जैसे युवती स्त्री संतान-प्रसवके समय दारुण दुःखका अनुभव करती है, परंतु वह मूर्खा सारी वेदनाको भूलकर पुनः उसी दुःखके स्थान पतिका सेवन करती है। जैसे लालची कुत्ता जहाँ जाता है वहीं उसके सिरपर जूते पड़ते हैं तो भी वह नीच पुनः उसी रास्ते भटकता है, उस मूढ़को जरा भी लाज नहीं आती।'

बस, यही दशा मोहग्रस्त मानवकी है। बार-बार दुःखका अनुभव करनेपर भी वह उन्हीं विषयोंमें सुख खोजता है। इसी मोहके कारण वह भगवान्‌का भजन नहीं करता!

भगवत्कृपासे जब यथार्थ सत्सङ्ग-सूर्यका उदय होता है, तब मनुष्यकी मोह-निशा भङ्ग होती है और वह विवेकके मङ्गल-प्रभातका दर्शन प्राप्त करता है। यथार्थ सत्सङ्ग वही है जो इस मोहका नाश करनेमें समर्थ हो। जिस सङ्गसे विषय-विमोह और विषयासक्ति बढ़ती है वह तो कुसङ्ग ही है। यह मोहकी ही महिमा है कि अपनेको साधु, जीवन्मुक्त, भक्त या महात्मा माननेवाले तथा बतलानेवाले लोग भी विषयकामना करते और विषयोंका महत्त्व मानते हैं। सच्चे संत, महात्मा या भक्त तो वही हैं जिनका विषय-विमोह या भोग-विभ्रम सर्वथा मिट गया है। जिनकी दृष्टिमें सांसारिक विषयोंका भगवान्‌के अतिरिक्त कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है और रहा है तो विनोद या खेलके रूपमें ही। अथवा उन संत-साधकोंका सत्सङ्ग भी बड़ा लाभदायक है, जिनकी दृष्टिमें संसारके भोग विष या मलके सदृश घृणित और त्याज्य हो चुके हैं। जो मनुष्य विषय-भोगों-का बाहरसे त्याग करके यह मानता है कि 'मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है, कैसे-कैसे महत्त्वपूर्ण विषयोंको छोड़कर—घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, धन-ऐश्वर्य, पद-अधिकारका परित्याग कर वैराग्यको ग्रहण किया है' वह बाहरसे भोग-पदार्थोंका त्याग करनेवाला होनेपर भी वस्तुतः मनसे भोगोंका त्याग नहीं कर पाया है; क्योंकि उसके मनमें भोगोंकी स्मृति और उनकी महत्ता बनी हुई है तभी तो वह अपनेको 'बड़ा त्यागी' मानता है। क्या जंगलमें या पाखानेमें मल त्यागकर आनेवाला मनुष्य कभी तनिक भी मनमें गौरव करता है कि मैंने बड़े

महत्त्वकी वस्तुका त्याग किया है ! क्या उसे उसमें जरा भी अभिमानका अनुभव होता है ! वह तो एक सहज आरामका अनुभव करता है । इसी प्रकार विषय-भोगोंमें मल-बुद्धि या विषबुद्धि होनेपर उनके त्यागमें आराम तो मिलता है, पर किसी प्रकारका अभिमान नहीं हो सकता; क्योंकि उसका वह त्याग भगवान्‌में ममत्व-बुद्धि और भोगोंमें वास्तविक त्यागबुद्धि होनेपर ही होता है ! ऐसे पुरुषोंका जीवनचित्र ही भोग-लिप्साको दूर करनेवाला मूर्तिमान् सत्सङ्ग है । अथवा उनका सत्सङ्ग करना चाहिये जो भगवत्प्रेमके नशेमें चूर होकर या तो संसारको सर्वथा भूल चुके हैं या जिनको नित्य-निरन्तर समग्र जगत्‌में केवल अपने प्रियतमकी मधुर मनोहर झाँकी हो रही है ।

सत्सङ्गके द्वारा जितना ही मोहका पर्दा हटेगा या फटेगा, उतना ही विषय-व्यामोह मिटकर भगवान्‌की ओर चित्तका आकर्षण होगा और उतनी ही अधिक भगवद्-भजनमें प्रवृत्ति होगी । एवं ज्यों-ज्यों भजनमें निष्कामता, प्रेम और निरन्तरता आयेगी, त्यों-ही-त्यों मोह-निशाका अन्त समीप आता जायगा । फिर तो मोह मिटते ही भगवान् हृदयमें आ विराजेंगे । विराज तो अब भी रहे हैं परंतु हमने अपनी अंदरकी आँखोंपर पर्दा डाल रक्खा है और उनके स्थानपर मलिन कामको बैठा रक्खा है, इसीसे वे छिपे हुए हैं । फिर प्रकट हो जायँगे और उनके प्रकट होते ही काम-तम भाग जायगा—

> जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम ।
> तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं रवि रजनी इक ठाम ॥

बहुत आवश्यक ध्यान रखनेकी बातें

सबसे विनयपूर्वक मीठी वाणीसे बोलना ।

किसीकी चुगली या निन्दा नहीं करना ।

किसीके सामने किसी भी दूसरेकी कही हुई ऐसी बातको न कहना, जिससे सुननेवालेके मनमें उसके प्रति द्वेष या दुर्भाव पैदा हो, या बढ़े ।

जिससे किसीके प्रति सद्भाव तथा प्रेम बढ़े, द्वेष हो तो मिट जाय या घट जाय, ऐसी ही उसकी बात किसीके सामने कहना ।

किसीको ऐसी बात कभी न कहना जिससे उसका जी दुखे ।

बिना कार्य ज्यादा न बोलना, किसीके बीचमें न बोलना, बिना पूछे अभिमानपूर्वक सलाह, न देना ताना न मारना, शाप न देना। अपनेको भी बुरा-भला न कहना, गुस्सेमें आकर अपनेको भी शाप न देना, न सिर पीटना ।

जहाँतक हो परचर्चा न करना, जगच्चर्चा न करना ।

आये हुएका आदर-सत्कार करना, विनय-सम्मानके साथ हँसते हुए बोलना ।

किसीके दुःखके समय सहानुभूतिपूर्ण वाणीसे बोलना, हँसना नहीं ।

किसीको कभी चिढ़ाना नहीं ।

अभिमानवश घरवालोंको कभी किसीको मूर्ख, मन्दबुद्धि, नीच वृत्तिवाला तथा अपनेसे नीचा न मानना, सच्चे हृदयसे सबका सम्मान-हित करना । मनमें अभिमान तथा दुर्भाव न रखना, वाणीसे कभी कठोर तथा निन्दनीय शब्दोंका उच्चारण न करना । सदा मधुर विनम्रतायुक्त वचन बोलना । मूर्खको भी मूर्ख कहकर उसे दुःख न देना ।

किसीका अहित हो ऐसी बात न सोचना, न कहना और न कभी करना ।

ऐसी ही बात सोचना, कहना और करना जिससे किसीका हित हो ।

धन, जन, विद्या, जाति, उम्र, रूप, स्वास्थ्य, बुद्धि आदिका कभी अभिमान न करना ।

भावसे, वाणीसे, इशारेसे भी कभी किसीका अपमान न करना, किसीकी दिल्लगी न उड़ाना ।

दिल्लगी न करना, मुँहसे गंदी तथा कड़वी जबान कभी न निकालना । आपसमें द्वेष बढ़े, ऐसी किसीको भी कभी सलाह न देना । द्वेषकी आगमें आहुति न देकर, प्रेम बढ़े, ऐसा अमृत ही सींचना ।

फैशनके वशमें न होना, कपड़े साफ-सुथरे पहनना, परंतु फैशनके लिये नहीं।

घरकी चीजोंको सँभालकर रखना। इधर-उधर न फेंकना। घरकी चीजोंकी गिनती रखना।

अपना काम जहाँतक हो सके, हाथसे करना। अपना काम आप करनेमें लजाना तो कभी नहीं ही, बल्कि जो काम नौकरोंसे या दूसरोंसे कराये बिना अपने करनेसे हो सकता हो, उस कामको अपने ही करना। काम करनेमें उत्साहित रहना, काम करनेकी आदत न छोड़ना।

किसी भी नौकरका कभी अपमान न करना। तिरस्कारयुक्त छोटी बोलीसे न बोलना।

स्त्रियोंको न तो पुरुषोंमें बैठना, न बिना काम मिलना-जुलना, न हँसी-मजाक करना। इसी प्रकार पुरुषोंको स्त्रियोंमें न बैठना, न बिना काम मिलना-जुलना, न हँसी-मजाक करना।

दूसरोंकी सेवा करनेका अवसर मिलनेपर सौभाग्य मानना और विनम्रभावसे निर्दोष सेवा करना।

खर्च न बढ़ाना, खर्चीली आदत न डालना, अनावश्यक चीजें न खरीदना। अनावश्यक वस्तुओंको संग्रह न करना, दूसरोंकी देखा-देखी रहन-सहनमें बाबूगिरी, खर्च बढ़ानेका काम, दिखानेका काम न करना। बुरी नकल किसीकी न करना।

संतोंके गुण लेना, दोष नहीं।

मनमें सदा प्रसन्न रहना, चेहरेको प्रसन्न रखना, रोनी सूरत न रखना तथा रोनी जबान न बोलना।

जीवनसे कभी निराश न होना। निराशाके विचार ही न करना।

दूसरोंको उत्साह दिलाना, किसीकी हिम्मत न तोड़ना, उसे निराश न करना। किसीको बार-बार दोषी बताकर उस दोषको उसके पल्ले न बाँधना।

आपसमें कलह बढ़े, ऐसा कोई काम शरीर-मन-वचनसे न करना।

दूसरोंकी चीजपर कभी मन न चलाना। शौकीनीकी चीजोंसे जहाँतक बने अलग रहना।

सदा उत्साहपूर्ण, सर्वहितकर, सुखपूर्ण, शान्तिमय, पवित्र विचार करना, निराशा, उद्वेग, अहितकर, विषादयुक्त और गंदे विचार कभी न करना।

दूसरेको नीचा दिखानेका न कोई काम करना, न सोचना और न किसीकी नीची होती देखकर जरा भी प्रसन्न होना। सदैव सभीको सम्मान देना तथा ऊँचे उठते देखकर प्रसन्न होना।

बुरा कर्म करनेवालेके प्रति उपेक्षा करना, उसका सङ्ग न करना, पर उसका बुरा न चाहना। बुरे कामसे घृणा करना, बुरा करनेवालेसे नहीं। उसको दयाका पात्र समझना।

गरीब तथा अभावग्रस्तको चुपचाप, अपनेसे हो सके उतनी वथा वैसी सहायता करना, पर न उसपर कभी अहसान करना, न बदला चाहना और न उस सहायताको प्रकट ही करना।

दूसरेसे सेवा कराना नहीं, दूसरोंकी सेवा करना।

दूसरोंसे आशा रखना नहीं, दूसरा कोई आशा रखता हो तो भरसक उसे पूरी करना।

दूसरेसे मान चाहना नहीं, सर्वथा अमानी रहकर दूसरोंको मान देना।

दूसरेके हककी कभी चोरी करनेकी बात ही न सोचना। करना तो नहीं ही।

किसीसे द्वेष न करना, पर बेमतलब मोह-ममता भी न जोड़ना।

कम बोलना, कम खाना, कम सोना, कम चिन्ता करना, कम मिलना-जुलना, कम सुनना।

बढ़िया खाने-पहननेसे यथासाध्य परहेज रखना, सादा खान-पान, सादा पहिराव रखना।

धनकी सात्त्विक दानमें, शरीरकी सेवामें, वाणीकी भगवन्नाम-गुणगानमें, मनकी भगवच्चिन्तमें, जीवनकी भगवत्प्राप्तिमें, क्रियाकी परदुःखहरण तथा परोपकारमें, समयकी भगवत्स्मरण तथा सेवामें सार्थकता समझना।

कपटका व्यवहार न करना, किसीको ठगना नहीं।

आमदनीसे कम खर्च करना, कम खर्च करने तथा सादगीसे रहनेमें अपमान न समझना, बल्कि गौरव समझना। अपनी आवश्यकता न बढ़ाना।

किसी भी प्रकारके व्यसनकी आदत न डालना।

अतिथिका अत्यन्त विनयपूर्वक निर्दोष यथासाध्य सत्कार करना।

गरीब-परिवारके भाई-बन्धुओंके साथ विशेष नम्रता तथा प्रेमका व्यवहार करना। किसीको अपनी किसी प्रकारकी शान कभी न दिखाना।

हम कमाते हैं और तो सब खानेवाले हैं—यह न कभी कहना, न मानना ही।

विकार पैदा करनेवाला असत्-साहित्य न पढ़ना, चित्र न देखना, बातचीत न करना।

आजका काम कलपर और अभीका पीछेपर न छोड़ना।

स्त्रियोंको चाहिये, देवरानी-जिठानीका सम्मान करना, उनके बच्चोंको अपने बच्चोंसे अधिक आदर-स्नेह देना, पतिको ऐसी सलाह देना जिससे घरमें कभी कलह न हो तथा परस्पर प्रेम बढ़े, सासकी सेवा-सम्मान करना। बहूको पुत्रीसे बढ़कर प्यार करना। ऐंठ न रखना, अभिमान न करना, अपनेको किसी भी कारणसे बड़ा न समझना। सबसे नम्र तथा विनयी होकर रहना। भाभीका ननदसे तथा ननदका भाभीसे सम्मान तथा प्रेमका बर्ताव करना।

यथासाध्य किसीकी निन्दा, बुराई, दोषचर्चा न सुनना, अपनी बड़ाई तथा भगवन्निन्दा न सुनना। ऐसी बातोंमें साथ तो देना ही नहीं।

प्रतिदिन कुछ समय गीता, रामायण, अन्यान्य सद्ग्रन्थोंके स्वाध्याय, स्तोत्र-पाठ, मन्त्र और भगवन्नाम-जप, भगवत्प्रार्थना तथा इच्छानुसार भगवत्पूजनमें लगाना। बड़ोंको यथायोग्य प्रणाम करना।

जीभसे सदा-सर्वदा भगवन्नाम-जपका अभ्यास करना।

मान-बड़ाई—मीठा विष

मनुष्य जहाँ सर्वजीवोंकी अपेक्षा विलक्षण शक्ति-सामर्थ्ययुक्त है, वहाँ वह एक ऐसी दुर्बलताको धारण करता है, जो पशु-पक्षी, कीट-पतंगोंमें नहीं है। वह दुर्बलता है—मान-बड़ाईकी इच्छा, यश-कीर्तिकी कामना। यह बड़े-बड़े त्यागी कहलानेवालोंमें—माने जानेवालोंमें और अपनेको महान् त्यागी समझनेवालोंमें भी प्रायः पायी जाती है। इसको लोग दोषकी वस्तु नहीं मानते और इतिहासमें नाम अमर रहनेकी वासना रखते और कामना करते हैं। यह मीठा विष है, जो अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है; परंतु परिणाममें साधन-जीवनकी समाप्तिका कारण बन जाता है। मान-बड़ाई किसकी? शरीरकी और नामकी! जो शरीर और नामको अपना स्वरूप मानता है और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा, उनका नाम-यश चाहता है, वह नाम-रूपमें अहंभाव रखनेवाला ज्ञानी है या अज्ञानी? यह प्रत्यक्ष है कि 'शरीर' माता-पिताके रज-वीर्यका पिण्ड है और माताके गर्भमें इसका निर्माण हुआ है। यह आत्मा नहीं है और 'नाम' तो प्रत्यक्ष कल्पित है। जब यह माताके गर्भमें था, तब तो यही पता नहीं था कि लड़की है या लड़का। प्रसव होनेके बाद नामकरण हुआ। वह नाम अच्छा नहीं लगा, दूसरा बदला गया,

तीसरा बदला गया । न मालूम कितनी बार परिवर्तन हुआ । ऐसे शरीर ('रूप') और 'नाम'में अहंता कर, उनको आत्मा मानकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठाकी कामना करना प्रत्यक्ष अज्ञानकी जयघोषणा है । अपने अज्ञानका साक्षात् परिचय है । परंतु किससे कहा जाय और कौन कहे ! कुएँ जो भाँग पड़ी है । बड़े-बड़े त्यागी महात्मा अपने जीवन-कालमें ही अपनी पाषाण या धातुमूर्तिका निर्माण करवाकर, छायाचित्रोंको देकर उनकी पूजा करवाते हैं; अपने नामका जप-कीर्तन करवाते हैं ! अपनेको 'ईश्वर' या 'भगवान्' कहाते और स्वयं कहते जरा भी संकुचित नहीं होते, वरं इसमें गौरव तथा महत्त्वका अनुभव करते हैं । मेरी समझसे तो यह मोह है और इस मोहका शीघ्र भंग होना अत्यन्त आवश्यक है ।

आपलोगोंने जिस अकृत्रिम स्नेह, वात्सल्य, प्रेम, आत्मीयता, शील, सौजन्य तथा उदारताके साथ हमलोगोंके प्रति जो आदर्श बर्ताव किया है और यात्राट्रेनके प्रत्येक यात्रीको सुख-सुविधा देनेका जो महान् प्रयास किया है, उसके लिये हम सभी आपके कृतज्ञ हैं । मैं तो आपके आदर्श निष्काम तथा विशुद्ध प्रेमको प्राप्त कर कृतार्थ हो गया हूँ और आपने सदाके लिये मुझे प्रेम-ऋणी बना दिया है । मेरे पास शब्द नहीं है, जिनके द्वारा मै अपने हृदयके भाव प्रकट कर सकूँ । मै आपका चिरऋणी हूँ । वास्तवमें प्रेमका कोई बदला हो ही नहीं सकता । मै आपके प्रेमको पवित्र भावनासे सदा-सर्वदा अपने हृदयको पवित्र बनाये रखना चाहता हूँ । सदा-सर्वदा इस सुधा, सिंचनसे हृदयको हरा-भरा रखना चाहता हूँ ।

परंतु आपको जो मुझमें गुणसमूहके दर्शन हुए हैं और जिनका आपलोगोंने मधुर शब्दोंमें वर्णन किया है, वे वस्तुतः मुझमें नहीं हैं। यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ। आपको गुण दीखते हैं इसमें आपका मेरे प्रति अकृत्रिम प्रेम ही कारण है अथवा यह आपकी केवल सद्गुणदर्शिनी दृष्टिका परिणाम है। किसीमें गुण, समूह देखकर कोई दूसरा उसका वर्णन करता है, तब उसमें प्रायः तीन ही बातें होती हैं—(१) वह इतना महान् है कि उसे जगत्में सर्वत्र वैसे ही केवल गुण ही दीखते हैं, जैसे ब्रह्मदर्शी ज्ञानीको अथवा भगवत्प्रेमीको सर्वत्र ब्रह्म या भगवान्‌की ही अनुभूति होती है। (२) या उसे गुणोंके साथ दोष भी दीखते हैं पर वह केवल गुणोंको ही ग्रहण करता है। दोषको ग्रहण करता ही नहीं। और (३) अथवा उसे दोष-गुण दोनों दीखते तो हैं पर वह दोष-का वर्णन न करके केवल गुणका ही वर्णन करता है। इन तीनों ही बातोंमें गुण वर्णन करनेवालेका महत्त्व है, यह उसका आदर्श गुण है। गुण सुननेवाला यदि गुण वर्णन करनेवालेके इस महत्त्वको न समझकर बिना ही हुए अपनेमें उन गुणोंका आरोप कर लेता है, अपनेको उन गुणोंसे सम्पन्न मान लेता है, तो वह अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करता है। यह उसकी मूर्खतामात्र है, क्योंकि किसीके द्वारा गुण बताये जानेसे गुण तो आ नहीं गये। किसी कंगालको यदि कोई करोड़पति बता दे तो इससे वह करोड़पति हो नहीं जाता। हाँ, यदि वह मान लेता है तो अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता अवश्य करता है। आपलोग अपनी सद्भावनासे मुझे यह बल दें कि मैं आपलोगोंके सद्भावका हार्दिक सम्मान करता हुआ भी, आपके

इस महत्त्वपूर्ण गुणसे शिक्षा लेता हुआ भी अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता न कर बैठूँ।

आपलोगोंने मेरा जो परिचय दिया, यह तो आपके ही सद्भाव तथा सदाचारका पवित्र परिचय है। मेरा यथार्थ परिचय तो मुझको है और वह यह है कि जगत्में जो करोड़ों मनुष्य हैं, उन्हींमेंसे मैं भी एक हूँ। जैसे उनमें अनेक दुर्बलताएँ भरी हैं, वैसी ही मुझमें भी हैं। मैं उनसे किसी भी बातमें बढ़कर नहीं हूँ। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राणिमात्रके सहज सुहृद् श्रीभगवान्की अनन्त कृपा मुझपर है; वह कृपा तो सभीपर असीम है, उनकी कृपासे ही मुझे उस कृपाके दर्शन होते हैं। पर इसमें भी अकारण कृपालु भगवान्का ही महत्त्व है। मेरा क्या है!

आपलोगोंने मुझे मालाएँ पहनायीं, सुगन्धित पुष्पोंके सुन्दर हार पहनाये—यह आपकी बड़ी ही कृपा है। जिस समय मैं हार पहन रहा था, अपनी प्रशंसा सुन रहा था, उस समय मेरे मनमें आया कि हम गीतामें रोज पढ़ते हैं—

'मानापमानयोस्तुल्यः', 'तुल्यनिन्दास्तुतिः।'

—तो इस प्रशंसा तथा फूलोंके हारोंके स्थानपर गालियाँ सुननेको मिलतीं और पुष्पहारके बदले जूतोंके हार मिलते तो क्या मेरा यही भाव रहता, जो प्रशंसा सुनने और हार पहननेके समय रहा है। यदि नहीं तो, फिर यह समताकी बातें पढ़कर मैंने क्या लाभ उठाया! सच तो यह है कि मैं मान-बड़ाईका विरोध तो करता हूँ, परंतु मेरे मनमें मान-बड़ाईकी छिपी वासना है, उसीकी पूर्ति हो रही है। यदि वासना न होती और सुख न मिलता,

मान-बड़ाईमें गाली तथा जूतोंके हारकी भावना होती तो मैं यहाँ-से भाग जाता और आप मुझे न तो हार ही पहना सकते, न मेरी प्रशंसा ही कर पाते। पर यह मेरी ही दुर्बलता है। आपलोगोंका तो श्लाघ्य गुण ही है। हमारे स्वामीजी रामसुख-दासजी तथा स्वामी चक्रधरजी हार नहीं पहनते तो उन्हें कौन पहना सकता है! कौन कह सकता है मेरे मान-बड़ाईका विरोध करनेमें भी मान-बड़ाई पानेकी छिपी वासना काम न कर रही हो।

दूसरी बात है—हारोंमें व्यर्थ खर्चकी। ये हार किसी भी काममें नहीं आते। एक बार पहने कि उतारकर रख दिये। इनसे भगवत्पूजन या देवपूजन होता तो इनकी कुछ सार्थकता भी थी। नहीं तो ये सुन्दर पुष्पवाटिकाकी शोभा ही बढ़ाते। हमारा देश अब भी बड़ा दरिद्र है। जहाँ करोड़ों भाई-बहिन भरपेट भोजन नहीं पाते, अङ्ग ढकनेको वस्त्र नहीं पाते, रहनेको छायादार घर नहीं पाते, वहाँ तो अच्छा खाना-पहनना, अच्छे मकानोंमें रहना, गलीचोंपर और सोफोंपर बैठना ही बड़ा अनुचित है, फिर पुष्पहारोंमें पैसा खर्च कराना तो उचित कैसे कहा जा सकता है। यह भी मेरा ही दोष है। मैं क्या कहूँ।

अब रही छायाचित्र (फोटो) की बात। सो हाड़-मांसके इस शरीरका चित्र क्या महत्त्व रखता है। चित्र तो भगवान् या संतोंके लाभदायक होते हैं। मुझ-जैसे मनुष्योंका चित्र उतरवाना तो सर्वथा उपहासास्पद ही है।

*

महाभारतमें भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया था कि बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा करना उनकी हत्या करना है और अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है। यह बड़ा ही गर्हित कार्य है। जैसे अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है, ऐसे ही अपने कानोंसे अपनी बड़ाई सुनना भी आत्महत्याके ही सदृश है। पर यह आत्महत्या तो हम बड़े शौकसे करते हैं। क्या कहा जाय!

आपलोगोंने जो इतना मान-सम्मान किया, बड़ाई की, गुणगान किये, इसमें निश्चय ही आपका अकृत्रिम प्रेम ही प्रधान कारण है। और मै इस प्रेमका हृदयसे सत्कार करता हूँ, परंतु आप सब मेरे परम हितैषी हैं, आत्मीय बन्धु हैं, भक्तिभाजन तथा श्रद्धाके पात्र भी हैं, अतएव साथ ही प्रार्थना भी करता हूँ कि मुझे ऐसी चीज न दीजिये, जिसका मेरे मनमें छिपा प्रलोभन होनेपर भी, जो मेरे लिये हानिकारक हो। यदि मान-बड़ाईमें मेरा मन ललचा जायगा तो फिर मै जहाँ भी जाऊँगा, जिससे भी मिलूँगा, मेरे नेत्र और मेरा मन मान-बड़ाईकी खोजमें लगा रहेगा। भगवत्-सम्बन्धको भूल जायगा और जहाँ मान-बड़ाई अपेक्षाकृत कम मिलेगी या नहीं मिलेगी, वहाँ मन कहेगा कि 'यहाँ प्रेमीलोग नहीं हैं।' यों मुझसे व्यर्थ सज्जनोंपर दोषारोपणका पाप होने लगेगा, आपलोग कृपापूर्वक इस पापसे मुझे बचायें, यह मेरी आप सबसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है।

मृत्युके समय क्या करे ?

मृत्युके समय सबसे बड़ी सेवा है---किसी भी उपायसे मरणासन्न रोगीका मन संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगा देना। इसके लिये---

(१) उसके पास बैठकर घरकी, संसारकी, कारबारकी, किन्हींमें राग या द्वेष हों तो उनकी ममताके पदार्थोंकी तथा अपने दुःखकी चर्चा बिल्कुल ही न करे।

(२) जबतक चेत रहे, भगवान्‌के स्वरूपकी, लीलाकी तथा उनके तत्त्वकी बात सुनाये, श्रीमद्भगवद्गीताका (सातवें, नवें, बारहवें, चौदहवें, पंद्रहवें अध्यायका विशेष रूपसे) अर्थ सुनावे। भागवतके एकादश स्कन्ध, योगवासिष्ठका वैराग्य-प्रकरण, उपनिषदोंके चुने हुए स्थलोंका अर्थ सुनावे। इनमेंसे रोगीकी रुचिका ध्यान रखकर उसीको सुनावे। नामकीर्तनमें रुचि हो तो नामकीर्तन करे या संतों भक्तोंके पद सुनाये। जगत्‌के प्राणि-पदार्थकी, राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली बात, ममता-मोहको जगाने तथा बढ़ानेवाली चर्चा बिल्कुल ही भूलकर भी न करे।

(३) रोगी भगवान्‌के साकार रूपका प्रेमी हो तो उसको अपने इष्ट—भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा-गणेश—किसी भी भगवद्रूपका मनोहर चित्र सतत दिखाता रहे । निराकार-निर्गुणका उपासक हो तो उसे आत्मा या ब्रह्मके सच्चिदानन्द अद्वैत तत्त्वकी चर्चा सुनाये ।

(४) उस स्थानको पवित्र धूप, धूएँ, कर्पूरसे सुगन्धित रक्खे, कर्पूर या घृतके दीपककी शीतल परमोज्ज्वल ज्योति उसे दिखावे ।

(५) समर्थ हो और रुचि हो तो उसके द्वारा उसके इष्ट भगवत्स्वरूपकी मूर्तिका पूजन करवाये ।

(६) कोई भी अपवित्र वस्तु या दवा उसे न दे । चिकित्सकोंकी राय हो तो भी उसे ब्राडी (शराब) नशीली तथा जान्तव पदार्थोंसे बनी एलोपैथिक, होमियोपैथिक दवा बिल्कुल न दे । जिन आयुर्वेदिक दवाइयोंमें अपवित्र तथा जान्तव चीजें पड़ी हों, उनको भी न दे । न खान-पानमें अपवित्र तामसी तथा जान्तव पदार्थ दे । रोगीकी क्षमताके अनुसार गङ्गाजलका अधिक या कम पान करावे । उसमें तुलसीके पत्ते अलग पीसकर छानकर मिला दे । यों तुलसीमिश्रित गङ्गाजल पिलाता रहे ।

(७) गलेमें रुचिके अनुसार तुलसी या रुद्राक्षकी माला पहना दे । मस्तकपर रुचिके अनुसार त्रिपुण्ड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक पवित्र चन्दनसे—गोपीचन्दन आदिसे कर दे । अपवित्र केसरका तिलक न करे ।

(८) रोगीके निकट रामरक्षा या मृत्युञ्जयस्तोत्रका पाठ करे । एकदम——अन्तिम समयमें पवित्र 'नारायण' नामकी विपुल ध्वनि करे ।

(९) रोगीको कष्टका अनुभव न होता दीखे तो गङ्गाजल या शुद्ध जलसे उसे स्नान करा दे । कष्ट होता हो तो न करावे ।

(१०) विशेष कष्ट न होता हो तो जमीनको धोकर उसपर गङ्गाजल (हो तो) के छींटे देकर भगवान्का नाम लिखकर गङ्गा-की रज या व्रजरज डालकर चारपाईसे नीचे सुला दे ।

(११) मृत्युके समय तथा मृत्युके बाद भी 'नारायण' नामकी या अपने इष्ट भगवन्नामकी तुमुल ध्वनि करे। जबतक उसकी रथी चली न जाय, तबतक यथाशक्य कोई घरवाले रोवें नहीं ।

(१२) उसके शवको दक्षिणकी ओर पैर करके सुला दे । तदनन्तर शुद्ध जलसे स्नान करवाकर, नवीन धुला हुआ वस्त्र पहिनाकर अपनी जातिप्रथाके अनुसार शवयात्रामें ले जाय; पर पिण्डदानादिका कार्य जानकर विद्वान्के द्वारा अवश्य कराया जाय । श्मशानमें भी पिण्डदान तथा अग्नि-संस्कारका कार्य शास्त्रविधिके अनुसार किया जाय । रास्तेभर भगवन्नामकी ध्वनि-'रामनाम सत्य है,' 'हरि बोल', 'नारायण-नारायण'की ध्वनि होती रहे । श्मशानमें भी भगवच्चर्चा ही हो ।

सर्वार्थसाधक भगवन्नाम

इस प्रबल कलिकालमें जीवोंके 'कल्याण'के लिये भगवान्का नाम ही एकमात्र अवलम्बन है।

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

पर मनुष्यका जीवन आज इतना व्यस्त हो चला है कि वह कहता है कि 'मुझे अवकाश ही नहीं मिलता। मै भगवान्का नाम कब तथा कैसे लूँ।' यद्यपि यह सत्य नहीं है। मनुष्यके लिये काम—सच्चा काम उतना नहीं है, जितना वह व्यर्थके कार्योंको अपना कर्तव्य मानकर जीवनका अमूल्य समय नष्ट करता है और अपनेको सदा काममें लगा पाता है। वह यदि व्यर्थके कार्योंको छोडकर उतना समय भगवान्के स्मरणमें लगावे तो उसके पास भजनके लिये पर्याप्त समय है। पर ऐसा होना बहुत कठिन हो गया है। ऐसी अवस्थामें यदि जीभके द्वारा नाम-जपका अभ्यास कर लिया जाय तो जितनी देर जीभ बोलनेमें लगी रहती है, उसके सिवा प्राय: सब समय—सारे अङ्गोसे सब काम करते हुए ही नाम-जप हो सकता है। जीभ नाममें लगी रहती है और काम होता रहता है। न काम रुकता है, न घरवाले नाराज होते हैं। वाद-विवाद तथा व्यर्थ बोलना बंद हो जानेसे मनुष्यकी वाणी पवित्र और बलवान् हो जाती है, झूठ-निन्दासे मनुष्य सहज ही बच जाता है, वाणीके अनर्गल उच्चारणसे होनेवाले बहुत-से दोषोंसे वह सहज ही छूट जाता है। नाम-जपसे पापोका निश्चित नाश, अन्त:करणकी

शुद्धि होती है, उसकी तो सीमा ही नहीं है। इसलिये ऐसा नियम कर लेना चाहिये कि सुबह उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेके समयतक जितनी देर आवश्यक कार्यसे बोलना पड़ेगा, उसे छोड़कर शेष सब समय जीभके द्वारा भगवान्का नाम जपता रहूँगा। अभ्याससे जितना ही यह नियम सिद्ध होगा, उतना ही अधिक भगवान्की कृपासे मानव-जीवन परम और चरम सफलताके समीप पहुँचेगा।

भगवान्के नाममें कोई नियम नहीं है। सभी जातिके, सभी वर्गके, सभी नर-नारी, बालक-वृद्ध, सभी समय, सभी अवस्थाओंमें, भगवान्का नाम जीभसे जप सकते हैं, मनसे स्मरण कर सकते हैं। भगवान्का नाम वही, जो जिसको प्रिय लगे—राम, कृष्ण, हरि, गोविन्द, शिव, महादेव, हर, दुर्गा, नारायण, विष्णु, माधव, मधुसूदन आदि कोई भी नाम हो। भगवान्का नाम ले रहा हूँ, इस भावसे जपना चाहिये।

१. जिनको समय कम मिलता हो—बोलना अधिक पड़ता हो,—ऐसे लोग जैसे वकील, अध्यापक, दूकानदार आदि—वे घरसे कचहरी, विद्यालय और दूकानपर जाते-आते समय रास्तेमें भगवान्का नाम लेते चलें और हो सके तो मनमें स्मरण करते चलें।

२. विद्यार्थी स्कूल-कालेज जाते-आते समय भगवान्का नाम लें।

३. किसान हल जोतते, बीज बोते, निनार करते, पौधा लगाते, पानी सींचते, खाद देते, खेती काटते आदि समय भगवान्का नाम जपें।

४. मजदूर हाथोंसे हर प्रकारका काम करते रहें और नाम जपते रहें । घरसे कामके स्थानपर जाते-आते समय नाम-जप करें ।

५. उच्च अधिकारी, मिनिस्टर, सेक्रेटरी, जज, मुन्सिफ, जिलाधीश, परगना-अधिकारी, डिप्टी कलक्टर, पुलिस-अफसर, रेलवे-अफसर तथा कर्मचारी, डाक-तारके कार्यकर्ता, तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी, इंजीनियर, ओवरसियर, जिलाबोर्ड तथा म्युनिस-पल्टीके अधिकारी और कर्मचारी—बैंकोंके अधिकारी और कर्मचारी सभी अपना-अपना काम करते तथा जाते-आते समय भगवान्‌का नाम जीभसे लेते रहें ।

६. व्यापारी, सेठ-साहूकार, उद्योगपति, आढ़तिये और दलाल आदि सभी सब समय जीभसे भगवन्नाम लेते रहें ।

७. गृहस्थ माँ-बहिनें चर्खा कातते समय, चक्की पीसते समय, पानी भरते समय, गौ-सेवा करते समय, बच्चोंका पालन करते समय, रसोई बनाते समय, धान कूटते समय तथा घरके अन्य काम करते समय भगवान्‌का नाम जपती रहें ।

८. पढ़ी-लिखी बहिनें साज-शृङ्गार बहुत करती हैं, फैशन-परस्त होती जा रही हैं, यह बहुत बुरा है; पर वे भी साज-शृङ्गार करते समय भगवान्‌का नाम जपें । अध्यापिकाएँ और शिक्षार्थिनी छात्राएँ स्कूल-कालेज जाते-आते समय भगवान्‌का नाम लें ।

९. सिनेमा देखना बहुत बुरा है—पाप है, पर सिनेमा देखनेवाले रास्तेमें जाते-आते समय तथा सिनेमा देखते समय जीभसे भगवान्‌का नाम जपें ।

१०. इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी नर-नारी सब समय भगवान्‌का नाम लें। सोनार, लोहार, कुम्हार, सुथार (बढ़ई), माली, नाई, जुलाहा, धोबी, कुर्मी, चमार, भंगी सभी भाई-बहिनें अपना-अपना काम करते हुए जीभसे भगवान्‌का नाम लें।

आवश्यकता समझें तो जेबमें छोटी-सी या पूरी १०८ मनियों-की माला रक्खें।

सब लोग अपने-अपने घरमें, गाँवमें, मुहल्लेमें, अड़ोस-पड़ोसमें मिलने-जुलनेवालोंमें इसका प्रचार करें। यह महान् पुण्यका परम पवित्र कार्य है। याद रखना चाहिये—भगवन्नामसे सारे पाप-ताप, दु:ख-संकट, अभाव-अभियोग मिटकर सर्वार्थसिद्धि मिल सकती है, मोक्ष तथा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

मनुष्योंमें वे भाग्यवान् और निश्चय ही कृतार्थ हैं जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्‌के नामका स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।

इस महान् कार्यमें सभी लोग लगें, यह करबद्ध प्रार्थना है।*

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

---

* यों भगवन्नाम-जप करनेवाले तथा इसका प्रचार करनेवाले 'सम्पादक, कल्याण गोरखपुर'के नाम अपना नाम-पता लिख भेजेंगे तो अनुमान हो जायगा कि कहाँ कितना कार्य हो रहा है।

नामकीर्तन-महिमा

'कल्याण'के एक अङ्कमें श्रीअमरनाथजी शर्मा, एडवोकेटका 'नाम-कीर्तन-महिमा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें अखण्ड-नाम-कीर्तनमें बनाये हुए काजलकी महिमा लिखी थी तथा यह भी लिखा था, किसीके मॉगनेपर श्रीशर्माजी कुछ काजल उन लोगोंको भेज देंगे जो श्रद्धा-विश्वासके साथ स्वयं २४ घंटेका अखण्ड-कीर्तन करना स्वीकार करेंगे। इस लेखको पढ़कर काजल माँगनेवालोंके इतने अधिक पत्र उनके पास तथा कल्याण-सम्पादकके पास आये और अबतक आ रहे हैं कि उन सबको काजल भेजना तो दूर रहा, उनका उत्तर लिखना भी कठिन हो गया। स्वयं कीर्तन करनेकी बात तो बहुत थोडे लोगोने स्वीकार की, अधिकांशने तो काजल ही माँगा। शर्माजीके पास काजल कितना संग्रहमें था, जो इतने लोगोंको दिया जाता। अतएव लोगोंको निराश ही होना पड़ा। इससे अब काजल मॅगानेके लिये श्रीअमरनाथजीको, श्रीस्वामीजीको और कल्याण-सम्पादकको कोई भी सज्जन कृपया पत्र न लिखें। जिनको भगवान् और भगवन्नाममें श्रद्धा-विश्वास हो, वे अपने यहाॅ कम-से-कम २४ घटेतक, हो सके तो तीन या सात दिनोंतक—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इन सोलह नामोंके मन्त्रका अखण्ड-कीर्तन करावें। कीर्तनके स्थानपर भगवान्की मूर्ति या चित्रके पास शुद्ध घृतका दीपक

रक्खें। दीपक अखण्ड रहे यानी जबतक कीर्तन होता रहे, तबतक बुझे नहीं और उसी दीपकसे काजल बना लें। काजल बनाना गृहस्थमें प्रायः सभी जानते हैं। दीपकके ऊपर टेढ़ा सकोरा रख दें। अथवा एक हाड़ीमें पाँच-सात छेद करके उस हाड़ीको दीपकपर रख दें। काजल बनता जायगा और दीपक बुझेगा नहीं। घी बीच-बीचमें दीपकमें देते रहें, जरूरत हो तो बत्ती भी बदलते रहें पर खयाल रक्खें, बत्ती बुझने न पावे। दूसरी बत्ती जला देनेपर ही पहलीको निकालें।

अखण्ड-कीर्तनकी विधि यह है कि कम-से-कम दो-दो आदमी लगातार दो घंटेतक कीर्तन करते रहें, (आदमी कम हों और कर सकें तो चारघंटेतक दो आदमी कीर्तन करते रहें) उनका समय पूरा होते ही दूसरे दो सज्जन आ जायँ और वे जब कीर्तन करने लगें, तब पहलेके दोनों चले जायँ। यों कीर्तन जारी रहे। दो घंटे दिनमें और दो घंटे रातमें वही आदमी कीर्तन करें तो २४ आदमियोंसे अखण्ड कीर्तन हो सकता है। घरके, मुहल्लेके लोगोंको मिलकर कीर्तन करना चाहिये। स्त्रियाँ भी कीर्तन कर सकती हैं, परंतु उनके साथ पुरुष नहीं रहना चाहिये—इस प्रकार कीर्तन करके काजल बनाया जा सकता है और श्रद्धा-भक्ति तथा विश्वास होगा तो वह काजल श्रीअमरनाथजीके लेखमें बताये हुए काजलसे कम महत्त्वका नहीं होगा। लोगोंको पत्र न लिखकर कीर्तन करने-करानेका श्रम स्वीकार करके स्वयं काजल बना लेना चाहिये।

महामना मालवीयजी और भगवन्नाममहिमा

(श्रद्धेय पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय महाराजके व्याख्यान-
का सारांश और उनके नाम-सम्बन्धी कुछ संस्मरण)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः
स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥
यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥
नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥

सज्जनो ! यह प्रयाग स्थान परम पवित्र प्राचीन तीर्थ है । पृथ्वीमण्डलमें कोई नगर प्रयागके समान प्राचीन नहीं है । ऋग्वेद तकमें, जो संसार-का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, प्रयागकी महिमा आयी है । इसीलिये इसे तीर्थोंका राजा कहते हैं । भीष्मने युधिष्ठिरको भगवती भागीरथी-

का माहात्म्य बतलाते हुए कहा—'प्रयागमें शरीर छोड़नेकी बड़ी महिमा है।' मैं भी जब-जब प्रयाग आता हूँ तब-तब गङ्गाजीको पार करते हुए उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'माँ! अन्त समयमें मुझे अपनी गोदमें अवश्य स्थान देना।' प्रयागके आसपास जितने स्थान हैं, उनमें किसी समय देवता और ऋषि बसते थे। इसीलिये इनमेंसे एकका नाम है—देवरिखा। माघमें दस हजार तीर्थ प्रयागमें आकर एकत्र होते हैं। आज हमलोगोंकी अपनी संस्कृति और अपने धर्मके साथ-साथ तीर्थोंमें भी श्रद्धा जाती रही। यह अंगरेजी शिक्षाका बुरा प्रभाव है।

पुरुषोंकी अपेक्षा हमारी बहिनोंमें अधिक श्रद्धा पायी जाती है। तीर्थ-स्नानके लिये पुरुषोंकी अपेक्षा वे ही अधिक संख्यामें आती हैं।

भगवन्नामकी महिमा आपलोग बहुत बार सुन चुके हैं और आगे भी सुनेंगे। संसारमें बहुत-से भाई कहते हैं—'नामके उच्चारणसे क्या होता है। भगवान्‌के नामको भूलकर भी एक बार लेनेसे मनुष्य संसारसागरसे तर जाता है, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं। फिर उसे बार-बार रटनेसे क्या लाभ?' बात बिल्कुल ठीक है। संसार-समुद्रसे तारनेके लिये एक ही नाम काफी है। परंतु संतोंने इस मनको पारेसे भी चञ्चल बताया है—'यह मन पारद हूँ तें चंचल'। इसे बाँध रखनेके लिये बार-बार नाम लेनेकी आवश्यकता है। बार-बार नामोच्चारण करनेसे जब यह स्थिर हो जायगा, तब एक ही नाम हमारे लिये पर्याप्त होगा। जबतक यह

स्थिर नहीं हो जाता, तबतक बार-बार नाम लेना आवश्यक है। वेद-शास्त्र—सबने भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है। शुक्ल यजुर्वेदका 'नमस्ते रुद्र मन्यव०' आदि सारा अध्याय नामकी महिमासे भरा है। पुराणोंमें तो स्थान-स्थानपर नामकी महिमाका उल्लेख मिलता है।

मनुस्मृतिपर कुल्लूक भट्टकी टीका है। उसमें तपका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धोऽल्पभोजनम्।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य, जप, होम, समयपर शुद्ध एवं अल्प भोजन करना तथा राग, द्वेष एवं लोभसे रहित होना—इसीको ब्रह्माजीने 'तप' कहा है। इसी तपका साधन करनेसे आपलोग नामकी महिमाको जान गये हैं।

भीष्म जब सब धर्मोंका उपदेश कर चुके तब युधिष्ठिरने उनसे प्रश्न किया—

युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत।
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः॥
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व १४९। १, ३)

'सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म आपको कौन-सा जँचता है? जीव किस मन्त्रका जप करनेसे जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाता है?'

इसके उत्तरमें भीष्म बोले—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥
अनादिनिधनं देवं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व १४९ । ४-८)

मनुष्यको चाहिये कि वह निरन्तर सावधान रहकर संसारके स्वामी, देवाधिदेव, अनन्त पुरुषोत्तम भगवान्‌की सहस्रनामके द्वारा स्तुति करे, उन्हीं अव्यय पुरुषका भक्तिपूर्वक नित्य अर्चन करे, उन्हींका ध्यान, उन्हींका स्तवन, उन्हींको नमस्कार एवं उन्हींकी पूजा करे । उन आदि-अन्तसे रहित, समस्त लोकोंके महेश्वर, जगत्‌के अधिनायक, ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले, सारे धर्मोंको जाननेवाले, सारे लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, महद्भूत तथा समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारण भगवान् नारायणका नित्य स्तवन करनेसे मनुष्य समस्त दुःखोंसे तर जाता है । सारे धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म मुझे यही मान्य है कि मनुष्य भक्तिपूर्वक सदा कमलनयन भगवान्‌का स्तुतियोंद्वारा पूजन करे ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जिनकी स्तुतिका ऊपर विधान

किया गया है वे भगवान् कौन हैं, इसी शङ्काके उत्तरमें भीष्म-पितामह कहते हैं—

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥
(महाभारत, अनुशासन० १४९ । ९-१०)

'वे भगवान् परम महान् तेज हैं, परम महान् तप हैं, परम महान् ब्रह्म हैं, सबसे श्रेष्ठ गति हैं, पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले हैं, मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं, देवताओंके भी देवता हैं और भूतप्राणियोंके अविनाशी पिता हैं ।'

ऊपरके वर्णनसे हम भगवन्नामकी महिमाको कुछ-कुछ समझ सकते हैं । जो भगवान् ऐसे हैं उनका नाम कितना महान् होगा, इसका हम कुछ-कुछ अनुमान लगा सकते हैं । दूसरे धर्मवाले भी भगवान्के नामको जपते हैं । मुसल्मान तथा ईसाई भी नामका आदर करते हैं । मुसल्मानोंके ९९ मन्त्रोंकी माला तो प्रसिद्ध ही है । परंतु नामकी महिमा जैसी सनातनधर्मके ऋषियोंने समझी, वैसी किसीने नहीं समझी । ऊपर विष्णुसहस्रनामका उल्लेख हम कर ही चुके हैं । महाभारतके उसी (अनुशासन) पर्वमें शिव-सहस्रनाम भी है । नामके सम्बन्धमें हमलोगोंकी आदरबुद्धि वैदिक ऋषियों तथा पुराणोंके कालसे चली आती है । मध्ययुग तथा अर्वाचीन कालके संतोंने भी नामकी महिमा बहुत गायी है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी तो नामकी महिमामें बहुत कुछ कह गये हैं। वे कहते हैं—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम वर बरन जुग सावन भादौ मास॥

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिअ जोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

इसका स्मरण सबके लिये सुलभ एवं सबको सुख देनेवाला है। इससे संसारमें लाभ और परलोकका भी निबाह होता है। ऐसा मधुर यह राम-नाम है। गोसाईंजी महाराज फिर कहते हैं—

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसी के॥
नर नारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेष जग त्राता॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहि मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
....

सबरी गीध सुसेवकन्हि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ॥

गोसाईंजी रामसे भी नामको बड़ा मानते हैं। वे कहते हैं—रामने तो एक तपस्वीकी स्त्री अहल्याका ही उद्धार किया, किंतु नामने तो करोड़ों खलोंकी कुमतिको सुधार दिया। श्रीरघुनाथजीने तो शबरी, गीध आदि सुसेवकोंको ही श्रेष्ठ गति दी, किंतु नामने तो इतने खलोंका उद्धार किया जिनकी कोई गिनती ही नहीं है।

फिर कहते हैं—

नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥
....

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥
....

ब्रह्म राम ते नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिअ महेस जियँ जानि॥

इस प्रकार गोसाईंजीने युक्तियोंसे यह सिद्ध कर दिया कि नाम नामीसे भी बड़ा है। गोसाईंजी रामनामकी महिमाको कहते हुए अघाते नहीं। वे फिर कहते हैं—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास॥
राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहि तहँ मोहनिसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

गुरु नानकने भी नामकी महिमामें बहुत कुछ कहा है। वे कहते हैं—

....

नानक राम नाम बिस्तारा कंचन भरा मनूरा।
कह नानक सोई नर सुखिया राम नाम गुन गावे॥
और सकल जग माइया निरभय पद नहि पावे॥

नाम न जपहु अभाग तुम्हारा। जुग दाता प्रभु राम हमारा॥

कबीरजी भी कहते हैं—

तजि अभिमान लेहु मन मोल । रामनाम हिरदे महँ तोल ॥
अब कहु राम भरोसा तोरा । तब काहूका कौन निहोरा ॥
कहै कबीर जो खोजहु जहाना । राम समान न देखहु आना ॥

कोई गावै कोई सुनै हरीनाम चित लाय ।
कह कबीर संसय नहीं अंत परम गति पाय ॥

राम जपहु जिय ऐसे ऐसे । ध्रुव प्रहलाद जपेउ जिअ जैसे ॥
राम राम जपि निरमल भए । जनम जनमके किलिबिष गए ॥

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जिस रामनामकी इतनी महिमा शास्त्रों और संतोंने एक स्वरसे गायी है वह रामनाम किसका वाचक है ? यह रामनाम दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रका ही वाचक है, जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे और जो त्रेतायुगमें इस धराधाममें अवतीर्ण हुए थे । 'राम'का अर्थ शास्त्रोंमें इस प्रकार भी किया गया है—

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ॥

अर्थात् जो परमात्मा निराकाररूपसे स्थावर-जङ्गम सारे भूत-प्राणियोंमें रमण कर रहे हैं, वही राम है ।

नामकी महिमा मैं आपको कहाँतक सुनाऊँ ? अजामिलका आख्यान तो आपने कई बार सुना होगा । वह महान् पापी था । उसने अपने छोटे पुत्रका नाम रख छोड़ा था 'नारायण' । जब वह मरने लगा तब यमदूत आकर उसके सूक्ष्म शरीरको

के जाने लगे। उसने भयभीत होकर अपने छोटे पुत्रको पुकारा। अन्त समय उसके मुखसे पुत्रके बहाने भी 'नारायण' नामका उच्चारण सुन वहाँ भगवान् श्रीविष्णुके दूत उपस्थित हो गये और उसके सूक्ष्म शरीरको यमदूतोंसे छीन लिया। यमदूत दौड़े हुए यमराजके पास पहुँचे और उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इसपर यमराजने कहा कि 'भूलसे भी भगवान्‌का नाम लेनेवाले-को हम नहीं पकड़ सकते।' क्योंकि 'यनस्तद्विषया मतिः।' जिस वस्तुका हम नाम लेते हैं उसीके आकारका हमारा मन हो जाता है। जब हम किसी वधिकका नाम लेते हैं तो हमारे सामने उस वधिक-का चित्र खड़ा हो जाता है। संतोंका नाम लेनेसे संतोंका आदर्श हमारे ध्यानमें आ जाता है। साधुका नाम लेनेसे हमें साधुका ध्यान होता है। हलवाईका नाम लेनेसे हमें तुरंत पूरी-कचौरीका ख्याल हो जाता है। ज्योतिषीका नाम लेनेसे हमें पत्रा खोलकर फलादेश कहते हुए ज्योतिषीका ध्यान हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा-का नाम लेनेसे अन्य सब विषयोंसे हमारा ध्यान हट जायगा और हमारी परमात्मविषयक मति हो जायगी। 'शिव'-'शिव' कहते ही हमारे सामने मङ्गलका रूप खड़ा हो जाता है। शिवका अर्थ है—मङ्गल, आनन्दका बधावा। शिव कहते ही हमारे मनमें आनन्दका बधावा बजने लगता है। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका उच्चारण करते ही शिवजीका मन्दिर ध्यानमें आ जाता है। मैं जब मृत्युञ्जय मन्त्रका जप करने लगता हूँ, उस समय मेरा मन हठात् भगवान् विश्वनाथके दरबारमें पहुँच जाता है, शरीरसे अन्यत्र

रहते हुए भी मैं अपनेको मनसे वहीं पाता हूँ। उस समय मुझे और कोई बात याद नहीं रहती। परमात्माका नाम लेनेसे हमें उस दीनोपकारी, सर्वव्यापक, त्रिकालसत, जगत्की रचना-पालन और संहार करनेवाले महान् तत्त्वका ध्यान हो आता है।

एक अनंत त्रिकाल सच, व्यापक शक्ति दिखाय।
सिरजत पालत हरत जग, महिमा बरनि न जाय॥

संसारभरको नियन्त्रणमें रखनेवाली एक महान् शक्ति है, जो अनन्त है, तीनों कालोंमें सत्य है, सदा सब जगह व्याप रही है। उसीने सबको बनाया है, वही सबका पालन करती है और वही सबका संहार करनेवाली है। उसीके बलसे सारे नक्षत्र घूम रहे हैं, उसीकी शक्तिसे संसारके सारे व्यवहार चलते हैं। वह थी भी, रहेगी भी और है भी। उसकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? भगवान्‌का नाम लेनेसे हमें इस शक्तिका ध्यान आयेगा। फिर वह शक्ति कैसी है? **'पवित्राणां पवित्रम्'** पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाली है। उसके सामने किसी मलिन वस्तुका ध्यान ही नहीं आयेगा, क्योंकि वह पवित्रतम है। उसका नाम लिया नहीं कि मनका पाप भागा। जिस प्रकार लालटेन देखते ही चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार भगवन्नामरूप दिव्य प्रकाशके सामने पापरूपी चोर ठहर नहीं सकते। अपने बापके सामने क्या कोई पाप कर सकता है? अपने पिताकी मौजूदगीका ध्यान आते ही मन पापसे हट जाता है। फिर भगवान् तो जगत्के पिता हैं, पिताओंके भी पिता हैं और वे सब जगह मौजूद हैं। उनका ध्यान होनेपर क्या पाप ठहर सकते हैं?

हमने प्रारम्भमें कहा था कि कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि भगवान्का नाम बार-बार लेनेसे क्या लाभ है ? इसका उत्तर हम पहले दे चुके हैं। फिर भी इस सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। बात यह है कि रात-दिनके २४ घंटोंमें हमारा जो कुछ है, सब उन्हींकी कृपासे है। उनके बिना हमारा कुछ भी नहीं है। गोसाईं तुलसी-दासजीने विनयपत्रिकामें कहा है—

प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन धाम विबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिन मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार॥

तुलसीदासजी कहते हैं—हे प्रभो ! आपने इस दासपर बड़ा अनुग्रह किया जो इसे देवताओंको भी दुर्लभ, यह मनुष्य-देह दिया। हमारे यदि करोड़ मुख हों तो भी हम भगवान्के उपकारों-का वर्णन नहीं कर सकते। फिर भी मनुष्य इतना मूर्ख है कि ऐसे परम दयालु प्रभुको भी वह क्षणमात्र भी नहीं भजता। इस मनको साढे तेईस घंटे मनमानी तौरपर उछल-कूद करने दो, कम-से-कम आधे घंटे तो इसे बाँधकर रक्खो। जिस समय तुम भगवान्के सहस्रनामका पाठ करोगे, कम-से-कम उस समय तो तुम्हें और-और बातोंका ध्यान नहीं आयेगा, भगवान्का ही ध्यान आयेगा। तेज बुखारकी हालतमें जबतक हमारे सिरमें बर्फकी पट्टी बँधी रहेगी, तबतक हमें सुख और शान्ति मिलती रहेगी। ज्यों ही हमने उसपर बर्फ रखना छोड़ा कि फिर दाह शुरू हो जायगा। इसी प्रकार जितने क्षणोंतक हम भगवान्के मङ्गलमय नामकी आवृत्ति करते

रहेंगे, तबतक हमें अपार शान्ति और आनन्द मिलता रहेगा और हमारा मन पाप और दोषोंसे बचा रहेगा। इसलिये कम-से-कम दिनमें दो बार दस-दस, पंद्रह-पंद्रह मिनटतक भी यदि हम नाम-स्मरणका अभ्यास करेंगे तो उससे हमें मनको निगृहीत करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी। मैं जिस समय विष्णुसहस्रनामका पाठ करता हूँ, उस समय मेरी वृत्तियाँ सब ओरसे खिंचकर भगवान्‌में लग जाती हैं। मनुष्य भगवान्‌के स्मरणमात्रसे निर्भय हो जाता है। सप्तशतीमें कहा है—

'दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः।'

'दुर्गे! रक्षा करो।' यह कहते ही मनमें शक्ति आ जाती है, धर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये हम सबको चाहिये कि भगवान्‌के नामका नित्य नियमपूर्वक जप करें।

जप किस प्रकार होना चाहिये, इसका आदर्श आपलोग संसारके सामने रख रहे हैं। ऐसा तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

पय अहार फल खाइ जपु रामनाम षटमास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

आपलोग वही कर रहे हैं। राग-द्वेष लोभको छोड़कर, जीभके चटोरेपनको त्यागकर तपस्या करनेसे और साथ-ही-साथ भगवान्‌के नामका जप करनेसे किस पापीका पाप नहीं छूटेगा और किस पुण्यात्माका पुण्य नहीं बढ़ेगा? अतः यथालाभसंतुष्ट साधकलोग फिर इस यज्ञमें शामिल हों, यही मेरी आकाङ्क्षा है।

नाम-स्मरणकी आवश्यकता

(गीतावाटिका, गोरखपुरके अखण्ड हरिनाम-संकीर्तन-यज्ञमें दिये हुए महामना पं॰ मदनमोहनजी मालवीयके व्याख्यानका सारांश)

आजकल नाम-जपपर बहुत जोर दिया जाता है। आप सब लोग भी भगवन्नामके जप और कीर्तनमें ही लगे हुए हैं। किंतु आप यह तो बतलाइये कि नाम-जप क्यों करना चाहिये? इससे क्या लाभ है? लोग कहते हैं, भगवान्‌का नाम लेनेसे पाप कटते हैं, परंतु इसमें युक्ति क्या है? आपमेंसे कोई भी इसका उत्तर दें। बात यह है कि हम जिस समय किसी वस्तुका नाम लेते हैं तो तत्काल हमें उसकी आकृति और गुण आदिका भी स्मरण हो जाता है। जब हम 'कसाई' शब्दका उच्चारण करते हैं तो हमारे मानसिक नेत्रोंके सामने एक ऐसे व्यक्तिका चित्र अङ्कित हो जाता है जिसकी लाल-लाल आँखें हैं, काला शरीर है, हाथमें छुरा है और बड़ा क्रूर स्वभाव है। 'वेश्या' कहते ही हमारे हृदयपटलपर वेश्याकी मूर्ति अङ्कित हो जाती है। इसी प्रकार जब हम भगवान्‌का नाम लेते हैं तो सहसा हमारे चित्तमें भगवान्‌के दिव्य रूप और गुणोंकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है। भगवन्नाम-स्मरणसे चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकार चित्तमें भला पाप-तापके लिये गुंजाइश कहाँ है। इसीलिये नाम-स्मरण पापनाशकी अमोघ ओषधि है।

बिना जाने भगवान्‌का नाम लेनेसे भी किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषयमें श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धमें आया हुआ अजामिलका अद्भुत प्रसंग प्रख्यात है। मरते समय मुखसे 'नारायण' शब्द निकलते ही वहाँ विष्णुभगवान्‌के पार्षद उपस्थित हो गये। उन्होंने तुरंत ही उसे यमदूतोंके पाशसे छुड़ा लिया। जब यमदूतोंने उसके पापमय जीवनका वर्णन करते हुए उसे यमदण्डका पात्र बतलाया तो भगवान्‌के पार्षदोंने उनके कथनका विरोध करते हुए कहा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(श्रीमद्भागवत ६। २। ७-८, १०)

'इसने तो अपने करोड़ों जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर दिया, क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान्‌का मङ्गलमय नाम उच्चारण किया है। इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरोंका नाम उच्चारण किया है, इतनेसे ही इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया। समस्त पापियोंके लिये भगवान् विष्णुका नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है, क्योंकि ऐसा करनेसे भगवद्विषयक बुद्धि होती है।'

विष्णुदूतोंके इस प्रकार समझानेपर यमराजके सेवक यमलोकको चले गये और वहाँ ये सब बातें धर्मराजको सुनाकर उन्होंने उनसे पूछा कि महाराज! इस लोकमें धर्माधर्मका शासन करनेवाले कितने

अधिकारी हैं और हमें किसकी आज्ञामें रहना चाहिये ? भला, ये दिव्य पुरुष कौन थे और उस महापापीको हमारे पाशसे छुड़ाकर क्यों ले गये, तब यमराजने कहा

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्।
(श्रीमद्भागवत ६। ३। १२)

इत्यादि। अर्थात् मेरे भी ऊपर एक और स्वामी हैं, जो समस्त स्थावर-जंगमका शासक है और जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् ओतप्रोत है। उन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीहरिके 'दूत' जो उन्हींके समान रूप और गुणवाले हैं, लोकमें विचरते रहते हैं और श्रीहरिके भक्तोंको, उनके शत्रु और मृत्यु आदि सब प्रकारकी आपत्तियोंसे बचाते रहते हैं। संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह नाम-जपादिके द्वारा भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करे। देखो, यह भगवन्नामोच्चारण-का ही माहात्म्य है कि अजामिल-जैसा पापी भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो गया।'

महाभारत अनुशासनपर्वके विष्णुसहस्रनाम प्रसङ्गमें पितामह भीष्मने भगवान्‌के सहस्रनामोंके पाठको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाकर यह कहा—

'भगवान् ही सबसे अधिक पूजनीय देव हैं और भगवन्नाम-स्मरण ही सबसे बड़ा धर्म और तप है।'

भगवन्नामकी महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारण-मात्रसे ग्रह, नक्षत्र एवं दिक्शूलादिके दोष निवृत्त हो जाते हैं। मुझको मेरी माताजीने यह आशीर्वादात्मक वरदान दिया था कि 'तू यात्रा

अबतक मैं जब-जब चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण करना भूला हूँ, तब-तब असफल हुआ हूँ। नहीं तो, मेरे जीवनमें—चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण कर लेनेके प्रभावसे कभी असफलता नहीं मिली। आज यह महामन्त्र परम दुर्लभ वस्तु मेरी माताकी दी हुई महान वस्तु तुम्हें दे रहा हूँ। तुम इससे लाभ उठाना।" यों कहकर महामना गद्गद हो गये।

मैंने उनका वरदान सिर चढ़ाकर स्वीकार किया और इससे बड़ा लाभ उठाया। अब तो ऐसा हो गया है कि घरभरमें सभी इसे सीख गये हैं। जब कभी घरसे बाहर निकला जाता है, तभी बच्चे भी 'नारायण-नारायण' उच्चारण करने लगते हैं। इस प्रकार रोज ही किसी दिन तो कई बार 'नारायण' की और साथ ही पूज्य माताजीकी पवित्र स्मृति हो जाती है।

(२) महामनाके एक पुत्र बड़े अर्थ-संकटमें थे। उनको महामनाने यह लिखा "तुम आर्त होकर विश्वाससे गजेन्द्रस्तुतिका पाठ करो, इससे तुम्हारा संकट दूर हो जायगा।' फिर एक पत्रमें उनको लिखा—'भगवान्पर विश्वास रक्खो, धैर्य मत छोड़ो और गजेन्द्र-स्तुतिका आर्तभावसे विश्वासपूर्वक पाठ करो*। मैं एक बार नाकतक ऋणमें डूब गया था, गजेन्द्र-स्तुतिके पाठसे मैं ऋणमुक्त हो गया, तुम भी इसका आश्रय लो।" अपने कष्टमें पड़े पुत्रको बिना पूर्ण विश्वासके कौन पिता ऐसा लिख सकता है।

---

* श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धका तीसरा अध्याय यह स्तुति है। गीताप्रेससे अलग भी प्रकाशित हो चुकी है।

रामनामका फल

दो भाई थे, पर दोनोंके स्वभावमें अन्तर था। बड़ा भाई साधु-सेवी और भगवान्‌के भजनमें रुचि रखनेवाला था। दान-पुण्य भी करता था। सरलहृदय था। इसलिये कभी-कभी नकली साधुओं-से ठगा भी जाता था। छोटा भाई अच्छे स्वभावका था, परंतु व्यापारी मस्तिष्कका था। उसे साधु-सेवा, भजन और दानके नाम पर ठगाया जाना अच्छा नहीं लगता था और वह यही समझता था कि ये सब ठगोंके सिवा और कुछ नहीं है। अतः वह बड़े भाईके कार्योंसे सहमत नहीं था। उग्र-विरोध तो नहीं करता था, पर समय-समयपर अपनी असम्मति प्रकट करता और असहयोग तो करता ही था।

बड़े भाईको इस बातका बड़ा दुःख था कि उसका छोटा भाई मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्य भगवान्‌की प्राप्तिके साधनमें रुचि न रखकर दुनियादारीमें ही पूरा लगा हुआ है। बड़े भाईकी अच्छी नीयत थी और वह अपने छोटे भाईको भगवान्‌की ओर लगा देखना चाहता था। वह समय-समयपर नम्रता और युक्तियोंसे समझाता था। दूसरे अच्छे लोगोंसे भी कहलवाता, उपदेश दिलवाता था, पर छोटे भाईपर कोई प्रभाव नहीं था।

एक बार अपनी शिष्यमण्डलीसहित एक विरक्त महात्मा उनके शहरमें आये। बड़ा भाई साधुसेवी था ही। वह महात्माकी सेवामें उन्हें एक दिन भिक्षा करानेकी इच्छासे निमन्त्रण देने पहुँचा। वहाँ

बात-ही-बातमें उसने अपने छोटे भाईकी स्थिति बतलायी। महात्माने पता नहीं क्या विचारकर उससे कहा कि तुम एक काम करना— जिस दिन तुम्हारा छोटा भाई घरमें रहे, उस दिन हमें भोजनके लिये बुलाना और हमलोगोंको ले जाने और लौटानेके समय एक बाजा साथ रखना। तुम्हारा छोटा भाई जो करे, उसे करने देना, शेष सारी व्यवस्था हम कर लेंगे।

महात्माके आज्ञानुसार व्यवस्था हो गयी। बजते हुए बाजेके साथ महात्मा मण्डलीसहित आ रहे थे। घरमें उस दिन ज्यादा रसोई बनते देखकर और घरके समीप ही बाजेकी आवाज सुनकर छोटे भाईको कुछ संदेह हुआ और उसने बड़े भाईसे पूछा कि 'रसोई किस लिये बन रही है और अपने घरकी ओर बाजेके साथ कौन आ रहा है?' बड़े भाईने कहा—'एक पहुँचे हुए महात्मा अपनी शिष्यमण्डलीसहित यहाँ पधारे हैं और उन्हें अपने यहाँ भोजनके लिये बाजे-गाजेके साथ लाया जा रहा है। महात्मा भी पहुँचनेवाले ही हैं।' छोटे भाईको ये सब बातें बहुत बुरी लगीं। उसने कहा— 'आप ये सब चीजें करते हैं, मुझे तो अच्छी नहीं लगती। आप बड़े हैं, आप जो चाहें सो करें। किंतु मैं यह सब देख नहीं सकता। इसलिये मैं कमरेके अंदर किवाड़ बंदकर बैठ जाता हूँ। आपके महात्मा खा-पीकर चले जायँगे, तब मैं बाहर निकलूँगा। इससे किसी प्रकारका कलह होनेसे घर बच जायगा।' यह कहकर उसने कमरेमें जाकर अंदरसे किवाड़ बंद कर लिये। महात्माजी आये और सारी बातोंको जानकर उन्होंने उस कमरेके बाहरकी साँकल

लगा दी। भोजन सम्पन्न हुआ। तदनन्तर महात्माजीने अपनी सारी मण्डली बाजेके साथ लौटा दिया और स्वयं उस कमरेके दरवाजेके पास खड़े हो गये।

'जब लौटते हुए बाजेकी अंदरसे आवाज सुनी, तब छोटे भाईने समझा कि अब सब लोग चले गये हैं।' उसने अंदरकी साँकल हटाकर किवाड़ खोलने चाहे, पर वे बाहरसे बंद थे। उसने जोर लगाया। फिर बार-बार पुकारकर कहा—'बाहर किसने बंद कर दिया है, जल्दी खोलो।' महात्माने किवाड़ खोले और उसके बाहर निकलते ही बड़े जोरसे उसके हाथकी कलाईको पकड़ लिया। महात्मामें ब्रह्मचर्यका बल था। वह चेष्टा करके भी हाथ छुड़ा न सका। महात्माने हँसते हुए कहा—"भैया! हाथ छुड़वाना है तो मुँहसे 'राम' कहो।" उसने आवेशमें कहा—'मैं यह नाम नहीं लूँगा।' महात्मा बोले—'तो फिर हाथ नहीं छूटेगा।' क्रोध और बलका पूरा प्रयोग करनेपर भी जब वह हाथ नहीं छुड़ा सका, तब उसने कहा—"अच्छा, 'राम'। छोड़ो हाथ जल्दी और भागो यहाँसे।" महात्मा मुसकराते हुए यह कहकर बाहर निकल गये कि—'तुमने 'राम' कहा सो तो बड़ा अच्छा किया, पर मेरी बात याद रखना। इस 'राम'-नामको किसी भी कीमतपर कभी बेचना नहीं।'

यह घटना तो हो गयी, पर कोई विशेष अन्तर नहीं आया। समयपर बड़े भाईकी मृत्यु हो गयी और उसके कुछ दिन बाद छोटे भाईकी भी मृत्यु हो गयी। विषयवासना और विषयकामनावाले लोग

विवेकभ्रष्ट हो जाते हैं और जाने-अनजाने छोटे-बड़े पाप करते रहते हैं। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है, मरनेके अनन्तर छोटे भाईकी आत्माको यमलोकमें ले जाया गया और वहाँ कर्मका हिसाब-किताब देखकर बताया गया कि 'विषय-वासनावश इस जीवने मनुष्य-योनिमें केवल साधु-अवज्ञा और भजनका विरोध ही नहीं किया, और भी बड़े-बड़े पाप किये हैं पर इसके द्वारा एक बड़ा भारी महान् कार्य हुआ है, इसके जीभसे एक महात्माके सम्मुख एक बार जबरदस्ती रामनामका उच्चारण हुआ है।'

यमराजने यह सुनकर मन-ही-मन उस एक बार रामनामका उच्चारण करनेवालेके प्रति श्रद्धा प्रकट की और कहा—'इस राम-नामके बदलेमें जो कुछ चाहो सो ले लो। उसके बाद तुम्हें पापोंका फल भोगना पड़ेगा।' उसको महात्माकी बात याद आ गयी। उसने यमराजसे कहा—'मैं राम-नामक बेचना नहीं चाहता, पर इसका जो कुछ भी मूल्य होता हो, वह आप मुझको दे दें।' रामनामका मूल्य आँकनेमें यमराज असमर्थ थे। अतएव उन्होंने कहा—देवराज इन्द्रके पास चलकर उनसे पूछना है कि रामनामका मूल्य क्या होता है। उस जीवने कहा—'मैं यों नहीं जाता। मेरे लिये एक पालकी मँगायी जाय और उसमें कहारोंके साथ आप भी लगें।' उसने यह सोचा कि 'रामनामका मूल्य जब ये नहीं बता सकते, तब अवश्य ही वह बहुत बड़ी चीज है और इसकी परीक्षा इसीसे हो जायगी कि ये पालकी ढोनेवाले कहार बनते हैं या नहीं।' उसकी बात सुनकर यमराज सकुचाये तो सही पर सारे पापोंका तुरंत नाश कर देनेवाले और मन-बुद्धिसे अतीत फलदाता भगवन्नामके लेनेवालेकी

पालकी उठाना अपने लिये सौभाग्य समझकर वे पालकीमें लग गये।

पालकी स्वर्ग पहुँची। देवराज इन्द्रने स्वागत किया और यमराजसे सारी बात जानकर कहा—'मै भी रामनामका मूल्य नहीं जानता। ब्रह्माजीके पास चलना चाहिये।' उस जीवने निवेदन किया—'यमराजके साथ आप भी पालकीमें लगें तो मै चलूँ।' इन्द्रने उसकी बात मान ली और यमराजके साथ पालकीमें वे भी जुत गये। ब्रह्मलोक पहुँचे और ब्रह्माने भी रामनामका मूल्य आँकनेमें अपनेको असमर्थ पाया और उसी जीवके कहनेसे वे भी पालकीमें जुत गये। उनकी राय भगवान् शङ्करके पास जानेकी रही। इसलिये वे पालकी लेकर कैलास पहुँचे। भगवान् शङ्करने ब्रह्मा, इन्द्र और यमराजको पालकी उठाये आते देखकर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। पूछनेपर सारी बातें उन्हें बतायी गयीं। शङ्करजी बोले—'भाई! मै तो रात-दिन राम-नाम जपता हूँ, उसका मूल्य आँकनेकी मेरे मनमें कभी कल्पना ही नहीं आती। चलो वैकुण्ठ, ऐसे महाभाग्यवान् जीवकी पालकीमें मै भी लगता हूँ। वैकुण्ठमें भगवान् नारायण ही कुछ बता सकेंगे।' अब पालकीमें एक ओर यमराज और देवराज लगे हैं और दूसरी ओर ब्रह्मा और शङ्कर कहार बने लगे है। पालकी वैकुण्ठ पहुँची। चारो महान् देवताओंको पालकी उठाये आते देखकर भगवान् विष्णु हँस पडे और पालकी वहाँ दिव्य भूमिपर रख दी गयी। भगवान्ने आदरपूर्वक सबोंको बैठाया। भगवान् विष्णुने कहा—'आपलोग पालकीमें बैठे हुए इस महाभाग

जीवात्माको उठाकर मेरी गोदमें बैठा दीजिये ।' देवताओंने वैसा ही किया । तदनन्तर भगवान् विष्णुके पूछनेपर भगवान् शङ्करने कहा---'इसने एक बार परिस्थितिसे बाध्य होकर 'राम' नाम लिया था । राम-नामका मूल्य इसने जानना चाहा, पर हमलोगोंमेंसे कोई भी राम-नामका मूल्य बतानेमें अपनेको समर्थ नहीं पाया । इसलिये हमलोग इस जीवके इच्छानुसार पालकीमें लगकर आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं । अब आप ही बताइये कि राम-नामका मूल्य क्या होना चाहिये ।' भगवान् विष्णुने मुस्कराते हुए कहा—'आप-सरीखे महान् देव इसकी पालकी ढोकर यहाँतक लाये और आपलोगोंने इसे मेरे गोदमें बैठाया । अब यह मेरी गोदका नित्य अधिकारी हो गया । राम-नामका पूरा मूल्य तो नहीं बताया जा सकता, पर आप इसीसे मूल्यका कुछ अनुमान लगा सकते हैं । आपलोग अब लौट जाइये ।' भगवान् विष्णुके द्वारा लिये हुए एक बार रामनाम-का इस प्रकार महान् मूल्याभास पाकर शङ्करादि देवता लौट गये ।

'एक विरक्त संतने यह कथा लगभग ४५ वर्ष पूर्व कलकत्तेमें मुझको सुनायी थी । घटनाका उल्लेख किस ग्रन्थमें है, मुझको पता नहीं है, पर भगवन्नामकी महिमाका इसमें जो वर्णन आया है, वह वास्तवमें यथार्थ लगता है । घटना चाहे कल्पित हो, पर महिमा तो सत्य है ही ।'

'राम न सकहिं नाम गुन गाई ।'

विविध कार्योंके लिये विभिन्न भगवन्नामोंका जप-स्मरण

कामना-सिद्धिके लिये—

कामः कामप्रदः कान्तः कामपालस्तथा हरिः।
आनन्दो माधवश्चैव कामसंसिद्धये जपेत्॥

अभीष्ट कामनाकी सिद्धिके लिये 'काम', 'कामप्रद', 'कान्त', 'कामपाल', 'हरि', 'आनन्द' और 'माधव'—इन नामोंका जप करे।

शत्रु-विजयके लिये—

रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च।
विक्रमश्चैवमादीनि जप्यान्यरिजिगीषुभिः॥

शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छावाले लोगोंको 'राम', 'परशुराम', 'नृसिंह', 'विष्णु' तथा 'विक्रम' इत्यादि भगवन्नामोंका जप करना चाहिये।

विद्या-प्राप्तिके लिये—

विद्याभ्यस्यता नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः।

विद्याभ्यास करनेवाले छात्रको प्रतिदिन 'पुरुषोत्तम' नामका जप करना चाहिये।

बन्धन-मुक्तिके लिये—

दामोदरं बन्धगतो नित्यमेव जपेन्नरः।

बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य नित्य ही 'दामोदर' नामका जप करे।

नेत्र-बाधा-नाशके लिये—

केशवं पुण्डरीकाक्षमनिशं हि तथा जपेत् ।
नेत्रबाधासु सर्वासु…………………… ॥

सम्पूर्ण नेत्र-बाधाओंमें नित्य-निरन्तर 'केशव' एवं 'पुण्डरीकाक्ष' नामोंका जप करे ।

भयनाशके लिये—

हृषीकेशं भयेषु च ।

भयके अवसरोंपर उसके निवारणके लिये 'हृषीकेश' का स्मरण करे ।

औषध-सेवनके लिये—

अच्युतं चामृतं चैव जपेदौषधकर्मणि ।

औषध-सेवनके कार्योंमें 'अच्युत' और 'अमृत' नामोंका जप करे ।

युद्धस्थलमें जाते समय—

संग्रामाभिमुखे गच्छन् संस्मरेदपराजितम् ।

युद्धकी ओर जाते समय 'अपराजित'का स्मरण करे ।

पूर्व आदि दिशाओंमें जाते समय—

चक्रिणं गदिनं चैव शार्ङ्गिणं खड्गिनं तथा ।
क्षेमार्थी प्रवसन् नित्यं दिक्षु प्राच्यादिषु स्मरेत् ॥

पूर्व आदि दिशाओंमें प्रवास करते (परदेश जाते या रहते) समय कल्याण चाहनेवाला पुरुष प्रतिदिन 'चक्री' (चक्रपाणि), 'गदी' (गदाधर) 'शार्ङ्गी' (शार्ङ्गधर) तथा 'खड्गी' (खड्गधर) इन नामोंका स्मरण करे ।

सारे व्यवहारोंमें—

अजितं चाधिपं चैव सर्वं सर्वेश्वरं तथा।
संस्मरेत् पुरुषो भक्त्या व्यवहारेषु सर्वदा॥

समस्त व्यवहारोंमें सदा मनुष्य भक्तिभावसे 'अजित', 'अधिप', 'सर्व' तथा 'सर्वेश्वर'—इन नामोंका स्मरण करे।

क्षुत-प्रस्खलनादि, ग्रहपीडादि और दैवी विपत्ति-निवारणके लिये—

नारायणं सर्वकालं क्षुतप्रस्खलनादिषु।
ग्रहनक्षत्रपीडासु देवबाधासु सर्वतः॥

छींक लेने, प्रस्खलन (लड़खडाने) आदिके समय, ग्रह-पीड़ा, नक्षत्र-पीड़ा तथा दैवी-बाधाओंमें सर्वतोभावसे हर समय 'नारायण' का स्मरण करे।

डाकू तथा शत्रुओंकी पीड़ाके समय—

अन्धकारे समस्तीव्रे नरसिंहमनुस्मरेत्॥

अत्यन्त घोर अन्धकारमें डाकू तथा शत्रुओंकी ओरसे बाधाकी सम्भावना होनेपर मनुष्य बारंबार 'नरसिंह' नामका स्मरण करे।

अग्निदाहके समय—

अग्निदाहे समुत्पन्ने संस्मरेज्जलशायिनम्।

घर या गाँवमें आग लग जानेपर 'जलशायी'का स्मरण करे।

सर्पविषसे रक्षाके लिये—

गरुडध्वजानुस्मरणाद् विषवीर्यं व्यपोहति।

'गरुडध्वज' नामके बारंबार स्मरणसे मनुष्य सर्पविषके प्रभावको दूर कर देता है।

स्नान, देवार्चन, हवन, प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करते समय—

कीर्तयेद् भगवन्नाम वासुदेवेति तत्परः ॥

स्नान, देव-पूजा, होम, प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करते समय मनुष्य भगवत्परायण हो 'वासुदेव'—इस भगवन्नामका कीर्तन करे ।

वित्त-धान्यादिके स्थापनके समय—

कुर्वीत तन्मनो भूत्वा अनन्ताच्युतकीर्तनम् ।

धन-धान्यादिकी स्थापनाके समय मनुष्य भगवान्में मन लगाकर 'अनन्त' और 'अच्युत' इन नामोंका कीर्तन करे ।

संतानके लिये—

जगत्पतिमपत्यार्थे स्तुवन् भक्त्या न सीदति ।

संतानकी प्राप्तिके लिये भक्तिपूर्वक 'जगत्पति' (जगदीश या जगन्नाथ) की स्तुति करनेवाला पुरुष कभी दुःखी नहीं होता ।

सर्व प्रकारके अभ्युदयके लिये—

श्रीशं सर्वाभ्युदयिके कर्मण्याशु प्रकीर्तयेत् ॥

सम्पूर्ण अभ्युदय-सम्बन्धी कर्मोंमें शीघ्रतापूर्वक 'श्रीश' (श्रीपति) का उच्चस्वरसे कीर्तन करे ।

अरिष्ट-निवारणके लिये—

अरिष्टेषु ह्यशेषेषु विशोकं च सदा जपेत् ।

सम्पूर्ण अरिष्टोंके निवारणके लिये सदा 'विशोक' नामका जप करे ।

निर्जन स्थानमें तथा आँधी-तूफान आदि उपद्रवोंमें मृत्युके समय—

मरुत्प्रपाताग्निजलबन्धनादिषु मृत्युषु ।
स्वतन्त्रपरतन्त्रेषु वासुदेवं जपेद् बुधः ॥

स्वेच्छा या परेच्छावश अथवा स्वाधीन या पराधीन अवस्थामें किसी निर्जन स्थानमें पहुँचनेपर आँधी-तूफान (ओला-वर्षा), अग्नि (दावानल), जल (अगाध जलराशिमें निमज्जन) तथा बन्धन आदिके कारण मृत्यु या प्राण-संकटकी अवस्था प्राप्त हो तो बुद्धिमान् मनुष्य 'वासुदेव' नामका जप करे । ऐसा करनेसे बाधाएँ दूर हो जाती हैं ।

कलियुगके दोष-नाशके लिये—

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यन्न क्षपयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनात् ॥

कलियुगमें इस जगत्के भीतर ऐसा कोई कर्मज (शारीरिक), वाचिक और मानसिक पाप नहीं है, जिसे मनुष्य 'गोविन्द' नामका कीर्तन करके नष्ट न कर दे ।

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः ।
शान्त्यै कलेरघौघस्य नामसंकीर्तनं हरेः ॥

जैसे आग बुझा देनेके लिये जल और अन्धकारको नष्ट कर देनेके लिये सूर्योदय समर्थ है, उसी प्रकार कलियुगकी पापराशिका शमन करनेके लिये 'श्रीहरि'का नाम-कीर्तन समर्थ है ।

पराकचान्द्रायणतप्तकृच्छ्रैर्न देहशुद्धिर्भवतीति तादृक् ।
कलौ सकृन्माधवकीर्तनेन गोविन्दनाम्ना भवतीह यादृक् ॥

कलियुगमें एक बार 'माधव' या 'गोविन्द' नामके कीर्तनसे यहाँ जीवकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी इस जगत्में पराक, चान्द्रायण तथा तप्तकृच्छ्र आदि बहुत-से प्रायश्चित्तोंद्वारा भी नहीं होती।

सकृदुच्चारयन्त्येतद् दुर्लभं चाकृतात्मनाम्।
कलौ युगे हरेर्नाम ते कृतार्था न संशयः॥

जो कलियुगमें अपुण्यात्माओंके लिये दुर्लभ इस 'हरि'-नाम-का एक बार उच्चारण कर लेते हैं, वे कृतार्थ हो गये हैं, इसमें संशय नहीं।

विष्णुधर्मोत्तरमें मार्कण्डेय-वज्र-संवादमें कहा गया है—

जल-प्रतरणके समय—

कूर्मं वराहं मत्स्यं वा जलप्रतरणे स्मरेत्।

जलसे पार होते समय भगवान् 'कूर्म' (कच्छप), 'वराह' अथवा 'मत्स्य' का स्मरण करे।

अग्निदाहके समय—

भ्राजिष्णुमग्निजनने जपेन्नाम त्वखण्डितम्।

कहीं आग लग गयी हो उसकी शान्तिके लिये 'भ्राजिष्णु' इस नामका अखण्ड जप आरम्भ कर दे।

आपत्ति-विपत्ति, ज्वर, शिरोरोग तथा विषवीर्यमें—

गरुडध्वजानुस्मरणादापदो मुच्यते नरः।
ज्वरजुष्टशिरोरोगविषवीर्यं च शाम्यति॥

'गरुडध्वज'का नाम बारंबार स्मरण करके मनुष्य आपत्तिसे छूट जाता है, साथ ही वह ज्वररोग, सिरदर्द तथा विषके प्रभावको भी शान्त कर देता है।

युद्धके समय—

बलभद्रं तु युद्धार्थी।

युद्धार्थी मनुष्य 'बलभद्र'का स्मरण करे।

कृषि, व्यापार और अभ्युदयके लिये—

कृष्यारम्भे हलायुधम्।………
उत्तारणं वणिज्यार्थी राममभ्युदये नृप।

नरेश्वर! खेतीके आरम्भमें किसान 'हलायुध'का स्मरण करे। व्यापारकी इच्छावाला वैश्य 'उत्तारण'को याद करे और अभ्युदयके लिये 'राम'का स्मरण करे।

मङ्गलके लिये—

मङ्गल्यं मङ्गले विष्णुं मङ्गल्येषु च कीर्तयेत्।

माङ्गलिक कर्मोंमें मङ्गलकारी एवं मङ्गलमय 'श्रीविष्णु'का कीर्तन करे।

सोकर उठते समय—

उत्तिष्ठन् कीर्तयेद् विष्णुम्।……

सोकर उठते समय 'विष्णु'का कीर्तन करे।

निद्राकालमें—

……प्रस्वपन् माधवं नरः।……

सोते समय मानव 'माधव' का स्मरण करे।

भोजनके समय—

भोजने चैव गोविन्दं सर्वत्र मधुसूदनम्॥

भोजनकालमें 'गोविन्द'का और सर्वत्र सदा मधुसूदनका चिन्तन करें। विविध सोलह कार्योंमें विविध सोलह नाम—

औषधे चिन्तयेद् विष्णुं भोजने च जनार्दनम्।
शयने पद्मनाभं च विवाहे च प्रजापतिम्॥
युद्धे चक्रधरं देवं प्रवासे च त्रिविक्रमम्।
नारायणं तनुत्यागे श्रीधरं प्रियसङ्गमे॥
दुःस्वप्ने स्मर गोविन्दं संकटे मधुसूदनम्।
कानने नारसिंहं च पावके जलशायिनम्॥
जलमध्ये वराहं च पर्वते रघुनन्दनम्।
गमने वामनं चैव सर्वकार्येषु माधवम्॥
षोडशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते॥

औषध-सेवनके समय 'विष्णु'की, भोजनमें 'जनार्दन'का, शयनमें 'पद्मनाभ'का, विवाहमें 'प्रजापति'का, युद्धमें 'चक्रधर'का, प्रवासमें 'त्रिविक्रम'का, शरीरत्यागके समय 'नारायण'का, प्रिय-मिलनमें 'श्रीधर'का, दु:स्वप्न-दोषनाशके लिये 'गोविन्द'का, संकटमें 'मधुसूदन'का, जंगलमें 'नृसिंह'का, अग्नि लगनेपर 'जलशायी' भगवान्का, जलमें 'वराह'का, पर्वतपर 'रघुनन्दन'का, गमनमें 'वामन'का और सभी कार्योंमें 'माधव'का स्मरण करना चाहिये। जो प्रातःकाल उठकर इन नामोंका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोक (वैकुण्ठ) में पूजित होता है।

भारतीय चार आश्रमोंके धर्म और पालनीय नियम

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। इनके पालनीय नियमोंका उपनिषद्, स्मृति, महाभारत आदिके अनुसार नीचे संक्षेपमें विवरण दिया जाता है।

ब्रह्मचर्य

यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रक्खे, मुनिव्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें लगा रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे। नित्य संध्या-वन्दन करे। नित्य स्नान करके देवता-ऋषियोंका तर्पण, देवताओंकी पूजा तथा अग्न्याधान करे। मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकारके आसव तथा प्राणियोंकी हिंसा सर्वथा त्याग दे। शरीरमें उबटन (साबुन-तेल) आदि न लगाये, आँखोंमें सुरमा न डाले, जूता तथा छाताका व्यवहार न करे। काम-क्रोध और लोभ न करे। नाच, गान तथा वाद्यसे दूर रहे। जूआ, कलह, निन्दा, झूठ आदिसे बचे, स्त्रियोंकी ओर सकाम दृष्टिसे न देखे, कभी उनका आलिंगन न करे, किसीकी निन्दा न करे। सदा अकेला सोये। कभी वीर्यपात न करे। अनिच्छासे स्वप्नमें कहीं वीर्यपात हो जाय तो स्नानकर सूर्यका पूजन करके तीन वार **'पुनर्माम्'** इस ऋचाका पाठ करे। भोजनके समय

अन्नकी निन्दा न करे। भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे, गुरुकी आज्ञा लेकर एक बार भोजन करे। एक स्थानपर रहे, एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे। पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे। सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे। रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे।

गार्हस्थ्य

गृहस्थ-आश्रम ही चारों आश्रमोंका आश्रयभूत तथा मूल है। इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारंगत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है। गृहस्थ-पुरुषके लिये केवल अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना परमावश्यक है। इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये। गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे। वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे। अपने वर्ण-धर्मके अनुसार निर्दोष अर्थका उपार्जन करके गृहस्थका पालन करे तथा अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे। मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे। यही सत्पुरुषोंका बर्ताव (शिष्टाचार)

है। स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति लोक-सेवा करता रहे। शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रक्खे। सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। स्वयं सादगीसे रहकर सबका सदा हित-साधन करे। जन्मसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त यथायोग्य यथाविधि सब संस्कार करे। शास्त्रका अनुसरण करे। माता-पिता-कुटुम्ब आदिका आदरपूर्वक भरण-पोषण करे।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ मुनि सब प्रकारके संस्कारोंद्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकल-कर जन-कोलाहलरहित शान्त स्थानमें निवास करे। प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे। सदा वनमें ही रहे। गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे। अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खिलाकर सत्कार करे। बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे। अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपयुक्त वस्तुओंका आहार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे। नित्यप्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे। उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। हल्का भोजन करे। मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रक्खे, देवताओंका सहारा ले। इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र

और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे। शरीरको सदा पवित्र रक्खे। धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे। सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे। इस प्रकार उत्तम धर्मका पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थ स्वर्गपर विजय पाता है।

संन्यास

श्रेष्ठ संन्यासी नाम, गोत्र आदि तथा देश, काल, शास्त्र-ज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत और शीलका विज्ञापन न करे। किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी भी स्त्रीका स्मरणतक न करे, उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा और चित्रावलोकन—स्त्री-सम्बन्धी इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होता है। और उस विकारसे उसका धर्म निश्चय ही नष्ट हो जाता है। तृष्णा, क्रोध, असत्य, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यानमें योग देना, कामना, राग, संग्रह, अहङ्कार, ममता, चिकित्साका व्यवसाय, धर्मके लिये साहसका कार्य, प्रायश्चित्त, दूसरेके घरपर रहना, मन्त्र-प्रयोग, औषध-वितरण, विषदान, आशीर्वाद देना—ये सब संन्यासीके लिये निषिद्ध हैं।

संन्यासी स्वप्नमें भी कभी किसीका दिया हुआ दान न ले, दूसरेको भी न दिलाये और न स्वयं किसीको देने-लेनेके लिये ही प्रेरित करे। स्त्री, भाई, पुत्र आदि तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंके शुभ या अशुभ समाचारको सुनकर या देखकर भी संन्यासी कभी कम्पित

(विचलित) न हो, वह शोक और मोहको सर्वथा त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसी वस्तुका) संग्रह न करना, उद्दण्डताका अभाव, किसीके सामने दीन न बनना, स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेह न करना, गुरुकी सेवा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सबके प्रति उदासीनताका भाव, धीरता, स्वभावकी मधुरता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता, स्वल्प आहार तथा धारणा—यह मनको वशमें रखनेवाले संन्यासियोंका विख्यात सुधर्म है। द्वन्द्वोंसे रहित, सत्त्वगुणमें सर्वदा स्थित और सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला तुरीयाश्रममें स्थित परमहंस सन्यासी साक्षात् नारायणका स्वरूप है।

संन्यासी गाँवमें एक रात रहे और बड़े नगरमें पाँच रात; किंतु यह नियम वर्षाके अतिरिक्त समयके लिये ही है, वर्षामें चार महीने-तक वह किसी एक ही स्थानपर निवास करे। भिक्षु गाँवमें दो रात कभी न रहे। यदि रहता है तो उसके अन्तःकरणमें राग आदिका प्रसग आ सकता है। इससे वह नरकगामी होता है। गाँवके एक किनारे किसी निर्जन प्रदेशमें मन और इन्द्रियोंको संयम-में रखते हुए निवास करे। कहीं अपने लिये मठ या आश्रम न बनाये। जैसे कीड़े हमेशा घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आठ महीने-तक संन्यासी इस पृथ्वीपर विचरता रहे। केवल वर्षाके चार महीनोंमें वह किसी एक स्थानपर, जो पवित्र जलसे घिरा हुआ और एकान्त-सा हो, निवास करे। सन्यासी सम्पूर्ण भूतोंको अपने ही समान

देखता हुआ अन्धे, जड, बहरे, गूँगे और पागलकी तरह चेष्टा रखता हुआ पृथ्वीपर विचरण करे ।

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोष-दृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे । इन्द्रियोंको वशमें रक्खे । पाप, शठता और कुटिलतासे सदा रहित होकर वर्ताव करे । खानेके लिये अन्न और शरीर ढँकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे ।

बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि न तो दूसरोंके लिये भिक्षा माँगे तथा सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा ही करे । दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे । काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उन सबका परित्याग करके संन्यासी सब ओरसे ममताको हटा ले । अपने मनमें राग और द्वेषको स्थान न दे । मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझे । प्राणियोंकी हिंसासे सर्वथा दूर रहे तथा सब ओरसे निःस्पृह होकर मुनिवृत्तिसे रहे । सबके साथ अमृतके समान मधुर वर्ताव करे—पर कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे । जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे कराये । सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका त्याग करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे । स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रक्खे । किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो ।

संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे।

नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने और दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुरा काम न करे। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले।

मान-अपमानमें समान भावसे रहे। छहों ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। निन्दा, दम्भ, ईर्ष्या, असूया, दोष-दृष्टि, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि छोड़कर अपने शरीरको मुर्देके समान मानकर, आत्मासे अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुको बाहर-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाये, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसीकी निन्दा या स्तुति करे। अकेला ही स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता रहे। दैवेच्छासे भोजन आदिके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीपर संतुष्ट रहे। न किसीका आवाहन करे, न विसर्जन। न मन्त्रका प्रयोग करे, न मन्त्रका त्याग करे। कोई उसका अपना घर या आश्रम न हो। जनशून्य भवन, वृक्षकी जड़, देवालय, घास-फूसकी कुटिया, अग्निहोत्रशाला, नदीतट, पुलिन (कछार), भूगृह (गुफा) पर्वतीय गुफा, झरनेके समीप, निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

दुःखमें भगवत्कृपा

जब मनुष्य केवल संसारके अनुकूल भोगपदार्थोंकी प्राप्तिमें भगवत्कृपा मानता है, तब वह बड़ी भारी भूल करता है। भगवान्‌की कृपा तो निरन्तर है, सबपर है और सभी अवस्थाओंमें है; किंतु जो ये अनुकूल भोगपदार्थ हैं, जिनमें अनुकूल बुद्धि रहती है, ये सब तो मनुष्यको मायाके, मोहके बन्धनमें बाँधनेवाले होते हैं। मायाके मोहमें बाँधकर जो भगवान्‌से अलग कर देनेवाली चीज है, उसकी प्राप्तिमें भगवत्कृपा मानना ही गलती है। पर होता यह है कि जब मनुष्य भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌के नामका जप करता है, रामायण और गीतादिका पाठ करता है और संसारके भोगोंकी प्राप्तिमें जरा-सी सफलता प्राप्त होती है, तब वह ऐसा मान लेता है कि मेरी यह कामना पूरी हो गयी, मुझे यह लाभ हो गया है। ऐसे पत्र मेरे पास बहुत आते हैं और मैं उन्हें प्रोत्साहित भी करता हूँ, परंतु यह चीज बड़ी गलत है। जहाँ मनुष्य अनुकूल भोगोंमें भगवान्‌की कृपा मानता है, वहाँ प्रतिकूलता होनेपर वह उलटा ही सोचेगा। वह कहेगा—'भगवान् बड़े निर्दयी हैं, भगवान्‌की मुझपर कृपा नहीं है।' अधिक क्षोभ होगा तो वह कह बैठेगा कि

'भगवान् न्याय नहीं करते ।' इससे भी अधिक और क्षोभ होगा तो वह यहाँतक कह देगा कि 'भगवान् हैं ही नहीं, यह सब कोरी कल्पना है । भगवान् होते तो इतना भजन करनेपर भी ऐसा क्यों होता ।' यों कहकर वह भगवान्‌को अस्वीकार कर देता है । इसलिये अमुक स्थितिकी प्राप्तिमें भगवत्कृपा है, यह मानना ही भूल है । पहले-पहले जब मनुष्यको सफलता मिलती है, तब तो उसमें वह भगवान्‌की कृपा मानता है, पर आगे चलकर वह कृपा रुक जाती है, छिप जाती है, वह कृपाको भूल जाता है । फिर तो वह अपनी कृतिको एवं अपने ही अहंकारको प्रधानता देता है । अमुक कार्य मैंने किया, अमुक सफलता मैंने प्राप्त की । इस प्रकार वह अपनी बुद्धिका, अपने बलका, अपनी चतुराईका, अपने कला-कौशलका घमंड करता है, अभिमान करता है । भगवान्‌को भूलकर वह अपने अहंकारकी पूजा करने लगता है । सफलता मैंने प्राप्त की है, इसलिये मेरी पूजा होनी चाहिये जगत्‌में । 'मैंने धनोपार्जन किया, मैंने विजय प्राप्त किया, मैंने अमुक सेवा की, मैंने राष्ट्रका निर्माण किया, मैंने राज्य, देश तथा धर्मकी रक्षा की'—इस प्रकार सर्वत्र प्रत्येक कर्ममें अपना 'अहं' लगाकर वह अहंका पूजक तथा प्रचारक बन जाता है और जब इस 'अहं'की, 'मैं'की पूजा नहीं होती, उसमें किसी प्रकारका किंचित् भी व्यवधान उपस्थित होता है, तब वह बौखला उठता है, दल बनाता है और परस्पर दलबंदी होती है । राग-द्वेष एवं शत्रुताका वायुमण्डल बनता है, बढ़ता है । मनुष्य जब ऐसे किसी प्रवाहमें बहने लगता है, तब भगवान् दया

करके ब्रेक लगाते हैं। उसे उस पतनके प्रवाहसे लौटानेके लिये भगवान् कृपा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

बलिकी शक्ति बढ़ी। बलि विश्वविजयी हो गये। देवताओंकी शक्ति क्षीण हो गयी। देवता भयभीत होकर छिप गये। बलिका प्रतापसूर्य सम्पूर्ण विश्वपर छा गया। बलि भगवान्‌के भक्त थे। वे भगवान्‌की कृपा मानते थे। पर बलिके मनमें भी अपने इस विषयका अहंकार तो आया ही। उसमें निमित्त चाहे जो कुछ बना हो, पर भगवान्‌ने बलिपर कृपा की। बलिका सारा राज्य हरण कर लिया, बलिका सारा ऐश्वर्य अपहरण कर लिया। उक्त प्रसंगमें यह प्रश्न हो सकता है कि बलिके साथ भगवान्‌ने ऐसा क्यों किया? स्पष्ट उत्तर है कि भगवान्‌ने बलिपर कृपा करनेके लिये ऐसा किया। भगवान्‌ने उनपर यह कृपा किसलिये की? दयामय भगवान्‌ने उनपर अपनी कृपा-वृष्टि इसलिये की कि बलिको जो अपने राज्यका, विजयका अहंकार हो गया था। उनका मोह इस प्रकार बढ़ता रहता तो पता नहीं बलि क्या कर बैठते भगवान्‌को भूलकर। बलि कुछ कर न बैठें, बलिका ऐश्वर्य-विजय-मद न रहे, बलि भगवान्‌की ओर लग जायँ, इसलिये भगवान्‌ने बलिपर कृपा की। बलिने स्वयं इसे स्वीकार किया है। यह बात समझमें आनी कठिन है कि बलिका राज्य ले लिया, उनका सर्वनाश कर दिया, इसमें क्या कृपा की, पर सचमुच भगवान्‌ने उनपर बड़ी कृपा की।

बलिके पितामह भक्तराज प्रह्लादने वहाँ भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा—'प्रभो! आपने ही बलिको ऐश्वर्यपूर्ण इन्द्रत्व दिया था। आज आपने उसे छीनकर इसपर बड़ी कृपा की है। आपकी

कृपासे आज यह आत्माको मोहित करनेवाली राज्यश्रीसे अलग हो गया है। लक्ष्मीके मदसे बडे-बडे विद्वान् मोहित हो जाते हैं। ऐसी लक्ष्मीको छीनकर महान् उपकार करनेवाले, समस्त लोकोके महेश्वर, सबके अन्तर्यामी तथा सबके परम साक्षी आप श्रीनारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ।' (भागवत ८। २२)

जब भगवान् किसीपर इस प्रकार कृपा करते हैं, तब उसके ऐश्वर्यका विनाश कर देते हैं। एक बार तो वह दुखी हो जाता है। इसी प्रकार जिसके सम्मानकी वृद्धि हो जाती है, भगवान् उसका अपमान करवा देते हैं, लाञ्छित कर देते हैं, जिससे वह मानकी मायासे छूटकर भगवान्‌की ओर बढ़े। जितनी भी इस प्रकारकी लीलाएँ होती हैं, सबमें भगवान्‌की कृपा ही हेतु होती है। जो बढ़ रहा है, वह भगवान्‌को मानेगा ही क्यों? जबतक जगत्में सफलता होती है, तबतक मनुष्य बुद्धिका अभिमान करता ही है और इसलिये भगवान् तथा धर्म दोनों ही उससे दूर हो जाते हैं। वह मोहवश अपने लिये असम्भव और अकर्तव्य कुछ भी नहीं मानता। 'मै चाहे जो कर सकता हूँ, कौन बो॰नेवाला है। किसकी जगत्में शक्ति है जो मेरी उन्नतिमें बाधा दे सके।' यो वह बकने लगता है, पर भगवान्‌की कृपासे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो उसकी सारी सफलताको चूर्ण कर देती है। तब वह फिर भगवान्‌की ओर देखता है। जबतक मनुष्यको संसारका आश्रय मिलता है, तबतक वह भगवान्‌की ओर ताकता भी नहीं। जबतक उसकी प्रशंसा करनेवाले, उसे आश्रय देनेवाले, उसकी बुरी अवस्थामें भी कुछ भी

मित्र, बन्धु-बान्धव रहते हैं, तबतक वह उन्हींकी ओर देखता है। द्रौपदीके चीर-हरणका प्रसंग देखिये। भगवान्‌की ओर उसने तबतक नहीं देखा, तबतक उसने भगवान्‌को नहीं पुकारा, जबतक उसे तनिक भी किसीकी आशा बनी रही। वह उनकी ओर ताकती रही। उसने पाण्डवोंकी ओर देखा, द्रोणकी ओर देखा, विदुरकी ओर देखा और देखा पितामह भीष्मकी ओर। उसे आशा थी, ये मुझे बचा लेंगे, किंतु वह जब सब ओरसे निराश हो गयी, उसे कहीं किञ्चित् भी आश्रय नहीं रह गया, तब उसने निराश्रयके आश्रय और निर्बलके बल भगवान्‌का स्मरण किया और भगवान्‌को आते कितनी देर लगती है। जहाँ अनन्यभावसे करुण आह्वान हुआ कि वे भक्तवत्सल प्रभु दौड़ पड़े।

सारे जगतके अपनत्व, बन्धुत्व आदिके प्रति मनुष्यकी ममता जब नहीं छूटती, तब भगवान् कृपा करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिससे उसे उनसे मुक्ति मिल जाय, उस ममताके बन्धनसे छूटनेके लिये वह विवश हो जाय और जब उस ममतासे वह छूटता है, तब उसकी आँख खुलती है और वह सोचता है कि मैं धोखा खा रहा था। मुझे 'मेरा-मेरा' करनेवाले सब पराये ही रहे। सब समय धोखा ही देनेवाले रहे। संसारका यह नियम ही है कि सांसारिक लोग सफलताके साथ चलते हैं और असफलताकी गन्ध आते ही सब-के-सब धीरेसे सरक जाते हैं। फिर ढूँढ़नेपर भी उनका पता नहीं चलता। सुखके समय जो प्रगाढ़ मैत्रीका प्रदर्शन करता था, तब वैसा प्रेम नहीं दिखाता। उस समय केवल भगवान् ही दीखते

हैं और वे बड़े ही मधुर एवं स्नेहपूरित शब्दोंमें कहते हैं—'भाई! निराश मत हो, मेरे पास आओ।' सच बात तो यह है कि अपने परम सुखद अङ्कमें लेनेके लिये ही वे ऐसा करते हैं। अपनानेके लिये ही वे उसे जगत्‌से निराश करते हैं। फिर भी हम भूल करते हैं। धनमें, मानमें, कीर्तिमें, जगत्‌की प्रत्येक सफलतामें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करें, यह अत्युत्तम है; किंतु दीनता, दुःख, अभाव अकीर्ति और असम्मानकी स्थितिमें हमें उनकी मधुर मङ्गलमय कृपाका विशेष अनुभव करना चाहिये।

एक विधवा बहिन है, अच्छे घरकी हैं। भगवान्‌की प्रेमी हैं, भजन करती हैं। उन्होंने बताया कि 'मैं परिवारमें रहती, मेरे बाल-बच्चे होते, देवरानियों-जेठानियोंकी भाँति मैं वस्त्राभूषण पहनती, इस प्रकार मैं संसारमें रम जाती, भजन करनेकी जैसी सुविधा और मन आज है, वैसा तब नहीं रहता। यह भगवान्‌की कृपा थी, जिसने मुझे जगत्‌के सारे प्रलोभन और सारे विषयोंसे दूर कर दिया, हटा दिया और इधर लगनेका सुअवसर दिया।' वास्तवमें यही बात है। भगवान्‌की दी हुई वह विपत्ति हमारे लिये परम मङ्गलमयी है, जिसने हमें भगवान्‌में लगा रक्खा है। मनुष्य अमुक-अमुक प्रकारके वस्त्र पहननेको, अमुक-अमुक प्रकारके मकानमें रहनेको, अमुक प्रकारके भोजन करनेको और लोग मुझसे अमुक प्रकारसे बात करें, इसको तथा ऐसे ही अन्यान्य सांसारिक सुविधाओंको सुख मान रहा है; पर वस्तुतः वह सुख नहीं है। किसीने आपको आदरसे बुलाया और किसीने दुत्कार दिया—ये दोनों शब्द

ही हैं। इससे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। किसीने पाँच सम्मानकी बात कह दी और किसीने पाँच गाली दे दी। यद्यपि गाली देनेवालेने अपनी हानि अवश्य की। पर यदि आपके मनमें मानापमानकी भावना न हो, तो आपका उससे कुछ नहीं बिगड़ा। किंतु हमलोगोंने एक कल्पना कर ली जगत्में हमारी कितनी अप्रतिष्ठा हो गयी, कितने हम अपदस्थ हो गये- हमें नित्य बड़ा भारी डर लगा रहता है। जरा-सी निन्दा होने लगती है, तो हम डर जाते हैं, काँप उठते हैं। पर भगवान् यदि जानते हैं कि निन्दासे ही इसका गर्व-ज्वर उतर सकेगा तो वे चतुर चिकित्सकके द्वारा कड़वी दवा दी जानेकी भाँति उसकी निन्दा करा देते हैं। निन्दा, अपमान, अकीर्ति, तिरस्कार, अप्रतिष्ठा तथा लाञ्छन आदि अवसरोंपर यदि हम भगवान्‌की कृपा मान लें, तो कृपा तो वह है ही, पर हमें तो अवकाश ही नहीं है कि हम इसपर विचार भी कर सकें। जबतक सफलता है, तबतक मिथ्या आदर है, पर हम मानते हैं 'हमें अवकाश कहाँ है, कितना काम है, हमारे बहुत-से प्रिय सम्बन्धी हैं, कितने मित्र हैं, कितने बन्धु-बान्धव हैं, कहीं पार्टी है, कहीं मीटिंग है, कहीं खेल है, कहीं कुछ है। सब लोग हमें बुलाते हैं, वहाँ हमें जाना ही है। क्या करें।' इत्यादि। पर भगवान् तनिक-सी कृपा कर दें, लोगोंके मनमें यह बात आ जाय कि इसके बुलानेसे बदनामी होगी तो आज सब बुलाना बंद कर दें। मुँहसे बोलनेमें भी सकुचाने लगें। भगवान्‌ने तनिक-सा उपाय कर दिया कि बस, अवकाश-ही-अवकाश मिलने लगा।

संत कबीरको इसी प्रकार लोगोंने बुलाना छोड़ दिया था। पास बैठनेसे निन्दा हो जायगी, इतना जानते ही लोग पास बैठना छोड़ देंगे। संसार तो वहीं रहता है, जहाँ कुछ पानेकी आशा रहती है। वह पानेकी वस्तु चाहे प्रशंसा ही क्यों न हो जहाँ कुछ पाना नहीं, वहाँ संसार क्यों जायगा, फिर तो लोग दूर ही रहेंगे।

एक बहुत बड़े धनी हैं, मानी हैं, उनके साथ बैठनेको मिल जाय, वे अपने साथ बैठा लें, कितनी प्रसन्नता होती है। यश जो बढ़ता है, और कहीं वे हमारे घर आ जायँ, तब तो 'ओ हो हो! कितने भाग्यवान् हैं हम। इतने बड़े आदमी हमारे घर आये।' यह बड़ाई पानेका रोग है। मान पाना, बडाई पाना, यश पाना, धन पाना, आराम पाना—कुछ भी, जहाँ पानेकी इच्छा है और जहाँ यह पूरी होती है वह हम सब चाहते हैं, वहाँ हम सब जाते हैं। पर जहाँ यह पानेकी इच्छा पूरी न हो, कुछ देना पड़े, कुछ त्याग करना पडे, चाहे मानका ही त्याग करना पड़े, कुछ बदनामी मिले, वहाँसे आदमी हट जाता है, कहता है यहाँ मेरा क्या काम। फिर जगत्-वाले सब अलग हो जायँगे, जब उनको पानेकी कोई आशा नहीं रह जायगी। अपने घरके प्राणप्रिय व्यक्तियोंके मनमें भी, जिनके लिये लोग प्राण देते रहते हैं, ऐसी बात आ जाती है। पिता कमाते थे उनसे कुछ मिलता था। बड़े पूज्य थे, पर जब उनसे कुछ भी मिलनेकी आशा नहीं रहती, सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है, तब पुत्र भी सोचने लगता है—'अब तो ये वृद्ध हो गये। बड़ा कष्ट है

इन्हें', दूसरे शब्दोंमें 'ये मर जायँ तो अच्छा है।' अपने परिवार-वालोंको जाने दीजिये, अपना ही शरीर दो-चार वर्ष रुग्ण रह जाता है, ओषधि खानेपर भी अच्छा नहीं होता है, तो निराशा हो जाती है और मनमें आता है कि शरीर छूट जाय तो अच्छा हो। साथ रहनेवाले मित्र, बन्धु-बान्धव तरह-तरहकी बातें कहने लगते हैं। 'घर नरक हो गया, रहना तो यहीं है, क्या किया जाय, बड़ा दुःख है।' वे लोग उसके साथ रहनेमें सुख नहीं मानते। उस समय मित्रता नहीं रह जाती। बन्धुता विलीन हो जाती है। सारा प्रेम और सारी आत्मीयता हवा हो जाती है। ऐसे अवसर भगवान् मनुष्यको चेतनेके लिये ही देते हैं। भगवान् क्या करते हैं? मनुष्य जिसे-जिसे सुखकी सामग्री मानता है, उसे मिटा डालते हैं। सुखकी सारी सामग्रियोंको तहस-नहस कर डालते हैं और जहाँ सुखकी सामग्री मिटी कि सब झंझट मिटा। जहाँतक चीलकी चोंचमें मांसका टुकड़ा है, वहींतक कौए-चील उसके पीछे-पीछे उड़ते हैं। जहाँ मांसका टुकड़ा गिरा कि उससे दूर भागे। जगतकी वस्तुएँ मांसके टुकड़ेकी तरह हैं और सारे मनुष्य कौएकी तरह हैं। भागवतमें आता है—अवधूतने चीलसे यही शिक्षा ली। मान नहीं रहे, धन नहीं रहे, स्वास्थ्य नहीं रहे, यश नहीं रहे, मकान नहीं रहे, नौकर-चाकर नहीं रहे, खानेको न रहे, तो फिर कौन पास आयेगा? पर यदि कोई बुद्धिमान् हो तो निश्चय ही सोचेगा कि भगवान्ने कितनी कृपा की कि मेरे जितने गिरनेके अवसर थे, सबको हटा लिया।

श्रीमद्भागवतमें नलकूबर और मणिग्रीवकी कथा आती है। ये दोनों कुबेरके पुत्र थे। अलकामें रहते थे। दिन-रात विहार किया करते थे। इनको कोई रोकनेवाला नहीं था।

> यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
> एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक—इन चारोंमेंसे एक भी हो तो अनर्थका कारण होता है, पर जहाँ ये चारों साथ हो जायँ, वहाँ तो फिर कहना ही क्या है। कुबेर-पुत्रोंमें ये चारों थे। वे जवान थे, धन-सम्पत्ति थी, प्रभुत्व था और था अविवेक। यौवनका मद था, धनका मद था, अधिकारका मद था, कुबेरके पुत्र थे, स्वेच्छाचारी थे, अविवेकी थे। एक दिनकी बात है। ये दोनों अप्सराओंके साथ नंगे नहा रहे थे—विलास कर रहे थे। उधरसे श्रीनारदजी आ निकले। श्रीनारदजीको देखते ही स्त्रियाँ तो जल्दी बाहर निकल गयीं और वस्त्र पहन लिये, किंतु ये दोनों बड़े उद्दण्ड थे, उसी तरह नंगे खड़े रहे। नारदजीने कहा 'तुम दोनों जडकी भाँति खड़े हो, जाकर वृक्ष हो जाओ।'

प्रश्न होता है ऋषि-मुनि तो क्षमाशील होते हैं, बुरा करनेवालेका भी भला करते हैं। उनमें क्रोध कैसे उत्पन्न हुआ और उन्होंने नलकूबर और मणिग्रीवको शाप कैसे दे दिया? यहाँ आता है संतोंकी अवमानना बड़े विनाशकी चीज है करनेवालेके लिये।

दूसरी बात, जब धनमें, राज्यमें, अधिकारमें, सफलतामें आदमी अंधा हो जाता है, तब जबतक उसके पास वे चीजें रहती हैं तबतक उसका अंधापन नहीं मिटता। उसे प्रेमपूर्वक समझानेका प्रयत्न किया जाय, तो वह उल्टा नाराज हो जाता है, बिगड़ खड़ा होता है। ऐसी अवस्थामें उसकी दवा यही है कि वह वस्तु उसके पास न रहे। जो धन-दुर्मदान्ध होते हैं, जिनको धनके मदने अंधा कर दिया है, अपनी सफलताके नशेमें जो बिल्कुल पागल हो रहे हैं, अंधे हो रहे हैं ऐसे दुष्टोंके लिये दरिद्रता ही परम ओषधि है।

'असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्।'

उनके पाससे उन वस्तुओंका हट जाना ही उनको नेत्र-दान करता है। किसीको ज्ञान-मद हो जाता है। भगवान् उसे हर लेते हैं। भगवान् हमारी मनचाही नहीं करते। नारदजीने इसीलिये उन्हें शाप दिया कि जिससे उन बेचारोंका यह रोग—धन-मद नष्ट हो जाय। उनको आँखें मिल जायँ और वे भगवान्को प्राप्त करें। जडतारूप इस कड़ी दवाके साथ श्रीनारदजीने उनको मधुरतम दुर्लभ आशीष् भी दिया कि 'वृक्षयोनि प्राप्त होनेपर भी मेरी कृपासे इन्हें भगवान्की स्मृति बनी रहेगी और देवताओंके सौ वर्ष बीतनेपर इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका सांनिध्य प्राप्त होगा, तब इनकी जडता दूर हो जायगी। इन्हें भगवच्चरणोंका प्रेम प्राप्त होगा। ये कृतार्थ हो जायँगे।'

स्वयं श्रीनारदजीने चाहा था—'हम राजकुमारीसे विवाह कर लें; पर भगवान्‌ने उन्हें वानरका मुँह दे दिया। यह कथा शिवपुराण और रामचरितमानसमें आती है। श्रीनारदजीको बड़ा दुःख हुआ। श्रीभगवान्‌को बहुत कुछ कह गये, 'भगवान् तो स्वेच्छाचारी हैं, उन्हें किसीका सुख-सौभाग्य नहीं सुहाता। वे अपना ही भला चाहते हैं आदि' न जाने क्या-क्या मोहमें वे कह गये। परंतु भगवान्‌ने उनपर कृपा की। पीछे उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ। भगवान्‌ने उन्हे बताया, 'हमने आपके हितके लिये ऐसा किया था—

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥

आप-सरीखे विरक्तके लिये स्त्री सारे अवगुणोंकी जड़, शूलप्रद तथा समस्त दुःखोंकी खान है, यही मनमें विचारकर मैंने आपका विवाह नहीं होने दिया।'

भगवत्कृपाका यह विलक्षण भाव देखकर नारदजीका शरीर रोमाञ्चित हो गया। नेत्रोंमें प्रेम तथा आनन्दके अश्रु छलक उठे—'मुनि तन पुलक नयन भरि आए।'

यह समझ लेनेकी बात है। कहीं हमारे विषयोंका हरण होता है, मनचाही वस्तु नहीं मिलती, वहाँ निश्चय ही समझना चाहिये कि भगवान् हमपर कृपा करते हैं। भगवान्‌की कृपाका कोई एक रूप नहीं है। वह न मालूम कब किस रूपमें प्रकट होती है। पर जागतिक असफलता उसका एक रूप है। हम संसारके भोगोंकी, विषयोंकी, अनुकूल विषयोंकी प्राप्तिमें

जो भगवान्‌की कृपा मानते हैं, यह भगवान्‌की कृपाका एकाङ्गी दर्शन है और एक प्रकारसे असत्-दर्शन है। भगवान्‌की कृपा निरन्तर है, सबपर है, सब समय है, बल्कि जहाँ भगवान् हमारे अनुकूल विषय-भोगोंका अपहरण करते हैं, विनाश करते हैं, वहाँ भगवान्‌की कृपा विशेषरूपसे प्रस्फुटित होती है। जब मनुष्य भगवान्‌को भूल जाता है, उनकी अवहेलना करता है, जब वह अध्यात्मको, परमार्थको सर्वथा भूलकर जागतिक, लौकिक, स्वार्थकी सिद्धिमें लग जाता है, तब भगवान् कृपा करते हैं। जो पापके प्रवाहमें बह रहा है, भगवान् उसको उस प्रवाहसे बचानेके लिये उसके ऐश्वर्यको, उसकी सफलताको बलात्कारसे अपहरण करते हैं। जो वस्तु उसे अभिलषित है, उसे प्राप्त नहीं होने देते और जो वस्तु उसे प्राप्त है, जिसने उसे मोहित कर रक्खा है, उसे छीन लेते हैं, नष्ट कर देते हैं—

'यमहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

यह मानभङ्ग, यह ऐश्वर्य-नाश आदि भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है। यदि कोई धनका होकर रह रहा है, तो भगवान् चाहते हैं कि वह धनका न होकर हमारा होकर रहे। उसका धन-ऐश्वर्य आदि सब कुछ ले लेते हैं। भगवान् तो चाहते हैं उसे अपनाना। वे उसे अपनी गोदमें लेना चाहते हैं। पर, जबतक जगत् उसे अपनाये है, तबतक वह ऐसा मोहमें रहता है कि मानो सारा जगत् ही हमारा है। तबतक उसे भ्रम रहता है कि मानो सारा जगत् ही हमसे प्यार करता है। वह जगत्‌में चारों ओर

आशा लगाये रहता है। उसमें फूलकर वह भगवान्‌को भूल जाता है। उसमें जगत्‌का प्रेम, जगत्‌की ममता, जगत्‌का बन्धन प्रगाढ और विस्तृत होता जाता है। भगवान् उसे दिखाते हैं कि तुम्हारे साथ प्रेम करनेवाला, तुम्हे अपना माननेवाला, तुम्हें आश्रय देनेवाला मेरे अतिरिक्त कोई स्थिति, कोई अवस्था, कोई प्राणी और कोई सम्बन्धी है ही नहीं। ये सब धोखेकी चीजें हैं। वह धोखेकी चीज मान ले इसके लिये भगवान् ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं। जैसे हम आपसे प्रेम करते हैं, आपके लिये प्राण देनेकी बात करते हैं, पर कहीं आपपर कोई लाञ्छन लग जाय, आपका कोई पाप प्रकट हो जाय, जगत् आपसे घृणा करने लगे, आपके पास बैठनेमें लोक-लज्जाका अनुभव होने लगे, उस समय हम आपके पास नहीं बैठ सकेंगे। उस समय बड़ा सुन्दर तर्क देते हुए हम कह देंगे—'अंदरसे हमलोगोंका प्रेम तो बना ही है, पर बाहर प्रकट करके अपयश लेनेसे क्या लाभ ?' कल जो उसकी बड़ाईमें, उसके यशमें, उसके सुखमें हर समय हिस्सा ले रहे थे; आज वह बुरा आदमी माना गया है, इसलिये उसे अपना स्वीकार नहीं करते। उनका प्रेम, ममत्व, अपनत्व कहाँ चला गया ? मनुष्य पाप करता है पर क्या वह अपनेसे घृणा करता है। श्रीनारदजीने प्रेमका स्वरूप बताया—**'गुणरहितम्', 'कामनारहितम्'**। प्रेम गुणरहित और कामनारहित होता है। प्रेम गुण और वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता।

सच बात तो यह है कि भोगासक्त संसारवालोंका प्रेम है ही नहीं, सच्चे प्रेमी तो प्रभु हैं, जो गुण नहीं देखते और

कामना तो उनके मनमें है ही नहीं। भगवान्‌का प्रेम ही असली प्रेम है। अतएव भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें जो मन लगता है, सो बड़े ही दुर्भाग्यकी बात है। मजेकी बात तो यह है कि जगत्‌में जिन लोगोंके पास जगत्‌की कुछ वस्तुएँ हैं, वे अपनेको भाग्यवान् मानते हैं और मूर्खतावश और लोग भी उन्हें 'भाग्यवान्' कहते हैं। किंतु एक फकीर जिसके पास जगत्‌की कोई वस्तु नहीं है और जिनकी उसे कामना भी नहीं है तथा जो अपनी स्थितिमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए सर्वथा निश्चिन्त और मस्त है, उसे लोग गरीब या अभागा कहते हैं और कह देते हैं—'बेचारेको सुख कहाँ?' पर जो पदार्थ हमें भगवान्‌से दूर कर दे और जो नरकानलमें दग्ध करनेमें सहायक हो, उस पदार्थजनित भाग्यशीलताके लिये क्या कहा जाय? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥

श्रीशिवजी कहते हैं—'वे अभागे हैं, भाग्य फूटा है उनका जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंसे प्रेम करते हैं।' सौभाग्यवान् कौन? जो सबको छोड़कर भगवान्‌की सेवामें लग जाता है। भरतजीने श्रीलक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हुए कहा था—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

लक्ष्मणके समान कौन बड़भागी है, जिसका श्रीरामके चरणोंमें अनुराग है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

'रमाके वैभवको जो रामानुरागी जन वमनके समान त्याग देते हैं, वे ही बड़भागी हैं।' भोगरूपसे तो लक्ष्मी अलक्ष्मीके रूपमें—दुर्भाग्यके रूपमें ही रहती हैं। उस दुर्भाग्यके रूपको दूर करनेके लिये भगवान् कृपा करते हैं और कृपा करके हमने जिसे सौभाग्य मान रक्खा है, उसको हर लेते हैं। भगवान्के प्रेमको हरनेवाली सम्पूर्ण चीजोंको भगवान् हर लेते हैं, दूर कर देते हैं। मान गया, धन गया, यश गया, प्रतिष्ठा गयी, सब कुछ चला गया—मनुष्य रोने लगता है, छटपटाने लगता है, पर उस समय दयामय प्रभु मधुर-मधुर मुसकराने लगते हैं, हँसने लगते हैं कि 'यह मेरा प्यारा बच्चा विपत्तिसे बच गया।' जिसे हम सम्पत्ति मानते हैं, सचमुच वह विपत्ति ही है।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'जगत्की विपत्ति विपत्ति नहीं, जगत्की सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं, भगवान्का विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान्का स्मरण ही सम्पत्ति है।'

श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

जिस कालमें भगवान्का साधन-भजन—उनका मधुर स्मरण नहीं होता, वह काल भले ही सौभाग्यका माना जाय, उस समय चाहे चारों ओर यश, कीर्ति, मान, पूजा होती हो, सब प्रकारके भोग उपस्थित हों, समस्त सुख उपलब्ध हों, पर जो भगवान्को भूला

हुआ हो, भगवान्‌की ओरसे उदासीन हो, तो वह विपत्तिमें ही है—असली विपत्ति है यह। इस विपत्तिको भगवान् हरण करते हैं, अपने स्मरणकी सम्पत्ति देकर। यहाँ श्रीभगवान्‌की कृपा प्रतिफलित होती है।

जब हम धन-पुत्रकी प्राप्ति, व्यापारकी उन्नति, कमाई, प्रशंसा, शरीरके आराम, अच्छे मकान, कीर्ति, अधिकार आदिको भगवान्‌की कृपा मान लेते हैं, तब उसे बहुत छोटे-से दायरेमें ले आते हैं और गलत समझते हैं। भगवान्‌की कृपा यहाँ भी है, परंतु ये समस्त सामग्रियाँ भगवान्‌की पूजाके उपकरण बनी हुई हों तो। और यदि ये सब भोगसामग्रियाँ, सारी-की-सारी चीजें भगवान्‌के पूजनका उपकरण न बनकर अपने ही पूजनमें मनुष्यको लगाती हैं, तो वहाँ भगवान्‌का तिरस्कार होता है, अपमान होता है। वस्तुतः भगवान् इनको इसीलिये देते हैं कि इनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करके मनुष्य कृतार्थ हो जाय, पर ऐसा न करके वह यदि इनका स्वामी बनकर भगवान्‌को भूल गया, तो वह भोगोंका स्वामी नहीं, भोगोंका किङ्कर है। भोग उसे चाहे जहाँ ले जाते हैं। वे उसे धर्मच्युत कर देते हैं। वह भोगका गुलाम है। इसलिये भगवान्‌ने भोगोंको 'दुःखयोनि' कहा है। भोगोंपर स्वामित्व हो, मन निगृहीत हो, सारे-के-सारे भोग और अन्तःकरण निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगे हों, तभी भोगोंका स्वामित्व है। ऐसा नहीं है तो भोगका स्वामी कहलाकर भी वह भोगका गुलाम बना हुआ है और जहाँ भोगोंकी गुलामी है, वहाँ भगवान्‌की

कृपा कैसी! भगवान्‌की कृपा तो वहाँ आती है, जहाँ सारी गुलामी छूटकर केवल भगवान्‌की दासता होती है। तमाम परतन्त्रता टूट गयी, रह गया केवल भगवान्‌का चरणाश्रय। वहीं होता है भगवान्‌की कृपाका प्राकट्य। जितनी-जितनी भोगोंकी वृद्धि होती है, उतनी-उतनी उनकी दासता बढ़ती है। जिसकी जितनी बड़ी ख्याति है, बड़ी कीर्ति है, उसकी उतनी ही अधिक बदनामी होती है; इसलिये भोगबाहुल्य भगवान्‌की कृपाका लक्षण नहीं है। भगवान्‌की कृपा तो वहाँ होती है, जहाँ भगवान्‌का प्रेम है और भगवच्चरणानुराग है। कितने साधक कहते हैं कि 'अमुक आदमी कितना सुखी हो गया। कितने पैसेवाला हो गया, उसके व्यापार हो गया, आपने उनपर कृपा की। हमारे साथ तो आपका दुर्भाव है।' पर उन्हें कैसे समझाया जाय कि भोगबाहुल्य तो भगवान्‌की अकृपाका लक्षण है। तुलसीदासजीने घोषणा की—

> जाके प्रिय न राम-बैदेही।
> तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
> तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
> बलि गुरु तज्यो कंत-ब्रजबनितनि भे जग मंगलकारी॥

जिसको भगवान् सीताराम प्यारे नहीं हैं, वे यदि प्यारे-से-प्यारे हों, परम सनेही हों, तब भी वे त्याज्य हैं। यदि हम किसीके माता, पिता, भाई, गुरु, स्वामी हैं, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें भगवान्‌में लगानेका प्रयास करें, न कि उन्हें नरकोंमें पहुँचानेका प्रबन्ध कर दें। वह पिता पिता नहीं, वह माता माता

नहीं, वह भाई भाई नहीं, वह गुरु गुरु नहीं और वह देवता देवता नहीं जो भगवान्‌से हटाकर हमें भोगोंमें लगा दे। इसीलिये तुलसी-दासजीने कहा—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जातें होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

'वही परम हितैषी है, वही परम पूज्य है, वही प्राणोंका प्यारा है, जिससे रामके चरणोंमें स्नेह बढ़े, यह हमारा निश्चित मत है।' भगवान्‌में मन लगे, भोगोंसे मन हटे। वास्तवमें भोगको प्रोत्साहन देना मनुष्यको बिगाड़ना है, उसे बुरे मार्गमें लगाना है। ऐसे मार्गमें लगा देना तो उसके साथ शत्रुता करनी है। ऐसी कोई वस्तु कोई किसी प्राणीको दे दे कि वह भगवान्‌को भूल जाय। अमृत भूलकर विष खा ले तो वह मित्र नहीं। उसका मुँह ऊपरसे मीठा है, पर भीतर उसके हालाहल भरा हुआ है। मित्र वह है जो अंदरसे मित्र है और जो हमें सुधार देता है। विषय-भोगोंमें लगाने-वाले मित्र कदापि मित्र नहीं। ऐसे ही मित्रके लिये कहा गया है—'**विषकुम्भं पयोमुखम्** ।' ऐसे जहर-भरे दुधमुँहे घड़के सदृश ऊपरसे मीठे बोलकर विषयोंमें लगानेवाले मित्रोंको छोड़ देनेमें ही कल्याण है। संसारके विषय-भोग ठीक ऐसे ही हैं। वे देखनेमें अमृत लगते हैं, पर परिणाममें विष ही सिद्ध होते हैं। **परिणामे विषमिव**। माता, पिता, गुरु, भाई, मित्र किसीको दूध बताकर विष दे देना, उसका उपकार करना नहीं, बुरा करना है। अतएव सबको स्पष्ट बता देना चाहिये कि इस विषसे बचो। यह मार देगा, यह नरकोंमें डाल देगा। पर यह कहना तो तभी बनता है, जब हम

स्वयं इससे बचे हुए हों। असली चीज तो यही है कि भोगोंकी प्राप्ति, भोगोंकी स्पृहा, भोगोंको प्राप्त करनेकी कामना, मकान, मोटर, अधिकार, पद, पाँच आदमी मेरे आगे-पीछे चलें, यह कामना तथा यह सब देखकर मनका ललचाना, यह सब नरकरूप ही कहे गये हैं।

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी ॥

इसीलिये वे अभागे हैं, उनका जीवन नरकरूप है। संसारके इन प्रलोभनीय वस्तुओंको दे देना, इनमें लगा देना, इनमें आकर्षण उत्पन्न कर देना, उसकी महत्ता बता देना हितकर नहीं है, अतः उचित नहीं है। यह तो उसके साथ वैर करना है। जिनके पास ये सामग्रियाँ हैं, उनको भी इनकी बुराइयाँ बता देनी चाहिये।

भगवान्‌की कृपाका आश्रय करें और भगवान्‌की कृपा जब जिस रूपमें आये, स्वागत करें। यदि वह कृपा हमारा मान भंग करनेवाली हो, इज्जत मिटानेवाली हो, जगत्‌से सम्पर्क हटानेवाली हो, तब यह समझना चाहिये कि भगवान्‌का सांनिध्य प्राप्त होनेवाला है। यह संसारका नियम है कि जगत् तभीतक पकड़ता है, जबतक उससे कुछ मिलता रहे। बूढ़े माता-पिताको भी लोग कहते हैं, भगवान् सुन लें तो अच्छा है, अर्थात् ये चल बसें, तो सुख रहे। जगत्‌के भोग किसीके नहीं हैं। किसीका यथार्थ प्रेम नहीं है। धनमें, मानमें, कीर्तिमें कहीं भी सुख नहीं है। केवल जो आत्मा है, जो हमारा अपना स्वरूप है, जो सदा हमारे साथ है, इस शरीरके नष्ट होनेपर जो हमारे साथ रहेगा, उसीमें सुख है। ये धन,

कीर्ति और मानका सुख तो उधार लिया मिथ्या सुख है, हम इन्हें सुखका स्वरूप समझ लेते हैं। यह हमारी भूल है, ये न तो सुख हैं और न ये सदा रहते ही हैं। साधकको चाहिये कि वह निरन्तर भोगोंसे मन हटाता रहे, भोग हमारे शत्रु हैं, यह भाव मनमें बार-बार भरता रहे और प्रेममय-आनन्दमय भगवान्‌में मन लगाता रहे।

इसके लिये पूरा प्रयत्न करें। भोगोंका नाश हो तो दुखी न होकर परम सौभाग्य मानें, उसमें सहज सुहृद् श्रीभगवान्‌की कृपाका अनुभव करें। भगवान् हमारे नित्य सुहृद् हैं। वे कभी अकृपा करना जानते ही नहीं। मलेरिया होनेपर डाक्टरने कड़वी दवा दे दी, हम मानते हैं कि यह हमारे लाभके लिये है। इसी प्रकार आवश्यक होनेपर भगवान् हमें कड़वी दवा देंगे। डाक्टरके द्वारा हमारे हितके लिये किये जानेवाले अङ्गच्छेद (ऑपरेशन) की भाँति आवश्यकता होनेपर वे हमारा अङ्ग भी काट सकते हैं, पर उसमें हमारा लाभ ही होगा। हमारे भयानक दुःखदायी रोग-दोष और हमारी बीमारी दूर करनेके लिये भगवान् हमपर कृपा कर रहे हैं, यह समझना चाहिये। भगवान्‌की कृपा समझकर निरन्तर उनका नाम लेता रहे और अपना जीवन भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल बनावे। भगवान् हमारा सारा कार्य करते हैं, वे नित्य हमारा हित ही करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे, यह विश्वास रक्खें तो निश्चय ही हम निहाल हो जायँगे। हरिः ॐ तत्सत्।

दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य

भगवान् आर्तिहरण हैं। वे दीनोंकी आर्ति हरण करनेवाले हैं। भगवान् दीन-बन्धु हैं, दीनोंके सहज मित्र हैं। दीनका अर्थ है—असमर्थ, अशक्त, जिसमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं, जिसके पास कोई साधन नहीं, जो शक्तिहीन, सामग्रीहीन और सर्वथा निर्बल है—ऐसा जो कोई होता है उसके हृदयकी पुकार स्वाभाविक ही दीनबन्धुके लिये होती है। दीनको कौन अपनाये? संसारमें दीनोंके साथ सहज, सरल प्रेम करनेवाले, उनका समादर करनेवाले, उन्हें अपनानेवाले वस्तुतः दो ही हैं—एक भगवान् और दूसरे संत। यह दीनबन्धुत्व, दीनवत्सलता, अकिंचनप्रियता, दीनप्रियता भगवान् और संतमें ही है। यह परम आदर्श गुण है। इसका यदि किसीके जीवनमें समावेश हो जाय तो उसका जीवन धन्य हो जाय। इसमें एक विशेष बात यह है, जैसे माता संतानवत्सल होती है और वह अपने मनमें कभी भी अहंकार नहीं करती कि मैं संतानका उपकार करती हूँ, उसका वात्सल्य उसे संतानकी सेवा करनेके लिये बाध्य करता है। इस मातृ-वात्सल्यपर संतानका सहज अधिकार है। माताकी वह वत्सलता संतानकी सम्पत्ति है। उसकी वह वत्सलता संतानके लिये ही है, नहीं तो उसकी कोई सार्थकता नहीं। इसी प्रकार दीनोंके प्रति, अनाथोंके

प्रति, दुखियोंके प्रति जो संतोंकी, भगवान्‌की सहज दयापूर्ण वत्सलता है, वह अनाथों, अनाश्रितों, दीनों, दुखियों और असहायोंकी सम्पत्ति है। दीनोंके प्रति सहज वत्सलता रखनेवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है। यह सहज भाव सदा उनके हृदयमें रहता है। वे यह नहीं मानते कि हम किसीका उपकार कर रहे हैं। वे नहीं मानते कि हम दया करके किसी 'दीन'—दयाके पात्रको कुछ दे रहे हैं। वे अपना कुछ मानते ही नहीं। वे समझते हैं, हमारा कुछ है ही नहीं। जो कुछ है सब भगवान्‌का है। विद्या, बुद्धि, बल, धन, सम्पत्ति, जमीन, मकान जो कुछ है, सारा-का-सारा भगवान्‌का है। इसलिये उसका यथायोग्य निरन्तर भगवान्‌की सेवामें, भगवान्‌के काममें लगाते रहना, यह उनका स्वभाव होता है। अतः उनकी दीनवत्सलता, किसी दीनका उपकार नहीं, भगवान्‌की सेवा है। भगवान्‌की अपनी वस्तु, भगवान्‌को समर्पण करनेका भाव है। इस भावके विपरीत जो इन सब वस्तुओंका संग्रह करता है, जो उन्हें अपनी वस्तु मानता है, उनपर अपना स्वामित्व, अपना अधिकार मानता है, भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को देता नहीं, वह चोर है। भगवान्‌की चीजपर अपना स्वत्व मानकर जो सब कुछको अपना मान बैठता है, केवल अपने ही उपयोगमें लेने लगता है, वह चोर है, दण्डका पात्र है। भागवतमें देवर्षि नारदजीने कहा है—

> **यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।**
> **अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥**
>
> (७।१४।८)

'जितनेसे पेट भरे—सादगीसे जीवन-निर्वाह हो, उतनेपर ही अधिकार है। जो उससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, संग्रह करता है, वह दूसरोंके धनपर अधिकार माननेवालेकी तरह चोर है और दण्डका पात्र है।' इस भावसे अपनी सारी, सब प्रकारकी सम्पत्तिपर, सबका—विश्वरूप भगवान्‌का अधिकार मानकर—जहाँ-जहाँ दीन हैं, जहाँ-जहाँ गरीब हैं, जहाँ-जहाँ अभावग्रस्त हैं, असमर्थ हैं, वहाँ-वहाँ, तत्तत् उपयोगी सामग्रीके द्वारा उनकी सेवामें लगे रहना धर्म है।

मनुष्यके व्यवहारमें—मानव-जीवनमें एक बात अवश्य आ जानी चाहिये। वह यह कि अपने पास विद्या, बुद्धि, धन, सम्पत्ति, भूमि, भवन, तन, मन, इन्द्रिय जो कुछ हैं, उनसे जहाँ-जहाँ अभावकी पूर्ति होती हो, वहाँ-वहाँ उन्हें लगाता रहे, यही पुण्य है—सत्कर्म है। पर जहाँ स्वयं संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है, इकट्ठा करके मालिकी करनेकी आकाङ्क्षा रहती है, संसारकी वस्तुओंको एकत्र करके उन्हें अपना बना लेनेकी वृत्ति, इच्छा या चेष्टा होती है, वहाँ पाप है। अपरिग्रह पुण्य है और परिग्रह पाप है।

हमारा स्वभाव बन जाना चाहिये कि हम अपनी परिस्थितिका, प्राप्त सामग्रीका, साधनोंका सदुपयोग करना सीख जायँ। एकत्रित सम्पत्ति केवल भोगोंमें लगाने या रख छोड़नेके लिये नहीं है। पानी जहाँ एक जगह पड़ा रह जायगा, गंदा हो जायगा, उसमें कीड़े पड़ जायँगे। इसी प्रकार उपयोग-रहित सामग्री भी गंदी हो जाती है। मांस ही अभक्ष्य नहीं है। दूसरेका हक खा जाना भी अभक्ष्य-

भक्षण है। किसी प्रकार भी दूसरेके हकपर अधिकार जमाना पाप है। एक राजाके यहाँ एक महात्मा आये। प्रसंगवश बात चली हककी रोटीकी। राजाने पूछा—'महाराज! हककी रोटी कैसी होती है?'

महात्माने बतलाया कि 'आपके नगरमें एक बुढ़िया रहती है। जाकर उससे पूछना चाहिये।' राजा बुढ़ियाके पास आये और पूछा—'माता! मुझे हककी रोटी चाहिये।'

बुढ़ियाने कहा—'राजन्! मेरे पास एक रोटी है, पर उसमें आधी हककी है और आधी बेहककी।' राजाने पूछा—'आधी बेहककी कैसे?'

बुढ़ियाने बताया कि 'एक दिन मैं चरखा कात रही थी। शामका वक्त था। अँधेरा हो चला था। इतनेमें उधरसे एक जुलूस निकला। उसमें मशालें जल रही थीं। मैंने चिराग न जलाकर उन मशालोंकी रोशनीमें आधी पूनी कात ली। उस पूनीसे आटा लाकर रोटी बनायी। अतएव आधी रोटी तो हककी है और आधी बेहककी। इस आधीपर जुलूसवालेका हक है।'

यहाँतक हकका खयाल था। किसीके हककी चीज जरा भी हमारे घरमें न आ जाय। इसे लोग बड़ा पाप मानते थे। यदि किसीके हककी चीज हमारे घरमें आ गयी और हमने रख लिया तो हमने चोरी की, पाप किया।

आजकल इस हकका कोई ध्यान नहीं है। लोग चाहे जैसे सम्पत्ति संग्रह करते हैं और उसपर अपना सहज स्वत्व मान रहे हैं,

दूसरेका हक मानते ही नहीं। ऐसा करनेवाले सर्वथा पाप ही कर रहे हैं। एक साधुने मुझसे कहा, 'आजकल हम किसकी रोटी खायँ। सच्चा ईमानदार कौन है।' जैसा खाते हैं अन्न, वैसा बनता है मन। अन्नके अनुसार ही मनका निर्माण होता है। जैसी कमाई होती है, वैसा ही अन्न होता है। कमाईका अन्नपर बहुत प्रभाव पड़ता है। वैसे तो शुद्ध सात्त्विक वस्तु, सात्त्विक शुद्ध स्थानमें बनायी गयी हो, शुद्ध पुरुषोंके द्वारा परसी गयी हो, वह शुद्ध है। शुद्ध स्थान और स्पर्श आदि सब इसमें कारण हैं। परंतु मूलतः एक चीज है, जिससे सारी शुद्धि होनेपर भी वस्तुमें बड़ी अपवित्रता रह जाती है। वह है धनकी अशुद्धि। चोरीके, असत् कमाईके धनसे प्राप्त अन्न सदा अपवित्र रहता है। इसी प्रकार पवित्रता भी उसीपर निर्भर है। अतः यह समझना चाहिये कि जिसके पास जो कुछ है, वह सब-का-सब परार्थ है। अर्थात् वह सबका मिला हुआ धन है। उसमें सबका भाग है। वह सबका है। मेरा नहीं है। जहाँ-जहाँ उसकी आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, उदारता, सदाशयता एवं समादरके साथ उसका उपयोग करना कर्तव्य है। किसी आदमीको आप कुछ अधिक भी दे दें, एक रुपयेकी जगह पाँच रुपये भी दे दें, पर उसे झिड़ककर अपमानित करके दें, तो उससे उसका मन सुखी नहीं होगा, संतुष्ट नहीं होगा। विनम्र और मधुर वाणीकी बहुत आवश्यकता है। वही बोली है, जिससे आप हर किसीके हृदय-कमलको प्रफुल्लित कर सकते हैं। वाणीकी कठोरतासे आप हर किसीको पीडित भी कर सकते हैं। अपमानभरी, उपेक्षाभरी,

घृणाभरी कटूक्तियोंकी जितनी तीखी चोट दीन पुरुषके मनपर जाकर लगती है, उतनी सम्पन्नके नहीं लगती। किसी पहलवानको आप घूसा लगायें, जो पूर्ण स्वस्थ है, सबल मांसपेशियाँ हैं जिसकी; पहले तो उसे आप घूसा लगानेका साहस ही नहीं करेंगे और कहीं आपने लगाया तो तत्काल ही आपको दुगुने वेगसे उत्तर भी मिल सकता है। पर आपके घूसेका उसे पता नहीं चलेगा। वह उसे सह लेगा, किंतु यदि किसी दुर्बलको आपने घूसा लगा दिया, तो वह बेचारा वहीं तलमला जायगा, ऐंठ जायगा, पीड़ित हो जायगा।

किसी बड़े आदमीको आपने कुछ कहा भी तो वह उधर ध्यान नहीं देगा, सुनेगा ही नहीं, क्योंकि उसकी तारीफ करनेवाले बहुत लोग हैं। तारीफके नगाड़ोंमें आपकी निन्दाकी क्षीण ध्वनि सुनायी ही नहीं देगी। किंतु वही बात आप किसी गरीबको कह देंगे तो उसके कलेजेमें चुभ जायगी। वह मर्माहत हो जायगा। इसीलिये 'बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥' कहा है। विपत्तिकालमें सौगुना स्नेह करे, तब वह एकगुनाके बराबर होता है। दीनकी विपत्ति उसपर इतनी लद जाती है कि वह उससे दब जाता है। उसका अन्तर रात-दिन रोता रहता है। उसके अन्तरमें आँसुओंकी धारा बहती रहती है और वह उसे प्रकट नहीं कर पाता। छिपाये रहता है। कभी-कभी वह चुपचाप कराह भी लेता है। रो भी लेता है। और लोगोंकी झिड़कियोंके, अपमानके डरसे वह अपने दुःखको प्रकट

नहीं करता। उसका स्वभाव बदल जाता है। क्योंकि उसकी सुननेवाला संसारमें कोई नहीं है। यह बात उसके मनमें बैठ जाती है। अतएव जो उसके आँसू पोंछ सके, उसके साथ सहानुभूति दिखा सके, समवेदना रख सके, वही सदाशय है। गरीबकी सुने, दीनकी सुने, अनाथकी सुने और उसके अन्तरकी पीड़ाको यथाशक्ति दूर करनेका प्रयत्न करे—वही मनुष्य है।

भगवान्‌ने अपनेको सब प्राणियोंका 'सुहृद्' कहा है 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'। भगवान् केवल भक्तोंके, संतोंके ही सुहृद् होते तब तो उनका कोई महत्त्व नहीं था। फिर तो लेन-देनकी चीज होती, स्वार्थकी चीज होती, पर वे तो सबके सुहृद् हैं। दीन-अनाथोंके भी हैं, इसीमें उनका महत्त्व है। भगवान्‌का यह स्वभाव सबकी सम्पत्ति है। दीनोंकी विशेष रूपसे। इसी प्रकार सभी सत्पुरुषोंका स्वभाव दीनोंकी सम्पत्ति होना चाहिये। जिस-किसीके पास जो कुछ सम्पत्ति हो, उसे सहानुभूतिके साथ, समवेदनाके भावसे, सौहार्दसे और सदाशयतासे बिना किसी भेदभावके समादरपूर्वक दुखियोंके दुःख दूर करनेमें लगा देना चाहिये। दीनकी सेवाके लिये दूकान खोलकर बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। 'मैं दुखियोंका दुःख दूर करनेवाला हूँ' ऐसी घोषणा नहीं करनी है। ऐसी घोषणा या तो दुखियोंको निर्लज्ज बना देती है या शूल बनकर उनके मनोंमें चुभ जाती है। दुखियोंका दुःख दूर करनेकी मनमें एक तीव्र आकाङ्क्षा होनी चाहिये। अपने हृदयमें एक ऐसी शूल-सी चुभनी चाहिये कि जो दुखियोंका दुःख दूर किये बिना मिटे ही नहीं।

सच तो यह है कि दुखियों, दीनों और गरीबोंपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। वे भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं। जो दुखी हैं, दीन हैं, वे भगवान्‌की कृपाके विशेष पात्र हैं। क्योंकि उनके पास मोहमें फँसानेवाली सामग्रियाँ नहीं हैं। उनके मनको मोहित करनेवाली वस्तुएँ उनसे दूर हट गयी हैं; किंतु जगत्‌में जिनके पास कुछ वस्तु है, उनका यह धर्म है कि वे उस वस्तुपर उन दीन-दुखियोंका हक मानें और सहानुभूतिके साथ उनके दुःखमें हिस्सा बँटानेका प्रयत्न करें। उनका दुःख तो भगवान्‌के मङ्गलविधानसे ही है और उसी विधानसे वह दूर भी होगा। आप उनका दुःख मिटा नहीं सकेंगे, पर उनका दुःख मिटानेकी चेष्टासे आपका भला हो जायगा; क्योंकि आप उसके निमित्त बनेंगे। अतः निमित्त बनकर सुखी हो जाइये। कोई निराश हो तो उसके मनमें आप आशाका संचार करें, पथ भूलेको मार्ग बता दें, डूबतेको उबार लें, रोते हुएके आँसू पोंछ दें, यहाँतक कि दुःखीके दुःखको सुनभर लें, तो इससे भी उसे बड़ा आश्वासन मिलेगा। उसके मनमें सुखानुभूति होगी। वह समझेगा, मेरा भी कोई है। जिसके कोई नहीं है, आप उसके बन जायँगे, तो उसके मनमें एक बड़ी मीठी सुखकी लहर दौड़ जायगी। जिनके अनेक प्रशंसक हैं, उनपर आपकी प्रशंसाका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। पर जिसको पूछनेवाला कोई नहीं, जिसका कोई सहारा नहीं, जो अनाश्रित और असहाय एक कोनेमें पड़ा है, आप उसके पास बैठ जायँगे, इतनेमें ही उसे शान्ति मिल जायगी। वह समझेगा कि किसीने उसे पूछा तो।

कोढ़का एक दुःसाध्य रोगी था। वह बड़ा ही हठी और नास्तिक था, उसके तमाम अङ्गोंमें कोढ़ फूट रही थी। प्रसिद्ध संत फ्रांसिस उसके पास गये, तो वह गाली देने लगा; क्योंकि उस ओरसे निकलनेवाले सभी उसे गालियाँ देते और नाक दबाकर घृणासे मुँह फेर लेते थे। इसलिये उसकी धारणा हो गयी थी कि सब-के-सब मुझसे घृणा करनेवाले ही हैं। परंतु संत फ्रांसिस उसकी गालीकी परवा किये बिना ही आगे बढ़ते गये और उसके पास पहुँचकर अत्यन्त विनम्र वाणीसे बोले—'भैया! तुम मुझे भले ही गाली दो, मारो, पर मैं तुम्हारे पास अवश्य आऊँगा, तुम्हारे घाव धोऊँगा, उनपर पट्टियाँ बाँधूँगा और तुम्हारी हर तरहसे सेवा करूँगा।' संत फ्रांसिसकी वाणीका कोढ़ीपर अत्यन्त शीतल प्रभाव पड़ा। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। सान्त्वना मिली। संतने उसकी सेवा करके उसके जीवनको सुखी बना दिया।

महारानी एलिजाबेथ राजभवनको छोड़कर अपना तन-मन देकर, अपना सर्वस्व देकर, दीन-दुखियों, गरीबोंकी झोंपड़ियोंमें घूमती रहीं—उनकी सेवा करने एवं उन्हें सुखी रखनेके लिये।

ईसाइयोंमें ऐसे कितने ही महात्मा हो गये हैं, जिनका समस्त जीवन दुखियोंके दुःखोंको मिटानेमें ही बीता है। अपने दुःखोंकी उपेक्षा करो, पर दूसरोंके दुःखोंको कभी मत भूलो। भगवान्‌ने

किसीके साथ द्वेष न करने और सबके साथ मित्र-भावसे बर्तनेकी आज्ञा दी है। ('अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः········')

मित्र अपने पहाड़-से दुःखको रजकणके समान समझता है और मित्रके रजकण-से दुःखको पहाड़-सा मानता है। 'निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥' दुखीके दुःखकी उपेक्षा तो करो ही मत। उसके जरा-से दुःखको बड़ा भारी समझकर उसके दूर करनेमें लग जाओ। अपने लाभके लिये तो किसीको चोट पहुँचाना बड़ा पाप है।

एक सेठने अपना मकान बनवाया। मकानके बगलमें एक गरीब बुढ़ियाकी झोंपड़ी थी। मित्रोंने राय दी कि यदि यह बुढ़िया-की झोंपड़ीकी भूमि भी मिल जाय तो अपना मकान और भी विस्तृत, सुन्दर और आकर्षक बन जायगा। सेठजीने इसे स्वीकार कर लिया। यह बात बुढ़ियाको माल्रम हो गयी। तब सेठके पास आकर उसने कहा—'मुझे तो आशा थी कि तुम बड़े आदमी मेरे पड़ोसी हुए हो, तो मेरी कुछ सहायता करोगे, मेरे दुःखके आँसू पोंछोगे, तुम्हारे आनेसे मुझे कुछ सुख मिलेगा, पर तुम्हें तो यह नन्हीं-सी मेरे बच्चेके बाप-दादोंकी झोंपड़ी भी नहीं सुहायी। इसीसे तुम इस झोंपड़ीको भी उजाड़-फेंकना चाहते हो। ऐसा मत करो। यह मेरे पूर्वजोंकी निशानी है। इसे नष्ट करनेसे तुम सुखी नहीं रह सकोगे। भगवान् तुम्हारे इस अन्यायको नहीं देख सकेंगे। सेठ चतुर था, वह समझ गया। उसने बुढ़ियाको आश्वासन देकर उसकी जमीन लेनेका विचार छोड़ दिया।

कोई बलवान् और समर्थ यदि किसी निर्बलपर टूट पड़े तो वह बेचारा क्या करेगा। पाँच वर्षके सुकोमल अशक्त बालकको दस आदमी घेरकर मारने लगें तो वह कैसे बचेगा। किसके सामने रोयेगा। दुर्बल, दीन, असहाय और असमर्थको बलवान् सतायें तो वह किसके पास जाय! वह तो बोल भी नहीं सकता। वह रोता है, उसका अन्तर रोता है, उसके हृदयमें आग जल उठती है और उस अन्तरकी आगकी जरा-सी चिनगारी, उसके पीड़ित हृदयकी एक आह बलवान्के सारे बलको चूर्णकर उसके सर्वस्वको भस्म कर डालती है। याद रक्खो, गरीबको मत सताओ, असहायको कभी पीड़ित मत करो। दुर्बलपर कभी बल-प्रयोग मत करो और अनाश्रितको किसी प्रकारका कभी भी कष्ट मत दो। उसे प्रलोभन देकर उसके हृदयपर आघात मत करो। बुढ़ियाको सेठ दो-चार बीघे अच्छी जमीन दे सकता था, पर उसका जो झोंपड़ीपर ममत्व था, उसके लिये वह क्या कर सकता। वह दो बीघे जमीन उसे सुख नहीं देती। वह समझती, मेरी कमजोरीका अनुचित लाभ उठाकर मुझे उजाड़ा जा रहा है। उसकी जगह आप होते तो बताइये, इस अवस्थामें आपके मनपर क्या बीतती।

अपनी शक्तिका उपयोग तो दुर्बलकी रक्षा करनेमें होना चाहिये। गरीब दुर्बल नष्ट हो जाय, बर्बाद हो जाय, ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये। जहाँ कोई समान शक्तिवाला है, वहाँ आप कुछ करते हैं तो एक बात भी है। यद्यपि लड़ना तो वहाँ भी नहीं चाहिये, परंतु लड़े भी तो आपको कुछ सोचना पड़ेगा। पर जहाँ

दुर्बल है, असहाय है, वहाँ आप उसपर नाराज होकर मनमानी कर सकते हैं। वह बेचारा क्या बोलेगा? मान लीजिये, एक विधवा बहिन है, घरमें अकेली है, सास-ससुर उसे रात-दिन कोसते हैं; कहीं बीमार हो गयी तो कहते हैं 'फरेब करती है।' 'कामका बहाना करती है।' उसको क्या तकलीफ है, कोई पूछता नहीं। दवा होती नहीं, वह बेचारी किससे कहे। उसकी कौन सुने। कोई हजार चोट मार ले, वह बोल तो सकती नहीं, पर उसका अन्तर रोता रहता है। दुर्बलको सतानेमें इस प्रकार अपनी शक्ति लगाना तो शक्तिका महान् दुरुपयोग ही है।

इस बातको खूब याद कर लो कि तुम्हारे पास जो कुछ है, वह दीनोंके लिये, अनाथोंके लिये और गरीबोंके लिये ही है। उन्हीं-के हककी चीज है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि अपनी शक्ति, सम्पत्ति, जीवन—सबको देकर उसके बाद जो कुछ बचे, उससे अपना काम निकाले। यह जो बचा हुआ है, वही यज्ञावशेष है। इस प्रसादको व्यवहारमें लानेसे सारे पापोंका नाश होता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

पर जो अपने लिये ही सब कुछ करते हैं, कमाते-खाते हैं, वे पाप खाते हैं।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

वह पापमय जीवन है, जो इन्द्रियाराम हैं। वह व्यर्थ ही जीता है। 'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति' वह पाप खाता है। अतः पाप मत खाइये। सबको सबका हक देकर, सबको स्वत्व देकर, बचे हुएसे अपना निर्वाह कीजिये। वह अमृत है।

यही यज्ञावशेष है। यह कभी मत मानो कि मेरे पास जो सम्पत्ति है, वह मेरी है। तुम उसके ट्रस्टी हो, व्यवस्थापक हो, मैनेजर हो, उसे भगवान्‌की समझो और उसे भगवान्‌की सेवामें यथायोग्य लगाकर धन्य हो जाओ। तभी तुम भगवान्‌के ईमानदार सेवक हो और यदि उसे तुमने अपनी माना और अपने उपयोगमें लिया, तो तुम चोर हो, पापी हो। उसका तुम्हें दण्ड मिलेगा। जहाँ-जहाँपर उन वस्तुओंका उपयोग होनेका प्रसङ्ग हो, वहाँ-वहाँ बिना किसी अभिमानके, बिना किसी अहङ्कारके सरलता और ईमानदारीके साथ उसको गरीबोंकी सेवामें लगाते रहो। गरीबकी, दीनकी जरा-सी भी उपेक्षा करना, उसे कटु वचन कहना उसके मर्मपर चोट पहुँचाना है। धनीकी उपेक्षा प्रथम तो तुम करोगे नहीं, यदि तुम एकने उसकी उपेक्षा की भी तो उसे सम्मान देनेवाले बहुत मिल जायँगे। उसे तुम्हारी परवा नहीं होगी। पर कोई गरीब, दीन तुम्हारे यहाँ गया, तुमने उसकी उपेक्षा कर दी, तो उसको बड़ा दुःख होगा। और यदि तुमने उसे धक्के देकर निकलवा दिया, तब तो तुमने साक्षात् भगवान्‌को ही धक्के देकर निकाला। जहाँ-जहाँ दैन्य है, वहाँ-वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हैं। अतएव जहाँ-जहाँ दीन मिलें, वहाँ-वहाँ उनकी विशेषरूपसे सेवा करो। उसे कुछ देते हुए यही समझो कि उनकी वस्तु ही तुम उन्हें दे रहे हो। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' तुम्हारा उसमें कुछ नहीं है। तुम तो रामकी चीज रामके काममें लगा रहे हो, ऐसा समझो। किसीका भी तिरस्कार हो जाय ऐसा तन, मन, वचनसे कभी मत होने दो—खासकर असमर्थका, असहायका, अनाथका, अनाश्रितका। विश्वास करो—

असमर्थ, अनाथ, अनाश्रितका सम्मान भगवान्‌का सम्मान है। दीनके साथ मधुर वाणीसे, आदरसे बोलना उसे गौरवसे भर देना है, उसे शीतलता और सुख प्रदान करना है। भगवान् श्यामसुन्दर विदुरके घर गये। भगवान्‌के लिये क्या था, पर विदुरके मनमें कितने गौरवका बोध हुआ। कितनी प्रसन्नताकी अनुभूति हुई—'भगवान् भीष्मके यहाँ नहीं गये, कौरवाधिपति दुर्योधनके यहाँ नहीं गये। अन्य राजाओंके यहाँ नहीं गये, मेरे घर आये।' सीमा नहीं थी विदुरके मोदकी।

आप बड़े आदमी हैं। कहीं बाहर जायँगे तो आपकी अभ्यर्थना करनेवाले अनेकों मिल जायँगे; किंतु वहाँ आप किसी गरीबके घर ठहरिये तो उसे बड़ा आह्लाद होगा। उसे तो आशा ही नहीं है कि इतने बड़े आदमी मेरे घर आयँगे। आदरणीय स्वर्गीय श्रीशिवप्रसादजी गुप्त मृत्युके कुछ ही पूर्व गोरखपुर आये थे। मैंने उनसे पूछा कि 'आप अस्वस्थ हैं, यहाँ क्यों आये?' उन्होंने उत्तर दिया, इतना सुन्दर उत्तर दिया, जिसे मैं अबतक नहीं भूल पाया हूँ। उन्होंने कहा था कि—'मैं मरनेवाला हूँ। मेरे कुछ गरीब सम्बन्धी रहते हैं यहाँ। जिनके पास पैसे नहीं हैं' उनमें कुछ बूढ़ी स्त्रियाँ हैं। मुझे उन सबके दर्शन कर लेने चाहिये। इसलिये मैं यहाँ आया हूँ।'

श्रीकृष्ण और सुदामाकी मैत्रीमें वस्तुतः महत्त्वकी बात कौन-सी थी? श्रीकृष्ण सुदामाके ही तुल्य होते, तो कुछ भी महत्त्व नहीं था। पर वे तो राजराजेश्वर थे; (भगवान‌की बात छोड़िये) उन्होंने

गरीबके चरण धोये, उसका चरणामृत लिया, उसे महलोंमें टिकाया; उनका पादसंवाहन किया, दीनको गले लगाया यही महत्ता थी। यह महत्ता उनके धनकी नहीं, पर थी उनके गरीबको गले लगाने-की। गरीबके प्रति आदरकी, प्रेमकी और स्नेहकी थी।

गरीबोंके जीवनसे मेल हो जाय, उनके साथ रहने में आनन्द आये—यह महत्वकी बात है। किसी गरीबके आपने आँसू पोंछ दिये, गिरतेको उठा लिया, डूबतेको बचा लिया तो इसमें महत्व है। किसी ऐसे गृहस्थको जो आपसे माँग नहीं सकता, जो आपके पास आ नहीं सकता, जो सफेद कपड़े पहनता है, आपसे कुछ कह नहीं सकता, उसके पास एक ही सफेद कपड़ा है, जिसे पहनकर वह बाहर निकलता है, आपसे कुछ बताता नहीं। ऐसेको ढूँढ़िये और उसकी गुपचुप सहायता कीजिये। उसको मालूम हो जायगा तो उसकी प्रतिष्ठापर आघात पहुँचेगा। दूरसे, चुपकेसे उसकी दशाका निरीक्षण कीजिये और उसका अभाव दूर कीजिये।

मेरे एक परिचित सज्जन हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। उनके यहाँ तीन वर्षसे प्रतिमास एक सौ रुपये आते हैं, पर कौन भेजता है, उसका स्वयं उन्हें भी पता नहीं है। मैं तो ऐसे मनुष्यको महापुरुष मानता हूँ। आजके युगमें सहायताका विज्ञापन पहले किया जाता है, सहायता पीछे की जाती है। यह निन्दनीय और हानिकारक चीज है। चाहिये तो यह कि हम जैसे अपने दुःखको दूर करनेमें लगते हैं, वैसे ही दूसरेके दुःखको दूर करनेमें लग जायँ। कोई अपने दुःखको दूर करनेमें क्या गौरव मानते हैं? क्या

वे अपने ऊपर उपकार मानते हैं ? बाढ़ आनेवाली हो और हम अपनी झोंपड़ीकी चीजें बाहर सुरक्षित स्थानमें ले जायँ, इसमें गौरव-की क्या बात है, ऐसा किये बिना हम रह ही नहीं सकते। ठीक इसी प्रकार दीनोंकी सेवाके लिये मनमें तनिक भी गौरव-बुद्धि न हो, अहंताका तनिक भी स्पर्श न हो। उनका स्वत्व मानकर सेवा करें। यह ध्यान रहे कि हमारी सेवा किसीके सिरको कभी नीचा न करे। 'मैं गरीब सहायताका पात्र हूँ और ये मेरे सहायक हैं' तुम्हारे किसी बर्तावसे ऐसा उसके मनमें न आने पावे। जब आदमी अपनेको अच्छी प्रतिष्ठावाला मानता है और अभावग्रस्त हो जाता है, तो वह भगवान्से मनाता है कि 'हे भगवन्! मुझे दूसरेका मोहताज होना पड़े, ऐसा कभी न करना।' किसी दूसरेके प्रति यह हमारे मनमें कभी न आ जाय कि वह हमारे सहारे जीता है। दूसरेके द्वारा भी संकेतसे भी कभी उसको न जनाया जाय कि उसके दुःखमें आपने हाथ बँटाया है। यह सुनकर वह कृतज्ञ तो होगा, यदि वह अच्छा आदमी है। परंतु उसके मनमें ऐसी एक शूल चुभ जायगी कि जिसके दूर करनेका आपके पास कोई साधन नहीं है। किसीकी सेवा करके उसकी प्रतिष्ठा और उसके सम्मानमें ठेस न लगाइये। उसको अपनेमें अश्रद्धा कभी न होने दीजिये। उसके मानस-स्तर (Morale) को कभी न गिराइये। सम्मान सबको प्रिय है। किसी गरीबको कुछ देना हो तो उसे यह जँचा दीजिये, जिसमें वह यह समझे कि वह उसकी अपनी ही चीज ले रहा है। नहीं तो गुप्त रीतिसे सम्मानके साथ उसका हक समझकर उसकी सेवा करनी

चाहिये और कहीं यह भाव आ जाय कि यह तो साक्षात् भगवान् हैं, तब तो उस सेवासे आपको भगवत्प्राप्ति हो जायगी। मुक्ति मिल जायगी।

हमारे यहाँ शास्त्र कहते हैं कि भोजन करने बैठे उस समय जो कोई आ जाय, वह जैसा भी हो, जाति, कुल भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं। उसको भगवान्‌का स्वरूप मानकर खिला दे। इसी प्रकार तुम्हारे पास जो आ जाय, अपनी शक्तिसे तुम उसकी सेवामें लग जाओ।

बहुत-से लोग कह दिया करते हैं कि 'इस प्रकार देकर लोगोंको भिक्षुक बनाना है।' पर यह एक बहानेबाजी है। देनेकी भावना है नहीं। पहले तो ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जो बिना आवश्यकताके माँगने आयें, परंतु यदि ऐसा हो भी गया तो आपका कुछ बिगड़ेगा नहीं, कोई हानि नहीं होगी। आपका तो लाभ ही होगा।

यदि प्राप्त साधनको उनकी सेवामें लगाना कर्तव्य नहीं मानोगे तो तुम्हें उसे छोड़नेके लिये तो बाध्य होना ही पड़ेगा। छोड़कर जाना ही पड़ेगा। मृत्यु होनेपर अपने शरीरसे निकलकर तुम देखोगे कि तुम्हारी तिजोरीकी चाभी, जिसे तुम किसीको देते नहीं थे, दूसरे ले रहे हैं, तुम्हारी तिजोरी खोल रहे हैं, पर तुम कुछ भी नहीं कर पा रहे हो। तुम्हारी सम्पत्ति दूसरेके हाथमें चली जायगी। पर तुम कुछ नहीं कर सकोगे। निरुपाय हो जाओगे। इसलिये सारी चीजें भगवान्‌की मानकर उनपरसे अपना स्वत्व उठा लो।

अपनी सारी चीजोंपर उसका हक मान लो। 'विश्व' भगवान्‌का नाम है। विष्णुसहस्रनाममें सबसे पहले 'विश्व' नाम आया है, अतएव विश्वमें जहाँ-जहाँपर अभाव है, जहाँ-जहाँपर जिस-जिस वस्तुकी आवश्यकता है; वहाँ-वहाँपर उस चीजको दो। जिसके साथ बोलनेवाला नहीं है, उससे उसके अपने बनकर बोलो; जिसको कोई सहारा देनेवाला नहीं है, उसे सहारा दो, जिसके पास पैसे नहीं हैं, उसे पैसे दो, जिसके पास खानेके लिये अन्न नहीं है, उसे अन्न दो, जो भयभीत है, उसे अभय दो एवं जिसके कोई बन्धु नहीं उसके बन्धु बन जाओ। भगवान् ही इन सब रूपोंमें प्रकट होकर तुमसे अपनी वस्तु माँग रहे हैं। यों उनकी सेवामें लगाकर अपनी सारी चीजोंका सदुपयोग करो। उन्हें भगवान्‌की सेवाके भावसे दीन-गरीब, अनाथ-अनाश्रित, असहाय, निरूपाय और निर्बलकी सेवामें लगा दो। किसीको कभी भी सताओ मत। कई बार आदमी भूलसे भी दूसरोंको सता बैठता है। इससे सावधान रहो।

किसीको चोरी करते देखकर यदि तुम सहृदयतासे उससे मिलोगे, उससे पूछोगे तो पता चलेगा कि उस बेचारेके पेटमें कितने दिनोंसे अन्न नहीं गया है। उसकी कितनी दयनीय स्थिति हो रही है। एक सज्जनके घर एक आदमी रातको चोरी करने आया, वह और कुछ नहीं केवल अनाजकी चोरी कर रहा था और उसकी आँखोंसे आँसू आ रहे थे। घरके मालिक जग गये, उसके पास गये और उससे पूछा कि 'भैया! तुम रो क्यों रहे हो?' उनके इस आत्मीयतापूर्ण प्रश्नको सुनकर वह और भी जोर-जोरसे रोने लगा। उसने बताया कि 'मैं और मेरा परिवार आज कई दिनोंसे भूखे हैं।

नौकरीके लिये, मजूरीके लिये मैंने कितने यत्न किये, पर कहीं सफलता नहीं मिली। भूखसे मेरे तथा मेरे बच्चोंके प्राण छटपटा रहे हैं। विवश होकर मैंने चोरी करनेका निश्चय किया और कई बार आपके यहाँ आया भी; पर साहस नहीं हुआ। जब नहीं रहा गया तो आज साहस बटोरकर अन्न चुराने आ गया। मैं चोर हूँ, मुझे जेल भेज दीजिये।' उक्त सज्जनने अत्यन्त स्नेहसे कहा—'भैया! यह तुम्हारा ही घर है, तुम अपने बाल-बच्चोंको लेकर यहाँ आ जाओ और यहीं रहो।' उनकी इस आत्मीयताका उस क्षुधापीड़ित व्यक्तिके मनपर कैसा प्रभाव पड़ा होगा, उसे कितना सुख और कितना आश्वासन मिला होगा। यह सुख बहुत रुपये देकर भी किसीको नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार गरीबके दुःखको उसके अंदर घुसकर स्वयं उसकी अवस्थामें जाकर देखिये। हमें सोचना चाहिये कि इस अवस्थामें मैं होता तो मैं क्या करता? ऐसी विपत्ति मुझपर आयी होती तो मैं क्या करता? समाजमें एक ओर लोग भूखों मर रहे हैं, वस्त्र, ओषधि और शिक्षाके लिये छटपटा रहे हैं, तड़प-तड़पकर प्राण दे रहे हैं तथा दूसरी ओर धनका अपव्यय हो रहा है, गुलछर्रे उड़ रहे हैं। इसीलिये 'कम्यूनिज्म' आता है और यही दशा रही तो आना खूब सम्भव है। यद्यपि रागद्वेषपूर्ण कम्यूनिज्मसे दुःख बढ़ेगा ही। असम वितरण असंतोष उत्पन्न करता है। एक आदमीके पास नोटोंकी पेटियाँ भरी पड़ी हैं, उसके पास अन्नका बृहद् भंडार है, पर उसके घरसे सटे हुए ठीक उसी प्रकारके रूप-रंगवाले, वैसे ही हाथ-पैरवाले, वैसा ही शरीर

और मन-बुद्धि रखनेवाले, मनुष्यके बच्चे खाये बिना बिलख रहे हैं, छटपटा रहे हैं, कराह रहे हैं। पहननेके लिये उनके पास वस्त्र नहीं हैं। यह समाजका पाप है। ऐसी अवस्थामें जिसके पास जो कुछ है, उसका पहला कर्तव्य है कि उससे वह उन बच्चोंका कष्ट मिटाये। इसके बाद जो बच जाय, उससे अपना काम चलाये। समाजमें जिनके पास जो कुछ है—धन, सम्पत्ति, भूमि, आश्रय, विद्या, बुद्धि, सब अभाववालोंको दे दे। यदि यह नहीं हुआ और वैषम्य बढ़ता ही रहा तो उसका परिणाम अनिष्टकारक होगा ही।

विपत्तिग्रस्त पीड़ित मनुष्यसे यह कहना कि 'तुमने पाप किया है, उसका यह फल है।' जिसका इकलौता जवान पुत्र मर गया हो, उससे कहना कि 'तुम महापापी हो और उस पापके कारण ही तुम्हारा पुत्र मर गया आदि'—बड़ा ही क्रूर कार्य है। इस प्रकारकी बातोंसे उसके हृदयमें शूल चुभ जायगा। यह सच है कि वह अपने कर्मोंका ही फल पा रहा है। परंतु तुम्हारा काम तो अपनी प्राप्त शक्ति और साधनसे उसके घावको भरना, उसके आँसू पोंछना और उसके मनको सान्त्वना देना है। उससे प्रेमसे मिलो, उसे समझाओ और जिस प्रकार उसे धैर्य और संतोष हो, ऐसा प्रयत्न करो। उसके दुःखको एकाध आने भी तुमने कम किया तो बहुत अच्छा किया, पर यदि तुमने उसकी उपेक्षा कर दी, नीति और धर्मका नाम लेकर उसे टाल दिया तो उसके मुँहसे स्वाभाविक ही शाप निकलेगा। महात्मा हो तो दूसरी बात है, पर साधारण व्यक्ति तो यही कहेगा कि 'इनके पास पैसे हैं, साधन है, सुविधा है, मेरे पास भी यदि ये चीजें होतीं तो ये

ऐसा नहीं कहते ।' अतएव किसीके हृदयपर किसी प्रकारकी ठेस मत पहुँचाओ, नहीं तो, उसके मुखसे दुर्वचन निकलेंगे, शाप निकलेगा । पर यदि तुम उसके आँसू पोंछोगे, उसके साथ बैठोगे और उसके साथ मिलकर आधी रोटी खाओगे, जब उसके दुःखमें शामिल होकर उसमें हाथ बँटाओगे तो उसके मुखसे बरबस आशीर्वाद निकलेगा, जो तुम्हें निहाल कर देगा । अतएव जहाँतक सम्भव हो, प्राणपणसे परदुःखका निवारण करना चाहिये । यह मानवताका प्रथम कर्तव्य है । परदुःख-निवारण महान् पुण्य है और परपीड़न महापाप है ।

इसलिये गरीबको कभी सताओ मत । इसका विशेष खयाल रक्खो । स्वस्थ आदमीको हाथ लगानेसे कुछ नहीं होता, पर किसी फोड़े-वालेको हाथ लगाओगे तो वह सह नहीं सकेगा । इसी प्रकार असमर्थ मनुष्यके, जिसके रोम-रोममें पीड़ा है, मनपर आघात करके उसकी पीड़ाको बढ़ाओ मत, उसके दर्दको मिटानेकी कोशिश करो । उसे अपना बनानेका यत्न करो । दर्द न मिटा सको तो कोई बात नहीं, पर उसकी बात सुनकर तो उसके मनको तनिक हल्का तो करो । उसे दिलासा देकर उसके दुःखको बँटा लो । तन, मन, इन्द्रिय, धन, सम्पत्ति, मकान, जमीन—सब वस्तुओंसे—सब प्रकारसे दीनकी, गरीबकी, असमर्थकी सहायता करो । सहायता न कर सको तो कम-से-कम उसे पीडित तो न करो । जहाँ घरमें विधवा बहिन है, वहाँ विशेष खयाल रक्खो । वह तो दुःखसे भरी हुई है ही उसको कुछ भी कहकर तुम उसके दुःखकी आगमें आहुति डाल दोगे तो उसे बड़ी पीडा होगी । जिसके

पास धन, सम्पत्ति, जमीन, मकान नहीं है, उसे इनके अभावकी याद दिलाकर तुम कुछ भी कहोगे तो उसके हृदयमें तीक्ष्ण शूल-सा चुभ जायगा। वह समझेगा, 'मेरे पास कुछ नहीं है, मैं दीन हूँ, मुझे कोई कुछ भी कह ले, मेरा अपमान कर दे, मैं कुछ बोल नहीं सकता।' वह बार-बार भगवान्‌के सामने रोकर कहेगा 'हे भगवन्! हे प्रभु! तुम मुझपर दया करो।' ऐसे अभावग्रस्त मनुष्यके तुम सहायक और आश्रय बन जाओ। उसकी आत्मा बनकर उसके दुःखको भोगो। रन्तिदेवने कहा था—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
> (श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता। मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उनका सारा दुःख मैं ही भोगूँ जिससे और किसी भी प्राणीको दुःख न हो।'

महाराज शिबिने भी कहा था—

> न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
> कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

जितने आर्त हैं, दुखी हैं, वे सब सुखी हो जायँ, मेरा स्वर्ग जाय, मुक्ति जाय, इसकी परवा नहीं। पर वास्तवमें ऐसे पुरुषका स्वर्ग या मोक्ष जायगा नहीं। वे तो महात्माके महात्मा हैं जो दूसरोंके

दुःखको अपना दुःख मानकर उनका दुःख मिटाना चाहते हैं।

दुखियोंको उनके दुःखकी कभी याद मत दिलाओ, कानेको कभी काना मत कहो, विधवाको कभी राँड मत कहो, रोगीको निराश न करो, उसे धीरज बँधाओ। किसी रोगीको, 'तुम अच्छे हो, जल्दी अच्छे हो जाओगे' ऐसा कहो। कहीं नब्ज देखकर यह कह दिया कि 'भाई, कुछ वहम है, डाक्टरको दिखलाओ, एक्सरे कराओ।' इतनेसे ही उसको बड़ा वहम हो जायगा। किसीकी कमीको याद दिलाना उसके चित्तको दुखाना है। जिसमें जो कमी है, वह उसे भूल जाय, ऐसी चेष्टा करो। उसे इससे सान्त्वना मिलेगी। किसी अभावग्रस्तके साथ कभी मखौल मत करो। करोगे तो उसके मनमें बड़ा दुःख होगा। उसके अभावके कारण यदि तुम उसे कोसोगे, तो बहुत बुरा करोगे। कौन जानता है कि उससे भी अधिक अभावमें तुम्हें न जाना पड़े। लँगड़ेका मखौल मत उड़ाओ। क्या पता कि कल तुम्हारे दोनों पैर टूट जायँ। कानेको देखकर मत हँसो, कौन जानता है कि कल तुम अंधे नहीं हो जाओगे। किसी विधवा बहिनको राँड कहनेवाली सुहागिन नारीके लिये कौन जानता है कि कल उसका सुहाग न टूट जायगा। दरिद्र कहनेवालेको कौन जानता है कि कल वह दरिद्र नहीं हो जायगा। जिंदगीका कोई ठिकाना नहीं, संसारकी वस्तु तो सभी अनित्य हैं। अतः किसीमें यदि कोई कमी है, तो वह कमी कल हममें भी आ सकती है। कमीकी याद न दिलाओ। अभावग्रस्तसे दिल्लगी मत करो। उसे बड़ा दुःख होगा। मुझे तो 'गरीब' शब्द ही अच्छा नहीं लगता। जब आदमी कहता है कि 'बेचारा गरीब है' तब उसके

मनमें आता है कि मैं उससे बड़ा हूँ। इससे उसे अपनेमें बड़प्पन लक्षित होता है। गरीबके तो भगवान् गरीब-निवाज हैं, दीनबन्धु हैं। हम गरीबकी सेवा करें, उनका आशीर्वाद लें, उनकी पूजा करके उनके द्वारा अपनाये जायँ, तो हमारा सौभाग्य हो। यदि गरीबोंने हमें अपना मान लिया, तो सच मानिये, हमें गरीबनिवाज भगवान् अपना लेंगे। वे प्रसन्न हो जायँगे। किसी माँने यह जान लिया कि 'इस आदमीने मेरे डूबते बच्चेको बचा लिया, भूखे बच्चेको खिला दिया।' माँको यह मालूम होनेपर उसे बड़ी प्रसन्नता होगी और वह आपको हृदयसे आशीष देगी। इसी प्रकार भगवान् सब गरीबोंकी माँ हैं। ये सब गरीब भगवान्के बच्चे हैं। इनकी सेवा करके हम भगवान्को राजी कर लेते हैं। ये राजी हो जायँगे तो इनकी माँ 'भगवान्' अपने आप ही हमपर राजी हो जायँगे। बच्चेकी माँके पास कोई चीज होती है, तो वह बच्चेके स्नेहसे आकृष्ट होकर अपने बच्चेका कल्याण करनेवालेको दे देती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु हमको दे देंगे। अतएव दीनोंकी, गरीबोंकी, रोगियोंकी, विधवाओंकी, अनाथोंकी, असहायों-की, दुखियोंकी, आपसे जितनी हो सके, जहाँ हो सके, जैसे हो सके, उतनी ही, वहाँ ही, वैसे ही, तन-मन-धन, विद्या-बुद्धि शक्ति-सामर्थ्य सभी वस्तुओंसे अभिमान छोड़कर उनका स्वत्व मानते हुए उनकी सेवा, सहायताकर अपनेको धन्य बनाइये। आप इस प्रकार दीनोंकी सेवा करेंगे तो भगवान् आपका कल्याण करेंगे। निश्चय कल्याण करेंगे।

आसुरी शक्तियोंपर विजय पानेके लिये भगवदाराधन और देवाराधन कीजिये !

भारतीय संस्कृति प्राणीमात्रमें एक 'भगवान्' और 'आत्मा' मानती है। इसीलिये प्राणीमात्रका हितचिन्तन उसका सहज स्वभाव है। सबमें परस्पर प्रेम रहे, सब सबका हित साधन करें, कोई किसीसे द्वेष-वैर न करे, सब सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें—यह हमारा आदर्श है। इसीसे भारतका यह स्वाभाविक नारा है—

> सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग किसीको न मिले।' परंतु इस परम पवित्र आदर्शपर विश्वके मनुष्य चलते रहें, इस आदर्शका पालन-संरक्षण और विस्तार हो, इसके लिये प्रयत्न तथा इसमें बाधा देनेवाली प्रबल आसुरी शक्तियोंका दमन आवश्यक है। आसुरी शक्तिके दमनमें उसका भी हित है। दमन न होनेपर वह यदि बढ़ती चली जायगी तो उत्तरोत्तर उसका पापपूर्ण विस्तार होता जायगा, जो उसके लिये भी परिणाममें अत्यन्त घातक होगा। जैसे अपने ही किसी अत्यन्त सड़े हुए अङ्गको

ऑपरेशनके द्वारा निकलवा देना आवश्यक होता है, उसी प्रकार विश्वमानव-शरीरके सड़े हुए अङ्गका भी ऑपरेशन आवश्यक है। फिर, जहाँ भौतिक राज्य-संचालनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी है, वहाँ तो सुरक्षाका प्रयत्न भी भगवत्पूजाका एक आवश्यक अङ्ग है। हमलोगोंने शान्ति और अहिंसाके नामपर इसकी ओर ध्यान नहीं दिया, इसीसे आज दुर्दान्त चीन और पाकिस्तान भारतपर आक्रमण करनेकी बड़ी तैयारी कर रहे हैं और इस समय चीनके द्वारा सैन्य-संग्रहके अतिरिक्त आक्रमणकी कोई क्रिया न होनेपर भी पाकिस्तान-ने तो जहाँ-तहाँ आक्रमण भी आरम्भ कर दिया है। इनके इस बढ़े हुए रोगका नाश करके इन्हें नीरोग बनाकर इनका हित-साधन करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भारतको अपना बल-विक्रम शौर्य-वीर्य इतना बढ़ा लेना चाहिये कि किसीका भी भारतकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखनेका साहस न हो और भारतकी जो भूमि अन्यायपूर्वक दबा ली गयी है, उसे भी लौटा देना पड़े। इस दिशामें हमारी सरकारको पूरा प्रयत्न करना चाहिये और जनताको हर तरहसे उसमें सरकारकी सहायता करनी चाहिये।

भारत सदासे ही शान्ति चाहता है और वह सदा ही शान्ति चाहता रहेगा; पर यदि उसपर कोई अन्यायपूर्वक आक्रमण करना चाहेगा तो उसको पूरा दण्ड दिया जायगा—यह हमारी नीति होनी चाहिये।

परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल भौतिक बल-विक्रमसे ही काम नहीं चलेगा। पूर्ण विजय प्राप्त करनेके लिये 'अध्यात्म-

बल'—'दैवी बलकी परम आवश्यकता है । अतएव मूर्खतावश भारतपर आक्रमण करनेवाले इन देशोंकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये और भारतके अजेय बलके सामने इनका साहस सदाके लिये नष्ट हो जाय, इसके लिये स्थान-स्थानपर भगवदाराधन और देवाराधन-का पवित्र कार्य होना चाहिये। वैदिक और तान्त्रिक विष्णुयाग, रुद्रयाग, गायत्रीपुरश्चरण, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदिके द्वारा शक्तिकी आराधना, मृत्युञ्जय आदिके द्वारा भगवान् शङ्करकी उपासना, *वाल्मीकीय रामायण तथा रामचरितमानसके सम्पुटित पारायण*, रामरक्षास्तोत्र, नारायणकवच, शिवकवच आदिके अनुष्ठान, बगला-मुखीके अनुष्ठान, अखण्ड नामकीर्तन तथा सामूहिक प्रार्थनाके आयोजन सर्वत्र होने चाहिये ।

हम अपने देशवासियोंका ध्यान नम्रतापूर्वक इधर खींचते हुए उनसे निवेदन करते हैं कि वे अपने-अपने क्षेत्रमें तन-मन-धनसे यथाशक्ति सरकारकी सहायता करते हुए ही विशेषरूपसे भगवदा-राधन और देवाराधनकी ओर ध्यान देकर इन अनुष्ठानोंका आयोजन उत्साहपूर्वक करें-करायें, भगवान्की कृपापर विश्वास रखें । जहाँ भगवान्का आश्रय होगा और पर्याप्त बल होगा, वहाँ विजय सुनिश्चित है ।

जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ ।
मेरे मतसे वहाँ सदा श्री, विजय, भूति ध्रुव नीति यथार्थ ॥

भगवान्‌का मङ्गल-विधान

पुरुषार्थ करनेवालेको यदि असफलता मिलती है, तो वह अपने कर्ममें त्रुटि तथा दूसरोंको बाधक मानकर दुखी होता है। प्रारब्धवादी असफलतामें अपने भाग्यको कोसकर दुखी होता—रोता है। पर जो प्रत्येक फलमें भगवान्‌की कृपासे भरा हुआ भगवान्‌का मङ्गल-विधान देखता है, वह न तो प्रचुर सम्पत्तिमें हर्षित होता है, न भारी विपत्तिमें रोता है। वह शान्तिपूर्ण चित्तसे निरन्तर अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानकर उसीमें कल्याण मानता हुआ आनन्दमग्न रहता है। वह हर अवस्थामें भगवान्‌की सुहृत्ता तथा कृपाके दर्शन करता है।

करनेयोग्य

(१) 'भगवान् स्वभावसे ही दयालु और सुहृद् हैं। भगवान्‌की मुझपर अहैतुकी कृपा बरसती रहती है। वे मेरे लिये जो कुछ भी फल-विधान करते हैं, उसमे निश्चय ही मेरी आत्माका परम कल्याण है। जो कुछ भी दुःखके रूपमें आता है, वह भगवान्‌का आशीर्वाद है और जैसे सोनेको आगमें तपाकर शुद्ध किया जाता है, वैसे ही भगवान् दुःखोंमें तपाकर मुझको शुद्ध कर रहे हैं तथा अपने पास सदाके लिये बुला लेनेकी व्यवस्था कर रहे हैं। भगवान् मेरे हैं, भगवान् ही मेरे हैं और कुछ भी मेरा

नहीं है। मुझे भगवान् कभी छोड़ते नहीं, छोड़ सकते नहीं। उन्होंने मुझको अपना बना लिया है'—

इस प्रकार दिनमें कई बार निश्चय करना है।

(२) 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—

—इस नाम-मन्त्रकी १४ मालाका जप रोज करना है। मालापर जप होनेमें सुभीता न हो तो दिनभरमें ढाई घंटा (एक बार, दो बार या तीन बारमें) जप पूरा कर लेना चाहिये।

(३) भगवान्‌के स्वरूपकी पहले भलीभाँति धारणा करके फिर ध्यान करना चाहिये।

(४) अपनेपर भगवान्‌की महान् कृपा समझकर हर-हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। कभी न उदास होना चाहिये, न रोना।

(५) सबके साथ नम्रताका व्यवहार करना चाहिये तथा सहनशील बनना चाहिये।

(६) संसारके सम्बन्धको नाटकके सम्बन्धकी तरह केवल खेलमात्र मानना चाहिये। कभी भी राग, द्वेष, ममता, मोह नहीं करना चाहिये।

(७) जब जप-ध्यानमें मन न लगे, तब अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिये तथा घरके प्रत्येक कामको भगवान्‌की पूजा समझकर करना चाहिये।

दोष न देखकर गुण देखिये

तमाम दोषोंसे बचकर, तमाम अवगुणोंको हटाकर सद्गुणसम्पन्न हों और भगवान्‌के दैवीगुणोंको अपना लें, यह भगवान्‌को प्राप्त करनेका एक अन्यतम साधन है। ऐसा करनेके अनेक उपाय हैं—उनमें एक यह है कि हम निरन्तर सद्गुणोंका चिन्तन करें। अपने अवगुणोंको दूर करनेके दो प्रकार हो सकते हैं—(१) हम अवगुणोंसे डरते और उनसे लड़ते रहें और (२) हम लगातार बड़ी सावधानी तथा उत्साहके साथ सद्गुणोंको पुष्ट करते रहें। इनमें मनोवैज्ञानिक सुन्दर तरीका यह है कि हम सद्गुणोंका निरन्तर चिन्तन करें और उनको परिपुष्ट करें। दूसरोंके भी और अपने भी। इसमें और भी बहुत-से लाभ हैं। घरमें, भाई-भाईमें, हिस्सेदारोंमें, घरके सम्बन्धियोंमें, परिवारके लोगोंमें, पड़ोसियोंमें मतभेद तथा झगड़ा हो तो क्या करें! यह बहुत समझने तथा विचार करनेकी बात है। उनके दोषों—अवगुणोंको याद कर, उन्हें बताकर और उनकी आलोचना करके एक-दूसरेसे लड़ते रहें, परस्पर दुःख पहुँचाते तथा दुखी होते रहें, यह ठीक? या उनके सद्गुणोंको देखकर, उनकी सराहना करें, उनको पुष्ट करते रहें, यह ठीक है? किसीके भी दोषको देखकर, उसे बताकर या उसकी कटु आलोचना करके आप उसे ठीक नहीं कर सकते। इससे वह और भी चिढ़ जायगा तथा यदि बुराई उसमें है तो वह उसे अपनी चीज मानकर दृढ़तासे पल्ले बाँध लेगा और आपको अपना शत्रु मानने लगेगा। पर यदि आपने उससे यथार्थ प्रेम किया, उसके गुणोंकी तारीफ की,

झूठ-मूठ नहीं, खुशामदके लिये नहीं, किसी बुरी नीयतसे नहीं, सचमुच आपने उसके गुणोंको देखा और उसकी प्रशंसा की, तो उसके मनमें आपके प्रति सद्भाव उत्पन्न होगा, वह क्रमशः आपका मित्र बन जायगा। झगड़े-कलह शान्त हो जायँगे और आपसमें सहज ही संतोषजनक समझौता हो जायगा। यह दूसरेके लिये ही नहीं, अपने लिये भी आवश्यक है। निरन्तर अपनेको दीनहीन, साधनहीन और अकर्मण्य मानते रहेंगे तो जीवन उल्लासहीन, साहसहीन और विषादमय हो जायगा। सर्वत्र निराशा छा जायगी। परंतु यदि आपने भगवान्‌के शुद्ध बलपर अपनेमें साहस, धैर्य, सद्‌गुण और कर्मण्यताका अनुभव किया तो चित्तमें उल्लास होगा और जीवनमें आशाका संचार होता रहेगा। सफलता आपका चरण चूमनेके लिये लालायित रहेगी। एक ईसाई विश्वासी भक्तने बहुत ही सुन्दर कहा है—

God is my help in every need;
God does my every hunger feed;
God walks beside me, guides my way,
Through every moment of the Day.

I now am wise, I now am true,
Patient, kind, and loving too,
All things I am, can do and be,
Through Christ, the truth that is in me.

God is my health, I cant be sick;
God is my strength, unfailing, quick;

God is my all, I know no feer,
Since God and love and truth are here.

है प्रत्येक अभाव-दशामें, मेरा पूर्ण सहारा ईश्वर ।
है मेरी प्रत्येक भूखमें भोजन देता प्यारा ईश्वर ॥
चलता मेरे साथ निरन्तर मार्गदर्शक मेरा बनकर ।
रहता मेरे संग सदा वह दिनभर प्रतिपल मेरा ईश्वर ॥
मैं अब प्रज्ञावान् हो गया, छायी जीवनमें सचाई ।
धीरज, दया, प्रेमकी मुझमें ललित त्रिवेणी है लहराई ॥
सब कुछ हूँ मैं, सब कुछ कर सकता, बन सकता हूँ मैं निश्चय ।
क्योंकि बस रहा मेरे अंदर सत्य रूप वह ईश कृपामय ॥
रोग न मुझको छू सकता है, मेरा स्वास्थ्य वही ईश्वर है ।
मेरे लिये सतत तत्पर वह अमित अचूक शक्तिका घर है ॥
ईश्वर ही मेरा सब कुछ है नहीं जानता मैं कोई डर ।
क्योंकि यहाँपर सुविराजित हैं पावन प्रेम, सत्य, परमेश्वर ॥

कितना सुन्दर भाव है । कितने दृढ़ विश्वासपूर्ण वाक्य हैं । बस, यों अपने जीवनको भगवान्‌के साथ जोड़कर अपनेको सद्गुणोंसे सम्पन्न बना लेना चाहिये । इस प्रकारकी मङ्गल भावनाओंसे, इस प्रकार ईश्वरकी मङ्गलमयताके विश्वाससे आपमें शक्ति आयेगी, साहस आयेगा, सत्य आयेगा, प्रेम आयेगा, दया आयेगी, सहिष्णुता आयेगी और ईश्वर-विश्वास तथा ज्ञानकी वृद्धि होगी । इसके विपरीत, यदि आप उल्टी ऐसी विपरीत भावना करेंगे कि मैं दीन हूँ, असहाय हूँ, अशक्त हूँ, निराश हूँ, मेरा क्या होगा, मेरे

लिये आशाकी कोई चीज नहीं, मेरा कोई नहीं है, मैं मन्दभागी हूँ और मैं बीमारियोंसे तथा विपत्तियोंसे घिर गया हूँ।' तो सचमुच आप ऐसे ही बन जायँगे। ज्यों-ज्यों आपका मन ऐसी भावना करेगा, त्यों-ही-त्यों आपको वही-वही चीजें मिलती जायँगी। आप शक्तिका स्मरण करेंगे तो शक्तिशाली होंगे और दुर्बलताका स्मरण करेंगे तो दुर्बल बनेंगे।

मनोभावनाका कैसा परिणाम होता है, इसे दृष्टान्तसे समझिये—एक यूरोपियन मनोवैज्ञानिक डाक्टरने एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है कि "मैं एक रोगीको देखने गया, देखनेपर पता चला कि उन्हें कोई रोग नहीं है, मैंने उनसे कहा—'कुछ बात नहीं है, आपको कोई बीमारी नहीं है। एक आदमी भेज दीजियेगा, मैं घरसे रिपोर्ट लिखकर दे दूँगा।' वास्तवमें उनको कुछ था भी नहीं, कुछ वहम-सा था। मैं अपने घर लौटा और मैंने रिपोर्ट लिखकर भेज दी। कुछ ही देर बाद उनके यहाँसे घबराया हुआ एक आदमी आया। उसने कहा—'डाक्टर साहब! जल्दी चलिये, रोगीकी हालत बहुत खराब हो गयी है।' मैं गया, देखा, सचमुच उनकी स्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो रही थी, उनकी आकृति अवसन्न थी, शरीरसे पसीना छूट रहा था, हृदय बैठा जा रहा था। रोगीने निराशापूर्ण बहुत धीमी आवाजसे बताया—'डाक्टर साहब! पता नहीं क्यों, आपकी रिपोर्ट पढ़ते ही मेरा हृदय बैठने लगा।' मैंने कहा—'जरा रिपोर्ट तो देखूँ।' मुझे रिपोर्ट दी गयी, उसमें लिखा था—'अब आपके बचनेकी कोई आशा नहीं है, आपको जो

करना हो, तुरंत कर लेना चाहिये।' इसी रिपोर्टके पढ़नेसे उनपर इतना भयानक परिणाम हुआ था। मैं अपनी भूल समझ गया। मैंने उनसे कहा—'आपको कुछ है नहीं, यह रिपोर्ट आपकी नहीं है, यह तो एक दूसरे सज्जनकी है, जो मरणासन्न हैं। मैंने इसे लिखकर टेबलपर रक्खा था, भूलसे वह आपके पास आ गयी, आप चिन्ता न करें। मैं अभी आपकी रिपोर्ट मँगा रहा हूँ।' रोगीके चेहरेको मैंने तुरंत बदलते देखा, उसी क्षण उनके शरीरमें बल आ गया। उन्होंने कहा—'डाक्टर साहब! जल्दी मँगवाइये।' मैंने उसी क्षण एक आदमी भेजकर रिपोर्ट मँगवायी, उसमें लिखा था—'आप स्वस्थ हैं, कोई खास बीमारी नहीं है, साधारण कमजोरी है, थोड़ा बाहर घूम आइये।' रिपोर्ट सुनकर वे बैठे हो गये, अपने हाथमें लेकर रिपोर्टको पढ़ा, मुखपर मुसकराहट छा गयी, बोले—'आपकी भूलने तो मुझे मार ही डाला था डाक्टर साहब!' मैं अपनी भूलके लिये स्वयं लज्जित था और पश्चात्ताप कर रहा था। रोगी उसी क्षण अच्छे हो गये।'

एक दूसरी सच्ची घटना इस प्रकार है—रक्षा-पूर्णिमाके दिन राजस्थानमें घरोंके दरवाजोंपर दोनों ओर शकुन लिखे जाते हैं, जिन्हें 'सूँण' कहा जाता है। उनकी पूजा होती है, भोग लगाया जाता है। एक गृहस्थके यहाँ घरवालीने एक लोटेमें चतुर्दशीकी रात्रिको गेरू भिगोकर रक्खी। सोचा—भीग जायगी, तब सवेरे उससे सूँण लिख लूँगी। लोटा चारपाईके नीचे रख दिया था। उसी चारपाईपर उसके पति सोये थे। तड़के ही वे उठे और खटियाके

नीचे पड़े लोटेको जलसे भरा समझकर उसे लेकर शौचके लिये बाहर चले गये। कुछ अँधेरा था, अतः देखा नहीं कि लोटेमें क्या है। शौच होकर उठे तो देखा कि वहाँकी सारी जमीन लाल हो रही है, सोचा—'अरे, इतना खून मेरे शरीरसे निकल गया, अब मैं कैसे बचूँगा।' बस, मनकी कमजोरी शरीरमें आ गयी और वे मरणासन्न होकर वहीं गिर पड़े। जब घरवालोंने देखा—बड़ी देर हो गयी, तब आदमी उन्हें खोजने गये और किसी तरह उठाकर घर लाये। वैद्यने आकर देखा तो हालत बहुत खराब थी। इसी बीच गृहिणीने सोचा—'भद्रा लग रही है, सूँण लिख दूँ', पर खोजनेपर उसे गेरूँवाला वह लोटा नहीं मिला। तब उसने चिल्लाकर कहा—'मैंने रातको चारपाईके नीचे सूँण लिखनेके लिये गेरूँ भिगोकर रक्खी थी, मेरा वह लोटा कौन ले गया।' आवाज रोगीके कानोंमें गयी, उसके मनमें कुछ परिवर्तन हुआ, उसने पूछा—'क्या खाटके नीचे वही लोटा था?' पत्नीने कहा—'हाँ'। बस, उसी क्षण रोगीको हँसी आ गयी, बोला—'अरे, मुझे तो लाल रंग देखकर खूनका वहम हो गया था। वह तो गेरूँ थी। वैद्यजी! मेरे कोई रोग नहीं है।' वह स्वस्थ होकर उठ बैठा।

यह है मनोवैज्ञानिक तत्त्व। हम जैसी भावना करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। निराशाकी भावना कीजिये, निराशा आ जायगी, रोगकी भावना कीजिये, रोगी हो जायँगे। सफलताकी, स्वस्थताकी, दृढ़ताकी, निर्मलताकी भावना करेंगे तो मनमें उत्साह आयेगा,

शक्तिका और नीरोगताका बोध होगा, धैर्यका संचार होगा और पवित्रताकी प्राप्ति होगी।

एक अमेरिकन पत्रमें एक सज्जनने अपना अनुभव लिखा था—'वे बहुत दिनोंसे बीमार थे और उन्होंने बहुत-से डाक्टरोंका इलाज करवाया, पर किसी प्रकार अच्छे नहीं होते थे। डाक्टरोंने कह दिया कि 'अब आपके अच्छे होनेकी कोई आशा नहीं है।' उन्होंने एक पुस्तक पढ़ी, जिसमें लिखा था कि—'शरीरका प्रत्येक परमाणु भगवान्‌के द्वारा निर्मित है, सब कुछ भगवान् ही हैं।' उनके मनमें आया कि शरीरके सारे परमाणु जब भगवान् हैं, तब भगवान् तो नीरोग हैं, फिर मुझे रोगी क्यों होना चाहिये।' उन्होंने मनमें दृढ़ निश्चय किया—'मैं रोगी नहीं हो सकता हूँ, यह मेरा सब कुछ भगवान्‌से बना है, तब मैं रोगी कैसे हो सकता हूँ।' उनके मनमें दृढ़ निश्चय हो गया और कुछ ही समयमें वे स्वस्थ हो गये।

भगवान्‌पर विश्वास करके निरन्तर स्वास्थ्यका, सद्गुणोंका, दया, प्रेम, क्षमा, उदारता आदि सद्भावोंका चिन्तन करे। अपनेमें तथा दूसरेमें सदा ही शुभ भावनाका पोषण करे। यह माने कि भगवान्‌ने दया करके हमें इतने गुण दिये हैं। उन्होंने करुणा दी, सौहार्द दिया, सदाचारिता दी; उदारता, नम्रता, सरलता, शुचिता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, समता और सेवा-वृत्ति दी तथा क्षमा, धैर्य, सहनशीलता और शीलता दी। यह भगवान्‌का कितना बड़ा अनुग्रह है मुझपर। इस प्रकार दृढ़ भावना करनेपर हमारी जो

शक्ति दुर्गुणोंसे लड़नेमें, उन्हें हटानेमें लगती, वही फिर सद्गुणोंकी पुष्टि और विस्तारमें लगने लगेगी, जिससे प्रथम तो दुर्गुणोंका स्मरण ही नहीं होगा और कहीं हुआ भी तो यह सद्गुणोंकी भावना उन्हें दबा देगी। दूसरोंके लिये भी ऐसा ही प्रयोग करना चाहिये। किसीके भी अवगुणोंका चिन्तन न करके गुणोंका करना चाहिये और अनिष्टका नाश करनेवाले सद्भावोंकी एक ऐसी शक्ति पैदा कर लेनी चाहिये जो दोष और दुर्गुणोंकी स्मृतिको ही न जगने दे। वह शक्ति है भगवान्‌के बलपर निरन्तर सद्गुणोंका और सद्भावोंका चिन्तन, मनन और सेवन। दूसरोंसे प्रेम पैदा करना हो तो उनके सद्गुणोंको देखें, दोष कभी न देखें। किसीको अपने अनुकूल बनाना हो तो उसके सच्चे गुणोंको देखिये, उसके गुणोंकी सच्ची प्रशंसा कीजिये। उसके दोषोंको मत देखिये। दोषोंको तो भूल ही जाइये। कभी भूलकर भी उनकी आलोचना मत कीजिये। धीरे-धीरे वह आपका मित्र बन जायगा। यदि किसी वैरीको अपना मित्र बनाना हो तो प्रतिदिन रातको उसके प्रति अपने मनसे मैत्री और प्रेमके भावोंका पोषण कीजिये और उसके पास भेजिये। मन-ही-मन उसके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और मनमें सद्भावना भरिये। संसारमें एक ऐसा अभिन्न आत्मसम्बन्ध है कि हमारे मनकी भावना मनसे चलकर उसके मनपर प्रतिफलित होगी, उसपर प्रभाव डालेगी, उसके मनकी विरोधी भावनाको हटायेगी, मिटायेगी, उनका संशोधन-परिमार्जन करेगी। इस प्रकारका यह एक क्रम है—शत्रुको मित्र बनानेका। उसके प्रति मनमें सद्भाव

रखना, क्रियामें सद्भाव रखना, मनके सद्भावोंको उसके पास भेजते रहना। नियम कर लेना चाहिये कि प्रतिदिन दो-चार मिनट उसके पास सद्भावना अवश्य भेजी जाय। इससे आपका मन तो सद्भावनामय होगा ही, उसका मन भी पलटेगा—यह अनुभूत तत्त्व है, आप करके देख लें। आप बार-बार रटिये—'मैं बीमार हूँ, मैं बीमार हूँ, मुझे रोग हो गया, मुझे रोग हो गया'—आप देखेंगे आपका शरीर रोगी हो जायगा। 'मैं स्वस्थ हूँ, मेरे कोई बीमारी नहीं है'—ऐसी भावना दृढ़ कीजिये तो बीमारी दूसरा स्थान ढूँढ़ेगी, आपके पास नहीं फटक पायेगी। 'ईश्वर मेरा स्वास्थ्य है, मैं कभी बीमार नहीं हो सकता', यह कितनी अच्छी भावना है। इस भावनाको बार-बार अपनाइये। 'ईश्वर मेरा है, मैं कभी दुखी नहीं हो सकता। मैं सुखी हूँ।' आप यह रटिये, इसका प्रभाव पड़ेगा। मनपर प्रभाव होगा और मन वैसा ही बन जायगा। सुख-दुःख कभी बाहरसे नहीं आते। जिसके मनमें दुःखके लिये स्थान नहीं रहेगा, वह कभी दुखी नहीं हो सकता। जिसने अपने मनसे दुःखका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है, वही सदा सुखी रह सकता है। हमारे अंदर दुःखकी भावना स्पर्श न कर सके तो दुःख हमारे समीप आ ही नहीं सकता।

जिनके पास विपुल सम्पत्ति है, भोगोंकी विविध सामग्रियाँ जिन्हें सुलभ है, वे सुखी नहीं हैं। सुखी तो वे हैं, जो आनन्दमय भगवानके अधिष्ठानपर अपनेको सुखी मानते हैं। अपने मनमें यदि कोई यह निश्चय कर ले कि 'भगवान्‌का प्रेम मेरे अंदर है, मैं प्रेमी हूँ,

जगत्‌में मेरा कोई वैरी नहीं है, तो निश्चय ही उसका कोई वैरी नहीं रहेगा। भले ही कोई उससे वैर कर ले, पर उसका मन तो सदा निर्वैर ही रहेगा। युधिष्ठिरका उदाहरण हमारे सम्मुख है। उन्हें 'अजातशत्रु' कहते हैं। उनका कोई शत्रु उत्पन्न ही नहीं हुआ। आप कह सकते हैं कि 'उनके कोई वैरी क्यों नहीं था। कौरवराज दुर्योधन तो उनके प्रत्यक्ष ही वैरी थे।' पर महाभारत देखनेपर पता चलेगा कि दुर्योधनने धर्मराजको अपना वैरी कभी नहीं माना, शत्रुके रूपमें तो वे भीम आदिको ही देखते थे।

एक ऐसी कथा आती है कि महाभारत-युद्ध समाप्त हो चुकनेपर जब भीमसेन दुर्योधनको मारनेकी ताकमें थे, तब माता गान्धारीके कहनेसे धर्मराज युधिष्ठिरपर विश्वास करके स्वयं दुर्योधन अपनी रक्षाका उपाय पूछने उनके पास गये थे और युधिष्ठिरने उनको भीमके हाथसे न मरनेका सच्चा साधन बताया था। पर श्रीकृष्णके द्वारा बुद्धि बदल दिये जानेके कारण दुर्योधन उस उपायको पूरा काममें नहीं ला सके, इसीसे भीमके हाथों मारे गये। युधिष्ठिरपर विश्वास न होता, उन्हें वैरी मानते तो मृत्युसे बचनेका उपाय पूछने उन्हींके पास क्यों जाते? और यदि युधिष्ठिरके मनमें वैरभाव होता तो वे उन्हें मृत्युसे बचनेका सच्चा अचूक साधन कैसे बताते।

कभी नकारात्मक पदार्थोंका स्मरण न करें। नकारात्मक भावना न करें। सद्वस्तुओंका स्मरण करें, पोषण करें, पुष्ट करें, उनको बढ़ावें और उन्हींका वितरण करें। अपने भीतर दो प्रकारके

यन्त्र है। एक अंदरकी चीजको बाहर भेजता है, दूसरा बाहरवालोंको भीतर खींचता है। बाहर भेजनेवालेके द्वारा अपने अंदर जैसे भाव या विचार होते हैं, उनके परमाणु निकल-निकलकर अपनी शक्तिके अनुसार दूर-दूरतक फैलते रहते हैं और दूसरा आकर्षक यन्त्र बाहरके सजातीय परमाणुओंको खींच-खींचकर अंदर लाता रहता है। एक बाहर फेंकता और दूसरा भीतर खींचता है। यदि हमारे मनमें सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, प्रेम, उपकार आदि सद्भाव हैं तब तो हमारे द्वारा अपने-आप जगत्में इन्हीं सद्भावोंके परमाणुओंका वितरण होता रहता है। और हमारे अंदर यदि काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, द्वेष, मत्सर आदि भरे होते हैं तो हम विश्वको वही वस्तुएँ दे रहे हैं। हम संसारमें सद्भावों और सद्गुणोंको फैलावें और सबको सद्भावों और सद्गुणोंका ही दान करें, इसकी बड़ी आवश्यकता है। अपने अंदर यदि दुर्भाव और दुर्गुणोंको स्थान मिल रहा है तो इससे हमारे द्वारा अपनी और जगत्की हानि होती है। कोई कहे—'मै अपने घरमें अश्लील गीत गाता हूँ, गाली बकता हूँ, शराब पीता हूँ अथवा अपने मनमें चाहे सो सोचता-विचारता हूँ, इससे किसीका क्या होता है। अच्छा-बुरा होगा तो मेरा होगा।' पर यह ठीक नहीं। वह जो कुछ करता है, उसका प्रभाव जगत्पर अनायास ही पड़ता है। उसके द्वारा जगत्को अपने-आप ही असत् प्रेरणा मिलती रहती है। निरन्तर हानिकर परमाणु विश्वमे प्रसरित होते रहते हैं।

घरमें, अड़ोस-पड़ोसमें, गाँवमें, सम्बन्धियोंमें, देशमें और विभिन्न मतवादियोंमें आपको प्रेम देखना है तो उनके गुणोंको देखना प्रारम्भ कर दें, उनके सच्चे गुणोंकी प्रशंसा करें। आप ऐसा कभी कुछ न करें जिससे उनको अपमान बोध हो, उनकी प्रतिष्ठामें धक्का लगे, उनके मनमें दु:ख-द्वेष हो, प्रतिहिंसा हो और बदला लेनेकी इच्छा जाग उठे। ऐसी स्थिति कभी न आने दें। जगत्में सर्वथा बुरा कोई नहीं है। गुण-दोष सभीमें हैं। आप गुणोंको देखिये। यह निश्चय कीजिये—सबमें भगवान् हैं, वही सबमें आत्मारूपसे विराजमान हैं। वही आत्मा मुझमें है। किसीके अनिष्टकी भावना करके, हम प्रकारान्तरसे अपना ही बुरा करते हैं। किसीकी बुराई करना, किसीका अहित-चिन्तन करना, जान-बूझकर अनिष्टका पोषण करना है और जगत्के अहितमें सहायक होना है। हमें चाहिये हम किसी प्रकार भी बुराईको पोषण न दें। बुराईको स्थान ही न दें। हमारी आँखें ऐसी बन जानी चाहिये कि उन्हें गुण ही दीख पड़े, दोषपर आँख वैसे ही न टिके, जैसे निरामिष-भोजीकी आँख मांसपर जाती ही नहीं। दु:खकी बात तो यह है कि हमारी आँखें आज ऐसी दूषित हो गयी हैं कि वे पद-पदपर दोष ही देखती हैं और बहुत बढ़ाकर देखती हैं। अपना दोष देखनेमें तो मुँद जाती हैं पर दूसरेका छोटा-सा दोष भी उन्हें बहुत बड़ा दीखता है। 'आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो।' गुण तो देखती ही नहीं। जहाँ वस्तुतः गुण होता है, वहाँ भी उसे दोष दीखता है। कोई आदमी नाम-जप करता है, तो यह कहा

जायगा कि 'यह दम्भ करता होगा। कोई स्वार्थ होगा, नहीं तो जप क्यों करता।' इस प्रकार दोष-ही-दोष दिखायी देते हैं। यह बहुत शोचनीय स्थिति है। इससे सदा बचना चाहिये। इससे बुराईको बहुत अधिक आश्रय और पोषण मिलता है।

किसीपर संदेह भी नहीं करना चाहिये। संदेहसे बिना हुए ही दोष दीखता है और बड़े-बड़े अनर्थ हो जाया करते हैं। एक स्थानकी बात है। एक लड़केको कहीं खोटी चवन्नी मिल गयी, चवन्नी चला देनेकी उसे बड़ी चिन्ता थी। वह एक हलवाईकी दूकानपर गया, मिठाई ली और वह चवन्नी दे दी। ग्राहकोंकी भीड़में हलवाईने चवन्नी देखी नहीं और उसे अपनी पेटीमें डाल दिया। लड़का बहुत प्रसन्न हुआ और 'चल गयी, चल गयी' चिल्लाता हुआ बाजारमेंसे दौड़कर निकल गया। उन दिनों वहाँ हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य फैला था। परस्पर संदेहका वातावरण हो रहा था। दौड़ते हुए बच्चेके मुखसे 'चल गयी, चल गयी' सुनकर लोगोंने समझा 'लाठी चल गयी।' फिर तो हिंदुओं और मुसल्मानोंने अपनी-अपनी लाठियाँ सम्हालीं और घरोंसे निकल पड़े, जमकर लड़ाई हुई। बहुतोंकी जानें गयीं, बहुत घायल हुए। जब बच्चेकी चिल्लाहटके रहस्यका पता चला तो अपनी करनीपर लोगोंको बड़ा खेद हुआ; परंतु निर्दोष प्राणियोंकी जानें तो जा ही चुकी थीं!

बहुत-से झगड़े संदेहसे ही हुआ करते हैं। कुछ आँखोंके दोषसे भी होते हैं। जहाँ मनमें द्वेष होता है, वहाँ गुण भी दोष ही दीखता है। जहाँ आँखमें राग होता है, वहाँ दोष

भी गुण दीखते हैं। माँका अपने पुत्रमें राग होता है, इसलिये वह उसके दोषको नहीं देख पाती। अतः दूसरेमें कभी कोई दोष दीखे तो पहले यह सोचना चाहिये कि कहीं मेरे अपने मनकी कलुषता ही तो दोष नहीं दिखा रही है। ऐसा न हो तो फिर यह देखे कि 'मेरेमें यह दोष है कि नहीं।' यदि अपनेमें भी वह दोष है तो फिर हमें दूसरेको दोषी कहनेका क्या अधिकार है! अतएव हमें दूसरेकी आलोचना और निन्दासे सदा बचना चाहिये, इसीमें परम लाभ है। एक आदमी भूल करता है, तो वही भूल आप क्यों करते हैं। चोरी बुरी है यह कहते हैं, किसीने चोरी की तो उसको बुरा बताते हैं, फिर आप स्वयं क्यों चोरी करने जाते हैं।' चोरी बुरी है तो आपके लिये भी बुरी है और यदि चोरी बुरी नहीं है तो आप उसे बुरा क्यों बताते हैं! अतएव कभी भी बुरेके साथ बुरा बर्ताव न करें और बुरेकी बुराई न देखें। सबमें सद्गुण देखें, सबकी भलाई करें और सबमें भगवान्‌को देखें। जो मनुष्य संसारमें सब प्राणियोंमें भगवान्‌को देखता है, उसे सबमें भगवान् दीखते हैं और जो दोषोंको देखना चाहता है, उसे सबमें दोष दीखते हैं।

किसीको भी कभी ऐसी बात न कहिये, जिससे उसके मनमें क्षोभ हो, उद्वेग हो, जीवनकी निराशा हो, सफलतामें संदेह हो और उसका नैतिक स्तर गिर जाय। यदि हम किसीको बार-बार बुरा बतायेंगे उसमें दोष-ही-दोष देखकर उसकी आलोचना करेंगे तो या तो वह क्रुद्ध होकर हमसे लड़ पड़ेगा, अपने मार्गसे विचलित होगा, अथवा उसे अपनेमें निराशाके भाव उत्पन्न हो जायँगे। उसके तेज,

साहस, बल तथा बुद्धिका ह्रास हो जायगा। उसके मनमें निराशा उत्पन्न हो जायगी। किसीमे बुराई दिखाकर उसे गिराइये मत, भलाई दिखाकर उसको उठाइये।

महाभारतकी कथा है। जब कौरव-पक्षके सेनापति कर्ण हुए, तब उन्हें अर्जुनके सारथि श्रीकृष्णके मुकाबिलेमें वैसे ही निपुण सारथिकी आवश्यकता हुई। राजा शल्य अश्व चलानेमें बड़े दक्ष थे। दुर्योधनने उनसे प्रार्थना की। शल्यने दुर्योधनके आग्रहसे रथ हाँकना तो स्वीकार कर लिया पर यह शर्त कर ली कि 'मैं कर्णको युद्धके समय चाहे जैसी बात कह सकूँगा, उसमें वे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं करेंगे।'

शल्यने युद्धक्षेत्रमें कर्णको जली-कटी सुनाना आरम्भ किया। उन्होंने कहा—'भला, कहाँ नरश्रेष्ठ अर्जुन और कहाँ नराधम तुम! यदि तुम भयसे भाग न गये तो अवश्य ही मारे जाओगे। तुम मोहवश वृथा ही श्रीकृष्ण और अर्जुनको मारनेकी इच्छा करते हो। हमने यह कभी नहीं सुना कि किसी गीदड़ने युद्धमें सिंहको मार दिया हो। निःसंदेह तुम्हारा काल आ पहुँचा है। कोई जीवित रहनेवाला पुरुष ऐसी ऊटपटाँग बातें कैसे कह सकता है। तुम तो वैसे ही काम करना चाहते हो जैसे कोई भुजाओंके बलसे समुद्रको पार करना चाहे या पहाड़की चोटीसे कूदना चाहे। जिस प्रकार घरके भीतर बैठा हुआ कुत्ता वनके राजा सिंहकी ओर भूँकता है, वैसे ही तुम पुरुषसिंह अर्जुनके लिये बड़बड़ा रहे हो। जिस समय तुम्हारी अर्जुनपर दृष्टि पड़ेगी, उस समय तत्काल ही तुम गीदड़ बन जाओगे।

जिस प्रकार लोकमें चूहा और बिल्ली, कुत्ता और बाघ, सियार और सिंह, खरगोश और हाथी, मिथ्या और सत्य तथा विष और अमृत प्रसिद्ध है, वैसे ही तुम और अर्जुन हो।' इस प्रकार वाग्बाणोंसे शल्यने कर्णके हृदयको जर्जरित कर दिया। कर्ण कभी क्रोधसे तिलमिला उठते, कुछ कहते, पर शल्य कहीं सारथिका काम छोड़ न दें, इससे वे चुप रह जाते। उनके हृदयमें उद्वेग हो गया, युद्धमें उनका पूरा ध्यान नहीं जम पाया, तेज घटता गया। शल्य थे तो सारथि, पर उन्होंने शत्रुका काम किया। अतएव किसीको भी कभी दुर्वचन कहकर उसे गिराना नहीं चाहिये।

साथ ही सबके साथ सद्व्यवहार, सद्बर्ताव तथा विनययुक्त आचरण करके सबसे सद्भावना प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये। विशेष करके जब भी कोई कार्य आरम्भ करना हो, तब बड़ोंका आशीर्वाद अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

महाभारत-युद्ध आरम्भ होनेको ही था कि धर्मराज युधिष्ठिरने अपना कवच उतार दिया, शस्त्रोंको छोड़ दिया और रथसे उतरकर हाथ जोड़े हुए वे बड़ी तेजीसे कौरव-सेनाकी ओर पैदल ही चल दिये। सब ओर हाहाकार मच गया। भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव भी उनके पीछे हो लिये, वे पूछ रहे थे—'महाराज! आप हमें छोड़कर यों कहाँ जा रहे हैं!' कौरव-पक्षके सैनिकोंने तो कह दिया कि 'युधिष्ठिर कुलकलंक और डरपोक है। यह डरकर शरण पानेकी इच्छासे भीष्मके पास जा रहा है।' चतुरचूड़ामणि भगवान् श्रीकृष्णने भीम, अर्जुन आदिसे कहा कि 'तुम लोग घबराओ

मत, युधिष्ठिरके जानेका रहस्य मैं जानता हूँ, वे आशीर्वाद लेने जा रहे हैं।'

युधिष्ठिरने क्रमशः पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य और मामा शल्यके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। युद्धके लिये आज्ञा और आशीर्वाद माँगा। चारोंने ही यह कहा कि 'यदि तुम इस समय हमारे पास नहीं आते तो हम तुम्हें शाप दे देते, जिससे तुम अवश्य पराजित होते, पर तुम आ गये, इससे अब आशीर्वाद देते हैं, तुम्हारी अवश्य विजय होगी।'

युधिष्ठिर एक विशेष बल और विजयका निश्चय प्राप्त करके लौटकर अपनी सेनामें आकर रथपर सवार हो गये। विनययुक्त सद्व्यवहार, प्रणमन, सरलता तथा नम्रतासे दूसरेकी सद्भावना, उसका प्रेम तथा आशीर्वाद प्राप्त होता है और ऐंठ, अविनय, अभिमान टेढ़ेपन तथा गर्वसे दुर्भाव, द्वेष और अभिशाप प्राप्त होता है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको विनययुक्त होकर सद्भाव, प्रेम तथा आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये। अपनेसे बड़ोंको तो प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रणाम करना ही चाहिये, इससे आयु, विद्या, यश तथा बलकी वृद्धि होती है। परंतु सम्मान, प्रेम, विनय, सत्य और हित-भावनासे पूर्ण व्यवहार सबके साथ करना चाहिये। सभीके सद्गुणोंको देखकर उनको बढ़ाना चाहिये, पुष्ट करना चाहिये। इसीमें अपना तथा दूसरोंका हित है। इसीसे प्रेमकी वृद्धि होती है। जहाँ प्रेम है, वहीं शान्ति है और जहाँ शान्ति है, वहीं आनन्द है। नित्य और पूर्ण आनन्द ही जीवनका मुख्य ध्येय है।

हम भगवान्‌के ही हैं

यह सारा जगत्—जगत्‌के सब चेतनाचेतन प्राणी भगवान्‌से निकले हैं और भगवान् ही सर्वत्र व्याप्त हैं[1]। हम सभी जीव भगवान्‌के सनातन अभिन्न अंश हैं[2]। भगवान् ही हमारे अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। सब कुछ वही हैं[3]। भगवान् हमारे आत्मा हैं[4]। भगवान् ही हमारे प्राण हैं। हमारा जीवन, हमारा प्रेम, हमारा आनन्द, हमारे श्वास-प्रश्वास—सब कुछ भगवान् ही हैं। हम कभी भी, किसी प्रकार भी भगवान्‌से, भगवान्‌के प्रेमसे, भगवान्‌के आनन्दसे, भगवान्‌की योगक्षेम करनेवाली वृत्तिसे अपनेको अलग नहीं कर सकते। उसकी व्यापकतासे बाहर नहीं जा सकते।

भगवान् हमारे परम अन्तरात्मा हैं—अतः भगवान् हमको जितना यथार्थरूपमें जानते हैं, उतना हम स्वयं अपनेको नहीं जानते। वे हमारे मनके अन्दर छिपी-से-छिपी बातको जानते हैं।

---

१. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। (गीता १८।४६)

२. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५।७)

३. मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय। (गीता ७।७)

४. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ (गीता १०।२०)

परम आत्मीय हैं। वे स्वभावसे ही परम सुहृद् हैं। उनका सहायक हस्तकमल सदा ही हमारे सिरपर है, उनकी कृपास्नेहमयी दृष्टिकी सुधावृष्टि अनवरत हमपर हो रही है। वे नित्य-निरन्तर हमारे ऐहिक, पारलौकिक, पारमार्थिक योगक्षेमका वहन करते हैं। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा हमारे सभी काम करनेको वे तैयार हैं; बशर्ते कि हम अपनी मूर्खतावश उनके सहायक हाथको उनके इच्छानुसार कार्य करनेसे रोकें नहीं। फिर हमारे सभी कामोंमें उनका सहायक वरद हस्त काम करेगा—चाहे हमारा वह काम घरमें झाड़ू लगाना हो, चाहे व्यापार करना हो, चाहे सेवा-सहायता करना हो और चाहे पारमार्थिक साधन करना हो। भगवान्के लिये छोटे-बड़े सभी काम एक-से हैं। क्षुद्र चींटीके जीवनका संचालन भी वे ही करते हैं और सृष्टिकर्ता ब्रह्माका जीवन भी उन्हींसे चलता है।

हमें इस बातका अनुभव करना चाहिये कि भगवान् सदा हमारे साथ हैं, वे सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत होते हुए ही हमपर आत्मीयतापूर्ण अनन्त प्रेम करते हैं। जिस क्षण हमारा यह विश्वास हो जायगा और हम ऐसी अनुभूति करेंगे, उसी क्षण हम समस्त बाधा-विघ्नोंसे मुक्त होकर, सारी बन्धनमयी परिस्थितियों और संकुचित सीमाओंको लाँघकर नित्य निर्भय, निश्चिन्त तथा आनन्द और शान्तिके मूर्तस्वरूप बन जायँगे। सर्वदा स्मरण रखिये कि 'हम भगवान्के ही हैं और भगवान् हमारे ही हैं।'

भक्तका कर्मयोग

मैं भगवान्‌के लिये कर्म कर रहा हूँ। वे मेरे स्वामी हैं, और मैं तन-मनसे सचाईके साथ उनकी सेवा करनेका प्रयत्न करता हूँ। मैं भगवान्‌को ही जीवनमें प्रथम स्थान देता हूँ, और प्रत्येक समय भगवान्‌की संनिधिकी तीव्र अनुभूतिके साथ भगवत्-कर्ममें रत रहता हूँ।

मैं जानता हूँ कि मुझमें सफलता प्रदान करनेवाली योग्यताएँ ईश्वरकी देन हैं और मैं इन योग्यताओंका बुद्धिमानी एवं विवेकपूर्वक उपयोग करता हूँ। यों करनेसे मेरे जीवनमें निरन्तर विकास एवं समृद्धिकी वृद्धि होती है।

मैं यह अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌के राज्यमें प्रत्येक प्राणी-का अपना उचित स्थान एवं उचित कार्य है। मैं तुच्छ अप्रसन्नताओं, खिन्नताओं एवं विद्रोहोंको कभी मनमें स्थान नहीं पाने देता। मैं कभी दूसरेकी अच्छी स्थितिसे ईर्ष्या नहीं करता। मैं कभी अपनी अथवा अपनी सफलताकी तुलना दूसरोंसे नहीं करता। इसके विपरीत मैं परमपिता परमात्माद्वारा मेरे लिये स्थिर किये आदर्शका अनुसरण करता हूँ और मैं मानता हूँ, जो कुछ भी है, श्रेष्ठ है।

मैं अपनी प्रत्येक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भगवान्‌पर विश्वास करता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह बिना किसी भूलके उस मार्ग-को मेरे सामने खोल देंगे, जिसको पकड़कर मैं अपने परमोच्च शुभ-को प्राप्त कर सकूँगा। मैं भगवान्‌के लिये कर्म करता हूँ और मेरा प्रत्येक कर्म मानव-सम्मान एवं भगवान्‌की शानके अनुरूप होता है।

भक्तकी भावना

भगवान् नित्य मेरे साथ हैं, मुझे अकेले किसी परिस्थितिका सामना करनेकी आवश्यकता नहीं। चाहनेपर भगवानका प्रेमभरा एवं विवेकपूर्ण परामर्श मेरे लिये प्रस्तुत है। उनका साहाय्य अबाध तथा सदा विजयी है। भगवान् अन्तर्यामीरूपमें नित्य मुझमें अवस्थित हैं। मैं अपनी किसी भी आवश्यकताके लिये भगवान्‌के साहाय्यपर निर्भर कर सकता हूँ—इस ज्ञानसे मैं सदा अविचलित हूँ।

मैं प्रतिदिनकी छोटी-छोटी समस्याओंको सुलझानेमें भी भगवान्‌की सहायता चाहता हूँ। जब कभी मेरी आवश्यकता तीव्र होती है, अथवा जीवनमें कोई विकट स्थिति उपस्थित होती है, तब मैं भगवान्‌से सहायता चाहता हूँ। मेरी आवश्यकता छोटी है या बड़ी, मैं इस बातका विचार किये बिना ही अन्तर्मुख हो भगवान्‌की सहायता चाहता हूँ। भगवान् मुझे शक्ति देते हैं और विचलित होते हुए साहसके समय मुझे बल देते हैं। उनका ज्ञान मुझे अपने सामने आयी प्रत्येक समस्याको सुलझानेमें मार्गदर्शन करता है। भगवानका प्रकाश मेरे ग्रहण करनेयोग्य मार्गको मेरे सामने अनावृत्त करके रख देता है, अतएव मेरे निश्चय करनेमें संदेह अथवा हिचकका कोई कारण नहीं।

मुझे भगवान्‌से केवल इस निश्चयकी प्राप्तिके लिये कि भगवान् अन्तर्यामीरूपमें नित्य मुझमें अवस्थित हैं और प्रत्येक आवश्यकतामें वे मेरी सहायता करते हैं, प्रार्थना करनेकी आवश्यकता है।

भगवान् मेरी शरण एवं शक्ति हैं, आवश्यकताके समय तत्काल अचूकरूपमें प्राप्त होनेवाली सहायता हैं।

भगवान्‌की अमोघ कृपा

संसारमें नर-नारियोंके चित्त स्वाभाविक ही लौकिक पदार्थोंकी कामनासे व्याकुल रहते हैं और जबतक इन्द्रिय-मन-बुद्धि इस कामना-कलुषसे कलङ्कित रहते हैं, तबतक भगवान्‌की उपासना करता हुआ भी मनुष्य अपने उपास्य देवतासे स्पष्ट या अस्पष्टरूपसे कामनापूर्तिकी ही प्रार्थना करता है। यही नर-नारियोंका स्वभाव हो गया है। इसीसे वे भगवद्भावके परम सुखसे वञ्चित रहते हैं। असलमें उपासनाका पवित्रतम उद्देश्य ही है—भगवद्भावसे हृदयका सर्वथा और सर्वदा परिपूर्ण रहना। परंतु वह हृदय यदि नश्वर धन-जन, यश-मान, विषय-वैभव, भोग-विलास आदिकी लालसासे व्याकुल रहता है तो उसमें भगवद्भाव नहीं आता और उपासनाका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता; किंतु सत्सङ्गके प्रभावसे यदि कोई भगवान्‌की अमोघ कृपाका आश्रय ग्रहण कर लेता है तो दयामय भगवान् अनुग्रह करके उसके हृदयसे विषय-भोगकी कामना-वासनाको हटाकर उसमें अपने चरणारविन्द-सेवनकी वासना उत्पन्न कर देते हैं।

चोरी-बेईमानी

वह मनुष्य बड़ा ही भाग्यवान् है, जो दूसरेके हितके लिये अपने स्वार्थकी चोरी करता है, वह भी बड़ा ही पुण्यात्मा है जो दूसरेको लाभ पहुँचानेके लिये अपने स्वार्थके साथ बेईमानी तथा बेइंसाफी कर जाता है। चोरी-बेईमानी पाप है; परंतु वही चोरी-बेईमानी यदि अपने स्वार्थके प्रति होती है और दूसरेका हित-साधन करनेवाली होती है तो पुण्य बन जाती है। वह हितकारी चोर तो बहुत ही श्रेष्ठ है जो निरन्तर दूसरोंका हित तो करता रहता है, परंतु उनको मालूम भी नहीं होता कि हमारा हित कौन कर रहा है। यों अपनेको जरा भी बिना जताये, सदा छिपा हुआ जो चोरी-चोरीसे हित-साधन किया करता है, उसका वह कार्य बड़े ही महत्त्वका होता है।

अनन्त-करुणासिन्धु भगवान् तो दिन-रात इस चोरी करनेमें ही लगे रहते हैं। अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त प्राणियोंका निरन्तर

हित-साधन करते रहते हैं, परंतु अपना कहीं जरा भी पता नहीं लगने देते । सब यही समझते हैं कि हमारे पुरुषार्थसे, हमारी बुद्धिमानी या चातुरीसे, हमारे कर्मफलसे हमारा हित हो गया । भगवान्‌का यह छिप-छिपकर हित करना परम आदर्श है ।

भगवान् राघवेन्द्र लड़कपनमें अपने छोटे भाइयोंको हारा खेल जिता देते थे । भगवान्‌को कौन जीत सकता है, वे तो सदा अजेय हैं, परंतु वे जान-बूझकर हार जाते थे, पर कभी उनको बताते नहीं थे कि 'तुम हार रहे थे—मैंने जान-बूझकर तुम्हें जिता दिया और स्वयं हार स्वीकार कर ली ।' इस प्रकार जताकर हारना तो जीतनेसे भी बढ़कर होता है । इसमें जीतनेवाला अपनेको हारा हुआ ही मानता है । भगवान् सचमुच उन्हें जिताते थे और सचमुच स्वयं हार जाते थे । इसमें न दम्भ था, न दिखौआपन । भगवान्‌का सहज स्वभाव ही है—भक्तोंके सामने हार जाना । भगवान् श्रीकृष्णके व्रज-सखा भगवान्‌के हारनेके इसी स्वभावके कारण ही उन्हें जीतकर उनको घोड़ा बनाया करते थे । कितनी मधुर होती है यह हार !

अपनी हानि स्वीकारकर दूसरेको लाभ पहुँचानेमें जो सुख होता है, उस जातिका सुख दूसरेके सुखकी परवा न करके सुखी होनेवालेको कभी नहीं होता और वह तो इस जातिके सुखसे सदा ही वञ्चित रहता है, जो दूसरेको दुखी बनाकर सुखी होना चाहता है ।

सेवा करे, हित करे और पता भी न लगे कि यह कौन कर रहा है। अपनी बड़ी-से-बड़ी हानि करके भी दूसरेको लाभ पहुँचा दे और अपने इस कृत्यको सदा छिपाकर ही रक्खे—कभी किसीपर भी प्रकट न होने दे। ऐसा परार्थसाधक निज-स्वार्थचोर पुरुष ही सचमुच सत्पुरुष है और ऐसे ही पुरुषसे जगत्का यथार्थ उपकार होता है।

जो पुरुष सेवा करता है, सच्चे हृदयसे लाभ पहुँचाता है पर बतानेका लोभ संवरण नहीं कर सकता, वह अपने इस सत्कर्मका मूल्य घटा देता है, जो बतानेके लिये ही सेवा-हित या उपकार करता है, उसकी भावना बहुत नीची होती है और जो करता कम है और अहसान ज्यादा करता है, वह तो अपने कर्मका मूल्य ही खो देता है। एवं वे लोग तो बहुत ही निम्न श्रेणीके हैं कि जो करते नहीं, पर विज्ञापन करते हैं तथा दूसरेके स्वार्थकी चोरी करके, दूसरेके हितके साथ बेईमानी करके स्वयं लाभ उठाना चाहते हैं वे तो महान् नीच हैं।

परोपकार करो—पर कभी जताओ मत!

त्याग करो—पर कभी बताओ मत।

सेवा करो—पर सेव्यको पता न लगने दो कि कौन कर गया।

हित करो—पर उसका हक समझकर चुपकेसे करो। चोरी करो अपने स्वार्थकी, दूसरोंके हितके लिये। बेईमानी करो अपने नीच स्वार्थके साथ, दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संग्रहकार—एक सत्सङ्गी)

१—मानव-जीवनकी गतिको हमने भगवान्‌की ओर मोड़ दिया, भगवान्‌के मार्गपर हम चल निकले तो कभी-न-कभी हम भगवान्‌को पा लेंगे; क्योंकि यह वस्तु ही ऐसी है। जिसने एक बार अपना हाथ भगवान्‌को पकड़ा दिया, उसे भगवान् कभी छोड़ते नहीं। वह छुड़ाना चाहे—चाहे वह वैर करे, द्वेष करे, दोषारोपण करे—भगवान् उसे छोड़ते नहीं। वे छोड़ना जानते ही नहीं।

२—भगवान्‌को हाथ कैसे पकड़ाये, वे दीखते नहीं?—इसका उत्तर है कि भगवान् सर्वत्र हैं, वे न दीखनेपर भी हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं, हमारी प्रत्येक चेष्टाको देखते हैं। अतः बिना किसी मिश्रणके हम कहें कि 'भगवन्! हमारा हाथ पकड़ लो, तो वे न दीखते हुए भी हमारा हाथ पकड़ लेंगे। गड़बड़ हमारी ओरसे ही होती है, हम कुछ-न-कुछ अपने पास रखकर हाथ पकड़ाना चाहते हैं।

३—भगवान् भावको देखते हैं। वे जैसे ब्राह्मणके हैं, वैसे ही चाण्डालके भी। उनके मनमें किसीके भी प्रति भेद नहीं है। भेद तो व्यावहारिक जगत्‌का है और यह आवश्यक भी है। भगवान् तो अंदरके भावको देखते हैं—'किसके मनमें मुझे पानेकी कैसी

चाह है, कौन किस वस्तुके बदले मुझे चाहता है, और वे भावके अनुरूप अपनी कृपाका प्रकाश करते हैं।

४—शूरवीर वह है जो अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व देनेको तैयार है, जो अपनेको भगवान्‌के लिये होम देनेको प्रस्तुत हो। भगवान्‌के लिये जो कुछ दे दिया जाय, वही सच्चा सौदा है। वास्तवमें तो भगवान्‌को देनेके लिये हमारे पास है ही क्या!

५—भगवान्‌के भजनमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें, भगवान्‌के लिये चाह पैदा होनेमें कुछ कमी है तो श्रद्धा-विश्वासकी। भगवान्‌की चाहमें दूसरी चाह शामिल होनेसे भगवान् बहुत बिगड़ते हैं। बिगड़नेका यह अर्थ नहीं कि वे नाराज हो जाते हैं, वे बस, अपने-को छिपाये रहते हैं, सामने नहीं आते। वे उस दिन सामने आयेंगे जिस दिन भक्त कहेगा—'भगवन्! मै केवल तुम्हें ही चाहता हूँ। मुझे धन-परिवार, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष कुछ भी नहीं चाहिये। मैं तो केवल तुम्हींको चाहता हूँ। तुम्हें चाहनेमें यदि मेरा लोक बिगड़े तो बिगड़ने दो, परलोक बिगड़े तो बिगड़ने दो।'

६—भगवान् सत्यसंकल्प हैं। भगवान्‌की बात तो भगवान्‌में ही है। परंतु जो भगवान्‌के हैं, जो संत पुरुष हैं, उनकी सद्भावना, उनका सत्संकल्प भी हमलोगोंकी उन्नतिमें बहुत सहायक होता है। हमलोगोंकी उन्नतिका एक परम साधन यह है कि जो अच्छे पुरुष हैं, उनका सत्संकल्प हमारे लिये हो। हमारा आचरण इस प्रकारका हो कि उससे प्रसन्न होकर सत्पुरुष हमारे लिये सत्संकल्प करें। वैसे सत्पुरुषोंका स्वाभाविक ही सबके लिये सत्संकल्प होता है, पर जहाँ विशेष संकल्प होता है वहाँ अत्यन्त कलुषभावापन्न व्यक्ति भी

उसके प्रभावसे पवित्र बन जाता है। सत्पुरुषोंका हमारे लिये सत्संकल्प हो—इसमें विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। वे हमारा जैसा आचरण-स्वभाव चाहते हैं, उसके अनुरूप बननेका हम प्रयत्न करें। फिर वे सहज दयालु तो हैं ही।

७—सत्पुरुष बननेकी यह तरकीब है कि भगवान्‌का आश्रय करके एक-एक दैवी गुणको अपनेमें लानेकी चेष्टा करे।

८—श्रद्धा-विश्वास—ये दो भक्तिके आधारस्तम्भ हैं, भक्ति पनपती है इन्हींके आधारपर तथा इन्हींके द्वारा। जहाँ विश्वास हुआ, वहीं तत्परता आ गयी, जहाँ तत्परता आयी, वहाँ सारी इन्द्रियाँ उसमें लगीं और जहाँ सारी इन्द्रियाँ लगीं कि वस्तुकी प्राप्ति हो गयी।

९—जो भगवान् ध्रुवके समय थे, द्रौपदीके समय थे, वे कहीं गये नहीं हैं। उनकी सामर्थ्य वही है, उनका सौहार्द वही है, उनका प्रेम वही है, हमारे अंदर ध्रुव-द्रौपदीवाले विश्वासकी कमी है।

१०—सच बात कही जाय तो यह है कि भोगोंका मिलना जितना कठिन है, भगवान्‌का मिलना उतना कठिन नहीं है। वल्कि वहुत सहज है, क्योंकि भगवान् मिलते हैं चाहसे, इच्छासे, संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं उनके लिये वैसी क्रिया होनेपर, खेतमें बीज बोया, अङ्कुर निकला, पत्ते निकले, फूल आये, फल लगा—यह क्रम है कर्मका, पर भगवान् कर्मके फल नहीं हैं, भगवान् तो प्राप्त ही हैं। उनकी प्राप्तिके लिये चाहिये इच्छा। पर इच्छामें कहीं गड़वड़ी नहीं होनी चाहिये। इच्छा यदि व्यभिचारिणी रही तो भगवान्‌का

मिलना असम्भव है । भगवान्‌के लिये हमारी जो चाह है, वह होनी चाहिये अनन्य अर्थात् उनको छोड़कर दूसरे औरके लिये नहीं । जिसके मनमें जिस घड़ी ऐसी चाह उत्पन्न होगी, उसको उसी समय भगवान् मिल जायँगे । भगवान ठहरे अन्तर्यामी। वे जान लेते हैं कि किसके मनकी इच्छा क्या है, कैसी है । अतएव उनसे हमारे मनकी व्यभिचारिणी चाह छिपी नहीं रह सकती ।

११-भगवान्‌में चाह नहीं है, वे इच्छारहित हैं । भक्तकी चाह भगवान्‌में प्रतिबिम्बित होती है । किसीने अनन्य चाह की—'भगवान् मुझे मिलें ।' भक्तकी यह चाह भगवान्‌में दीखने लगेगी । भगवान्‌की चाहका उत्पन्न होना और पूर्ण होना एक साथ होता है । अतः जहाँ भगवान्‌में चाह हुई कि भक्तको दर्शन हुए ।

१२-भगवान्‌की कीमत है—लालसा, इतनी उत्कण्ठा मनमें पैदा हो जाय कि उनको छोड़कर दूसरी कोई चीज सुहावे ही नहीं ।

१३-भगवान्‌की प्राप्ति—भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति सहज है, पर उसकी प्यास होनी चाहिये । प्यास लगेगी भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान होनेसे तथा उनकी आवश्यकताका अनुभव होनेसे । ये दोनों बातें होती हैं सत्सङ्गसे, इससे सत्सङ्गकी आवश्यकता है ।

१४-भगवान् मिलते हैं केवल चाहसे, किसी साधना, प्रयत्न, क्रियासे नहीं । भगवान् किसी कारखानेमें बनाये नहीं जाते, किसी खेतमें बीजरूपमें बोकर फलरूपमें भगवान् प्रकट नहीं किये जाते ।

भगवान् मिलते हैं अनन्य लालसासे; मिलनेकी एकान्त चाह हो, दूसरी कोई चाह रहे ही नहीं। × × × भगवान् चाहते हैं, मेरा भक्त रहे और मैं रहूँ, तीसरा उन्हें सुहाता नहीं।

१५—सारे पुण्योंकी कीमत है, पर भगवान्‌के भजनकी कीमत नहीं। जो, जो चाहे वही भगवान्‌के भजनकी कीमत है। रामनाम-की कीमत किसी शास्त्रमें अङ्कित नहीं है। यदि किसीने भोग चाहे तो उसकी कीमत वही हो गयी। पर यदि भक्त उसके बदले कुछ न चाहे तो भगवान् स्वयं उसके वशमें हो जाते हैं। × × × भगवान्‌के भजनका कोई मूल्य आँक लेता है, माँग लेता है—'भगवन्! मुझे पुत्र दो, धन दो, सम्पत्ति दो, यश दो, स्वर्ग दो'—तो वह घाटेमें ही रहता है। भगवान्‌से माँगे तो यही कि 'आप जो चाहें वही दें।' भगवान् क्या चाहेंगे?—वे अपनेको ही दे देते हैं।

१६—जो भगवान्‌को अपना मानता है, भगवान् भी उसे अपना मानते हैं। भगवान् जिसे अपना लेते हैं, उसके समान समृद्धिमान्, भाग्यवान्, सौभाग्यवान् और कौन होगा।

१७—'भगवान् ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय और अपने त्राणकर्त्ताके रूपमें दूसरेको हिस्सा न दे तो भगवान् उसकी सँभाल स्वयं करते हैं। पापोंको काटनेका पूरा अधिकार भगवान् स्वयं चाहते हैं। वे कहते हैं—'पूरी मालिकी मुझे दे दो।' वास्तवमें बात भी सच्ची है, पापीको कौन अपने पास बैठायेगा। ऊपरके मैलसे लोग घृणा करते

हैं, फिर भीतरके मैलको कौन सहन करेगा। परंतु महापापीको भी पास बैठानेमें भगवान्‌को न भय है, न लज्जा। इसीसे उनका नाम है—पतितपावन।

१८—जगत्‌के जितने भोग हैं वे प्रारब्धवश आते-जाते रहेंगे। उनके आनेमें हमारा कोई वास्तविक लाभ नहीं, जानेमें वास्तविक कोई हानि नहीं। यदि संसारकी चीजोंने आकर मनमें गर्व उत्पन्न कर दिया और उन चीजोंके सेवनसे बुराई आने लगी तो वे हमारे लिये हानिकर हैं। इसके विपरीत संसारकी चीजें गयीं और उससे वैराग्य उत्पन्न हुआ, भगवान्‌में मन लगा तो उनका जाना भी हितकर है। हमारे मनसे भगवद्भाव घटा तो हानि, गया तो महान् हानि। और भगवद्भाव बढ़ा तो लाभ, स्थिर हो गया तो महान् लाभ। जगत्‌के पदार्थ जायँ या रहें—मतलब भगवद्भावसे है, वह रहना चाहिये। वह भाव जगत्‌के पदार्थोंके रहनेसे रहे तो उत्तम, और उनके चले जानेमें रहे तो उत्तम।

१९—भगवान्‌में एक बड़ा महान् दयाका भाव है कि वे पुराने इतिहासके पन्ने नहीं उलटते। पहले हमने क्या किया, कैसे रहे, क्या बर्ताव किया—ये सब वे कुछ भी नहीं देखते। वे देखते हैं—वर्तमानमें हम क्या हैं। अतः भूतको भूलकर वर्तमानको सँभालो और भगवान्‌की अनन्य शरण हो जाओ। भगवान्‌के सामने आते ही सारे शुभाशुभ अपने-आप जल जायँगे। 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'

२०—संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो निरन्तर एक-सी रुचि बढ़ाता रहे और उससे सदा आनन्द मिलता रहे। पर भगवान्‌का स्मरण प्रतिक्षण आनन्द देनेवाला है और वह आनन्द प्रतिक्षण-वर्द्धमान है, किंतु हमलोग तो भगवान्‌से क्षण-क्षणमें ऊबते हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि हमें उनका वास्तविक स्वाद आया ही नहीं।

२१—जबतक भगवत्-साधनमें भार माळूम होता है, तबतक वह बहुत मन्द है। जब भार माळूम नहीं होता, सुखकी आशासे मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्द दर्जेका है। पर जब सुखकी आशा न रखकर भी मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्दसे ऊपरके दर्जेका है। लेकिन जब मन भजन किये बिना रह सकता ही नहीं—न होनेपर उसमें छटपटाहट होने लगती है, तब वह उत्तम है। जबतक भजनमें रुचि नहीं होती, तबतक भजनकी वास्तविक माधुरीकी अनुभूति नहीं। रुचि उसका नाम है, जिसमें क्षण-क्षणमें शरीर रोमाञ्चित होता रहे, मन पुलकित हो जाय तथा विभोरचित्त होकर आँखोंसे आँसू बह चले। रति तो इसके बाद होती है।

२२—भजनसे ही मानवता टिकती है; जिसके भजन नहीं, वह मानव दानव हो जाता है।

२३—विषयोंका चिन्तन सर्वनाशका मूल है और भगवान्‌का चिन्तन यदि पापी भी करेगा तो उसके सब पापोंका समूल नाश हो जायगा तथा उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

२४—संसारके भोगोंमें अनर्थकारी बुद्धि पैदा हो जाय, यह साधनाकी पहली सीढ़ी है।

२५—साध्यवस्तुमें जबतक विश्वास नहीं, तबतक साधन कैसे हो ? कहाँ जाना है, इसका पता हुए बिना यात्राकी बातें कैसी ? अतः सबसे पहले यह स्थिर कर लेना है कि भगवान्‌में ही सुख है, जगत्‌के विषयोंमें नहीं। इसलिये भगवान्‌को पाना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है।

२६—जहाँ प्रेम है, वहाँ वैराग्य है ही। प्रेमी मनुष्य विषयानुरागी हो नहीं सकता। जो सर्वस्व छोड़ नहीं सकता वह प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमकी यह परिभाषा है कि प्रेमके सिवा सारे जगत्‌का अस्तित्व मिट जाय प्रेमीके लिये। उसे प्रेम ही दीखे, प्रेम ही सुने और प्रेमकी ही सुवास आवे। जगत्‌का सर्वनाश होनेपर ही प्रेम आता है। बिना त्यागके प्रेमकी पाठशालामें प्रवेश ही नहीं हो सकता, त्यागकी भूमिमें ही प्रेमका बीज-वपन होता है।

२७-प्रेमकी जड़ नित्य होती है। प्रेममें दो बातें होती हैं—यह कभी घटता नहीं, टूटता नहीं। जहाँ ये दो बातें नहीं होतीं, वहाँ स्वार्थ ही प्रेमका स्वाँग धरकर बोलता है। प्रेममें कुछ भी लेनेकी कल्पनातक जाग्रत् नहीं होती। सर्वस्व देकर भी मनमें आता है कि कुछ है ही नहीं, क्या दिया जाय। प्रेम सदा अपनेमें कमीका बोध करता है। मोहसे उत्पन्न प्रेम (काम) वस्तु प्राप्त होनेपर घट जाता है। प्रेम वस्तुकी प्राप्ति होने और न होने—दोनों ही अवस्थाओंमें एक-सा रहता है।

२८—जबतक मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिमें भगवान्‌की कृपा मानता है तबतक उसने कृपाको समझा नहीं है।

२९–मौत आनेसे पहले-पहले अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दो—'हम तो तुम्हारे हो गये, अपनी चीजको जैसे चाहो सँभालो, बरतो, सजाओ, तोड़ो।' बस, मनुष्य-जीवनमें यही करना है।

३०–निर्भर भक्त भगवान्‌पर ही पूर्ण निर्भर करता है। उसे इतना ही याद रहता है—'मैं भगवान्‌का हूँ।' फिर भगवान्‌को जब जैसे करना है, अपने-आप करें। सारी चिन्ता, व्यवस्था, सारा भार माँके जिम्मे, बच्चा तो माँकी गोदमें मस्त है। पर जहाँ कुछ तकलीफ मालूम दी कि रोने लगा। माँ मारती है तब भी वह उसीकी गोदमें छिपता है। निर्भर भक्तकी यही दशा है।

३१–भगवान्‌की शरण होनेपर भी निश्चिन्तता न आवे और चिन्ता बनी रहे तो समझना चाहिये कि निर्भरताको समझा ही नहीं गया है। भगवान्‌की शरण होनेपर भी चिन्ता बनी रहे, यह सम्भव नहीं। अतः जबतक ऐसा न हो, तबतक अपनी शरण-निष्ठामें कमी समझनी चाहिये।

३२–जैसे धनका हिसाब-किताब रहता है, उसी प्रकार हमारा जो आध्यात्मिक धन है, असली कमाई है, उसमें हम घाटेमें रहे कि नफेमें, क्या कमाई हुई—दिन भरमें, महीने भरमें, साल भरमें, क्या तलपट रहा—इसका हिसाब रखना चाहिये।

३३—जिसके मनमें चाह है, वह भिखमंगा है। जहाँतक चाह है, वह बादशाह होते हुए भी भिखमंगा है और जिसके कुछ चाह नहीं, उसके पास कुछ न होते हुए भी वह बादशाह है। वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है।

३४—सुख किसी वस्तुमें नहीं, अपने आत्मामें है, अपने अंदर है। हमारी मनचाही चीज जब हमें मिलती है, तब हमारा मन कुछ क्षणोंके लिये टिकता है और उस टिके हुए मनपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं हम मान लेते हैं कि सुख अमुक वस्तु या परिस्थितिमें है। पर वास्तवमें संसारकी वस्तुएँ तो उपभुक्त होनेके पश्चात् मनको दूसरी वस्तुके लिये चंचल कर देती हैं, उनमें सुख कहाँ!

३५—जितना भी जागतिक सौन्दर्य है, केवल हमारी कल्पनामें है। सुन्दरता वस्तुमें नहीं है, वह हमारी धारणामें है। हमने मान लिया है कि अमुक पोशाक, रूप, रंगमें सुन्दरता है। पर वास्तवमें देखें तो इस हड्डी, चमडी, कफ, थूक, लार, मास, मज्जा, बालोंसे भरे शरीरमें सौन्दर्य कहाँ है! इन चीजोंको अलग-अलग करके देखा जाय तो उनमें सौन्दर्यकी तो कौन कहे, घृणा प्रतीत होगी। चमड़ीके वेष्टनमें ये चीजें भरी हैं। इससे हमारे मनने उनमें सौन्दर्य-बुद्धि कर ली है। हमारे मनने मान लिया है कि अमुक डील-डौल, अमुक प्रकारका रंग, अमुक प्रकारके अङ्गोंकी बनावटमें सौन्दर्य है। वस्तुतः तो इस शरीरकी प्रत्येक वस्तु घृणाका ही रूप है।

३६—घाटा दो प्रकारका है—एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक । लौकिक घाटा मनसे माननेपर है तथा उसकी पूर्ति भी सम्भव है, किंतु पारमार्थिक घाटा जन्म-जन्मान्तरतक कष्ट देता है । अतः जागतिक धनके लिये पारमार्थिक धनका नाश नहीं करना चाहिये ।

३७—अपने अंदर इतनी भलाई भरे और वह इतनी सुदृढ़ हो जाय कि कहीं भी जायँ, उसपर बाहरकी बुराईकी बूँद भी न लगे, अपितु जो सम्पर्कमें आवें उनपर हमारी अच्छाईकी निश्चित छाप पड़े । इतना प्रागल्भ्य होना चाहिये, इतना तेज होना चाहिये अपनी शुद्धतामें कि यदि कोई पापी आदमी भी सम्पर्कमें आ जाय तो कम-से-कम जितनी देर वह पास रहे, उतनी देरके लिये तो उसका मन पापसे छूट जाय ।

३८—जहाँ जो काम होता है, जैसे आदमी रहते हैं, जैसी बातें होती हैं, जैसी क्रियाएँ होती हैं, वहाँ वैसे ही चित्र वायुमण्डलमें बन जाते हैं । स्थान-माहात्म्य वहाँके परमाणुओंको लेकर है और परमाणु वहाँ हुई क्रियाओंको लेकर । तीर्थ क्या हैं?—तीर्थोंमें अच्छे लोग रहे, महात्मा रहे, भगवान्‌की उपासना-आराधना तथा तप आदि हुए । अतः वहाँके वायुमण्डलमें, जलकणमें, रजकणमें, भगवद्भावके परमाणु भर गये । यही तीर्थोंका तीर्थत्व है ।

३९—मनुष्य दूसरेके दोष देखता है, अपने नहीं । जो वस्तु मनुष्य देखता रहता है, वह उसमें आती रहती है । गुण देखनेवालेको गुण मिलते हैं, दोष देखनेवालेको दोष—यह नियम है । कोई भी चीज जब इन्द्रियाँ देखती हैं, सुनती हैं, सूँघती हैं

और मन साथ है तो सुनी, देखी, सूँघी बात उड़ नहीं जायगी, वह मनपर लिखी जायगी। अतः जब हम किसी वस्तुमें, व्यक्तिमें बुराई देखते हैं तो वह बुराई हमारे मनपर लिखी जाती है और जब भलाई देखते हैं तो भलाई लिखी जाती है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सदा-सर्वदा सर्वत्र शुभको ही देखना चाहिये।

४०—जिसके ममताकी चीजें जितनी अधिक हैं, वह उतना ही अधिक दुखी है।

४१—वैराग्यका अर्थ घर छोड़ना या कपड़े बदलना नहीं है। वैराग्यका अर्थ है विषयासक्तिको छोड़ना, भोगोंमें फँसे मनको उनसे छुड़ा लेना। वैराग्यका अर्थ यह नहीं कि किसी वस्तुको हम स्वरूपसे छोड़ दें; वैराग्यका अर्थ है—उस वस्तुमेंसे हम मनकी वृत्तिको हटा लें।

४२—विपत्तिमें साहस भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है। जो विपत्तिमें अपनेको निराश कर देता है, उसका उठना बड़ा कठिन होता है। विपत्ति तो मनुष्यके लिये कसौटी है, मनुष्यको मनुष्य बनाती है; उज्ज्वल बनाती है। विपत्ति सेवाकी भी भावना उत्पन्न करती है; क्योंकि विपत्तिमें पड़नेसे मनुष्य दूसरेकी विपत्तिको समझनेकी योग्यता प्राप्त करता है।

४३—जगत्‌के विषयी लोगोंमें जो श्रेष्ठ कहलाता है, उनके तराजूपर जो वजनदार उतरता है, समझ लो कि वह नीचे गिरा हुआ है। जो भगवान्‌की ओर बढ़नेवाला है, वह जगत्‌की बुद्धिके काँटेमें हल्का उतरता है, किंतु वास्तवमें वह श्रेष्ठ है।

संसारके विषयी लोगोंकी बुद्धिमें विषयोंका त्याग करनेवाला मूर्ख जँचता है, चाहे वे ऊपरसे कभी उसकी प्रशंसा कर दें, परंतु उसके प्रति उनकी तिरस्कार-बुद्धि होती है। अतएव विषयीलोग जिसको मूर्ख समझें, वही बुद्धिमान् है आध्यात्मिक मार्गमें और जगत्का तिरस्कार, अपमान ऐसे पथिकके भूषण होते हैं।

४४—मिठाईमें जहर मिला हुआ है। सब चीजें- घी, चीनी, मावा आदि वैसे ही हैं, देखनेमें सुन्दर हैं, सुगन्धित है और खानेमें मीठी भी है, बड़ा स्वाद भी आता है, पर परिणाम जहरका होता है। खानेवाला मर जाता है। ऐसे ही जितने विषय-सुख हैं, वे आरम्भमें अमृतके समान मालूम होते हैं, परंतु उनका नतीजा जहरके समान है। जगत्के जितने विषय हैं, वे वास्तवमें सुखरूप नहीं हैं, वे ऊपरसे ही सुखरूप दिखायी देनेवाले हैं।

४५—दैवी सम्पत्ति यदि बढ़ रही है, भगवान्में रुचि, प्रेम, आसक्ति, आकर्षण, उनका चिन्तन, उनकी स्मृति—ये सब चीजें बढ़ रही हैं तो समझना चाहिये कि हम ठीक रास्तेपर हैं। हमारी प्रगति हो रही है। यदि हम भगवान्को भूल रहे हैं, उनके प्रति आकर्षण, प्रीति आदि नहीं हैं, वे लापरवाहीकी वस्तु बने हुए हैं और आसुरी सम्पत्तिकी क्रमशः वृद्धि हो रही है तो चाहे हम भक्त, संत या महात्मा बने हुए हों और लोग भी हमें संत-महात्मा कहते हों, पर हम हैं पतित ही और जा भी रहे हैं पतनके गर्तमें ही। झूठे संत-महात्मा कहलानेमें हमें कुछ भी लाभ नहीं, उल्टे हानि-ही-हानि है।

४६—दुःख न तो किसी वस्तुमें है और न उसके अभावमें है। दुःख है हमारे मनकी भावनामें। एक व्यक्ति घरसे निकाल दिया गया; दूसरा घर छोड़कर संन्यासी हो गया। स्थिति दोनोंकी एक है; पर पहलेको दुःख है, दूसरेको सुख। मङ्गलमय भगवान् हमारे लिये अमङ्गल कर ही नहीं सकते—इसपर विश्वास करके प्रत्येक दशामें सदा भगवान्‌का मङ्गलमय विधान समझे तो हमारे लिये दुःख रहे ही नहीं।

४७—संसारका सुख प्रच्छन्न दुःख है। जब पर्दा हट जाता है तो वह दुःख तो है ही, पर मनुष्य उस स्थितिमें रोने लगता है।

४८—चाहे सत्यपर रहनेवाले व्यक्तिको असत्यसे अनुप्राणित लोगोंद्वारा कष्ट दिया जाय, परंतु इससे सत्यका कुछ बिगड़ता नहीं। वह तो सोनेको तपानेकी भाँति और भी उज्ज्वल होता है, निखरता है।

४९—जो सत्यको अपनाये हुए हैं, उन्हें जो लाभ होता है, वह ठोस होता है, असत्यसे जो लाभ होता है, वह तो लाभ ही नहीं है, भ्रमवश लाभ-सा दीखता है। वह महान् हानिका पूर्वरूप होता है। सत्य-पालनमें जो कष्ट होता है वह अन्तमें अद्भुत सुख देनेवाला होता है। वह पहले जहर-सा लगता है, पर परिणाममें अमृत-सदृश होता है, स्थायी होता है, ठोस होता है, नित्य होता है। यह हवाका-सा सुख नहीं होता जो उड़ जाय।

५०–विपत्तिमें, दुःखमें धर्म और सत्यपर दृढ़ रहना बड़ी कठिन बात है । पर जो दृढ़ रहता है उसकी विजय अवश्य होती है । जो व्यक्ति सत्य-सेवनसे विपत्ति-ग्रस्त हो, उसे घबराना नहीं चाहिये, क्योंकि सत्य सदा विजयी है । सत्यका मूल्य प्राणोंकी अपेक्षा भी बहुत ऊँचा है ।

५१–जब विपत्ति आये तब समझना चाहिये कि मुझपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है, भगवान् कृपा करके मुझे अपनाना चाहते हैं इसीसे वे 'अपने मन'की कर रहे हैं । विपत्ति भगवान्‌के मिलनेका संकेत है, मानो भगवान् इशारा करते हैं कि मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ ।

५२–जबतक 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रान्ति है, तबतक चाहे संसारके कितने ही भोग प्राप्त कर लें, हम सुखी हो नहीं सकते, क्योंकि वहाँ सुख है नहीं । जबतक आग जलती रहेगी, तबतक गरमी कैसे मिटेगी !

५३–बुद्धिमान् वह, बड़भागी वह, जिसका मन यह जान चुका कि विषय दुःखयोनि है, दुःखोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र है । विषयोंमें सुख नहीं, इनसे सुख मिल नहीं सकता । इसके विपरीत जो विषयोंमें सुख है, ऐसा मानते हैं, वे अभागे हैं, मूर्ख हैं ।

५४–जिसको यह निश्चय हो गया कि एकमात्र भगवान्‌में ही सुख-शान्ति है और जिसने विश्वासपूर्वक अपनेको भगवच्चरणों-पर न्योछावर कर दिया, वही भोगत्यागी महापुरुष बड़भागी है ।

कल्याण-सूत्र

मै बाहर-भीतर सर्वत्र भगवान्‌की कृपासे घिरा हुआ हूँ।

मुझपर चारों ओरसे भगवान्‌की दया बरस रही है।

मैं सर्वथा भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌ने मुझको अपना मान लिया है—

इससे भगवान् अपनी वस्तुकी भाँति ही मेरी सदा पूरी देख-रेख करते हैं।

भगवान्‌की अनन्त शक्ति मेरी सदा सहायता करती रहती है— इसलिये मै कभी भी असफल नहीं हो सकता।

मैं किसी भी कठिन-से-कठिन कामको आसानीसे कर सकता हूँ।

मेरी योग्यता प्रतिक्षण बढ़ रही है तथा सब उसपर विश्वास करते हैं।

मेरा जीवन सदा सफल होगा—सफल होगा ही।
मेरी बड़ी उपयोगिता है, क्योंकि प्रत्येक कार्यको मैं भगवान्‌की सेवा समझकर पूरी दिलचस्पीसे करता हूँ।
भगवान्‌का अनन्त प्यार मुझपर सदा बरस रहा है—
इसलिये—मेरा चित्त सदा शान्त है, उसमें अशान्ति आ ही नहीं सकती।
मेरा चित्त सदा सुखपूर्ण है, उसमें दुःख आ ही नहीं सकता।
मेरा चित्त सदा प्रफुल्लित है, वह कभी मुरझा ही नहीं सकता।
मेरा चित्त सदा स्नेहपूर्ण है, उसमें रूखापन आ ही नहीं सकता।
मेरा चित्त सदा पवित्र है, उसमें गंदगी आ ही नहीं सकती।
मेरा चित्त सदा भगवदाश्रित है, उसमें जलन हो ही नहीं सकती।
मेरा चित्त सदा पुण्यमय है, उसमें पापका बीज रह ही नहीं सकता।
मेरा चित्त सदा भगवद्विश्वासी है, उसमें निराशा आ ही नहीं सकती।
मेरा चित्त सदा भगवान्‌का स्मरण करता है, उसमें भय, विषाद, शोकका प्रवेश हो ही नहीं सकता।
मैं सुखी हूँ, मैं निष्पाप हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं सफल हूँ, मैं निर्भय हूँ, मैं प्रफुल्लित हूँ।
मैं नित्य भगवत्सेवामें लगा हूँ।
मैं नित्य भगवान्‌पर भरोसा रखता हूँ।

भगवान् सदा मेरे साथ हैं।
भगवान् सदा मेरी रक्षा करते हैं।
भगवान् सदा मुझे पथ-प्रदर्शन करते हैं।
भगवान् सदा मुझे सफलता देते हैं।
भगवान् सदा मुझे आगे बढ़ाते हैं।
भगवान् सदा मुझे अभय देते हैं।
भगवान् सदा मुझे पवित्र रखते हैं।
क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ।
भगवान्‌ने मेरी सारी कमजोरियाँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी निराशाएँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी कठिनाइयाँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी अयोग्यताएँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी कुवृत्तियाँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी शोक-विषादकी भावनाएँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी भयकी भावनाएँ ले ली हैं।
भगवान्‌ने मेरी सारी अपवित्रताएँ ले ली हैं—
क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ।

इसलिये—मै सदा सबल हूँ, सदा आशापूर्ण हूँ, सदा सरल-जीवन हूँ, सदा योग्य हूँ, सदा सद्वृत्तिशील हूँ, सदा निर्भय हूँ, सदा प्रसन्न हूँ और सदा पवित्र हूँ।

भगवान् मेरे हैं, मैं उनका हूँ। निश्चय! निश्चय!! निश्चय!!!

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं

मेरे अन्तरात्माके रूपमें स्थित भगवान् मुझे प्राप्त होनेवाली किसी भी परिस्थितिसे महान् हैं। मेरे लिये कोई भी स्थिति असहनीय नहीं है। भगवान्‌के अचिन्त्य ज्ञानके द्वारा कठिन-से-कठिन परिस्थितिका भी सरलतासे समाधान हो जाता है। अतएव मैं अपने जीवनकी समस्याओंको भगवान्‌की सर्वसंरक्षण-शक्तिको सौंपता हूँ। भगवान्‌की समाधान-विधायिनी शक्तिके सामने कुछ भी असम्भव तथा नैराश्यमय नहीं है। इसलिये किसी भी भयंकर स्थितिके झाँकनेपर मैं भयभीत नहीं होता।

मुझे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक स्थितिका सामना अपने आत्मारूपमें स्थित तथा सम्पूर्ण जगत्‌में परिव्याप्त परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिपर पूर्ण विश्वास करते हुए करता हूँ। जब मैं अपने मनको भगवान्‌की संरक्षणात्मक सर्वव्यापकतापर केन्द्रित रखता हूँ तो मैं किसी भी प्रकारकी हानिका भागी नहीं होता। मैं जीवनकी प्रत्येक स्थितिका प्रसन्नता एवं साहसके साथ सामना करता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे अन्तरमें स्थित भगवान्‌का विवेक मेरा मार्गदर्शन करता है तथा उनकी शक्ति मुझे शक्तिमान् बनाती है। अतएव मुझे कोई भय नहीं। मैं अपने स्वजनोंको भी परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिको सौंपता हूँ। मुझे विश्वास है कि उन्हें किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। परमात्मा उनमें भी विद्यमान है तथा प्रत्येक अवस्थामें उनका निरापद् मार्गदर्शन करता है।

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं।

संकटके समय विश्वासी भक्तकी भावना

मैं भगवान्की संतान हूँ और निरन्तर उनकी स्नेहमयी संनिधिमें हूँ। इस अनुभूतिसे मुझे अपार साहस एवं शान्ति प्राप्त होती है।

विकट परिस्थितियोंमें मुझे असफलताका अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं। जिम्मेदारियोंका बोझ भी अपने ऊपर लेनेकी मुझे आवश्यकता नहीं; और न जीवनकी परिस्थितियोंके परिवर्तन होनेपर मुझे यह भय करनेकी आवश्यकता है कि मेरी सुरक्षा—मेरा आश्रय अब विचलित हो रहा है।

'मैं कभी ऐसे स्थानपर नहीं रह सकता, न जा सकता, जहाँ भगवान् विद्यमान न हों'—यह विचार मेरे लिये कितने उत्साह, विश्वास और स्थिरताका है। मुझे भय करनेकी आवश्यकता नहीं, न मुझे संदेह करनेकी आवश्यकता है। मैं भगवान्की संतान हूँ; सदा उनके संरक्षणमें हूँ। वे मुझे प्यार करते हैं और उनका यह प्यार कभी नष्ट नहीं होता। भगवान् जीवनकी प्रत्येक गतिमें मेरा मार्गदर्शन करते हैं तथा मुझे उस मार्गपर बढ़ा ले चलते हैं। भगवान् सदा मेरे संनिकट हैं, मुझे सदा प्यार करते हैं, सदा मेरी पुकारका उत्तर देते हैं एवं सदा मेरी सहायता करते हैं।

'मैं भगवान्की संतान हूँ'—मैं इस सत्यका बार-बार स्मरण करता हूँ। प्रतिदिनकी प्रार्थनाके समय मैं भगवान्की संनिधिकी दृढ़ भावना करता हूँ और मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान्का प्यार मेरे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सक्रिय है।

मैं भगवान्में हूँ और भगवान् मुझमें हैं।

प्रतिशोधकी भावनाका त्याग करके प्रेम कीजिये

प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्यकशिपुके हितैषी षण्डामर्क नामक पापी पुरोहितोंने अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उसने प्रह्लादको मारना चाहा, पर भगवान्‌की कृपासे वह प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं कर सकी और लौटकर उसने उन दोनों पुरोहितोंको समाप्त कर दिया एवं स्वयं भी नष्ट हो गयी। गुरुपुत्रोंको जलते देखकर प्रह्लादसे नहीं रहा गया। वे 'श्रीकृष्ण! हे अनन्त! बचाओ, बचाओ' कहते हुए दौड़े। गुरुपुत्र तो दोनों मर चुके थे। प्रह्लादको इससे बड़ा दुःख हुआ। उनके मन कोई शत्रु था ही नहीं, वे सबमें भगवान्‌को व्याप्त देखते थे। वे भगवान्‌से उनको पुनर्जीवित करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'यदि मैं मुझसे शत्रुता रखनेवालोंमें भी सर्वव्यापी भगवान्‌को देखता हूँ; जिन लोगोंने मुझे विष देकर, आगमें जलाकर, हाथियोंसे कुचलवाकर और साँपोंसे डँसवाकर मारनेका प्रयत्न किया, उनके प्रति भी मेरी समानरूपसे मैत्री-भावना रही हो और उनमें मेरी पाप-बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके

प्रभावसे ये दोनों दैत्य-पुरोहित जीवित हो जायँ।'*

यों कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और वे दोनों ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे तथा प्रह्लादके प्रतिशोधभावसे रहित पवित्र आत्मभावकी मुक्तकण्ठसे कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रशंसा करने लगे।

प्रह्लादने महान् दुःख देनेवाले पिता हिरण्यकशिपुकी सद्गतिके लिये सर्वदा निष्काम होनेपर भी भगवान्से वरदान माँगा।

इसी प्रकार एक बार महर्षि दुर्वासाने क्रोधोन्मत्त होकर तपोबलसे कृत्याके द्वारा भक्तवर अम्बरीषको मारना चाहा। भगवान्के सुदर्शनचक्रसे सुरक्षित अम्बरीषको कृत्या नहीं मार सकी, सुदर्शनने कृत्याको ही जलाकर राखका ढेर कर दिया। तदनन्तर भीषण चक्र दुर्वासाकी ओर चला। दुर्वासा डरकर भागे। तपोबलसे वे समस्त ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेकी शक्ति रखते थे। वे दिशा, आकाश, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग, ब्रह्मलोक तथा कैलास— सभी जगह दौड़े गये; पर भगवद्भक्तके विरोधी होनेके कारण कहीं

---

* यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥
(विष्णुपुराण १।१८।४१-४३)

भी उनको आश्रय नहीं मिला। अन्तमें चक्रकी आगसे जलते हुए मुनि दुर्वासा वैकुण्ठमें पहुँचे और काँपते हुए वे भगवान्‌के चरणों-पर गिर पड़े। भगवान्‌से रक्षा करनेकी प्रार्थना की, परंतु वहाँ भी रक्षा नहीं हुई। भगवान्‌ने कह दिया—निरपराध 'साधु-पुरुषोंका बुरा चाहने-वाले तथा करनेवालेका अमङ्गल ही हुआ करता है। मेरे भक्त सबको त्यागकर मुक्तिको भी स्वीकार न करके मेरी शरणमें रहते हैं, वे केवल मुझको ही जानते हैं। ऋषिवर ! मैं उनके अधीन हूँ। उन्होंने मुझको वैसे ही अपने वशमें कर रक्खा है, जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है। आपको बचना हो तो आप उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाइये।'

दुर्वासा वैकुण्ठसे लौटकर अम्बरीषके चरणोंपर आ गिरे। अम्बरीष बड़े दुखी थे। दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अम्बरीषने भोजन नहीं किया था। आज दुर्वासाको अपने चरण पकड़े देखकर वे बहुत ही सकुचा गये और बड़ी अनुनय-विनय करके चक्रसे बोले—'यदि मैंने कभी कोई दान, यज्ञ या धर्मका पालन किया हो और हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको अपना आराध्य मानते रहे हों एवं यदि समस्त गुणोंके एकमात्र परमाश्रय भगवान्‌को मैंने समस्त प्राणियोंमें आत्माके रूपमें देखा हो तथा वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजीकी रक्षा हो, उनका सारा संताप तुरंत मिट जाय।'*

---

* यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः॥
यदि नो भगवान् प्रीतः एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥
(श्रीमद्भा० ९। ५। १०-११)

अम्बरीषकी प्रार्थनासे चक्रदेव शान्त हो गये । दुर्वासाकी सारी जलन मिट गयी । तब वे प्रतिशोधकी भावनासे सर्वथा रहित तथा मारनेका पूर्ण प्रयत्न करनेवालेका मङ्गल चाहनेवाले अम्बरीषके सम्बन्धमें कहने लगे—'आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा । आप इतना भयानक अपराध करनेवालेका भी मङ्गल कर रहे हैं । महाराज ! आप सच्चे भगवद्भक्त हैं । आपका हृदय करुणा-से परिपूर्ण है । आपने मुझपर बड़ा ही अनुग्रह किया । मेरे सारे अपराधोंको भुलाकर मेरे प्राण बचाये । धन्य हैं ।'

अम्बरीषने बड़े आदरसे उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें भोजन करवाकर तृप्त किया ।

इसी प्रकार महात्मा ईसाने क्रूसविद्ध करनेवालोंके लिये और भक्तराज हरिदासने मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की ।

परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध (बदला लेने) की भावना, वैर और हिंसावृत्ति—ये जितना हमें नरकोंमें ढकेलते हैं, हमारा सीमारहित बुरा करते हैं, उतना कोई भी दूसरा व्यक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकता । इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष तथा प्रतिशोधके द्वारा किसी भी सत्कार्यकी सिद्धि हुई हो । ये विचार या भाव मानव-जीवनके शान्ति तथा आनन्दको नष्ट कर देते हैं, इनसे बुद्धि मारी जाती है, विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, विचारका संतुलन मिट जाता है और मनुष्य अपना हित सोचनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपने ही हाथों अपने लिये कब्र खोदनेमें लग जाता है ।

इन दोषपूर्ण विचारोंसे जिसके प्रति ये विचार आते हैं, उसकी तो हानि होती है, उससे भी अधिक विनाशात्मक हानि उसकी होती है, जिसके हृदयमें इस प्रकारके दुर्विचार तथा दुर्भाव स्थान पाते हैं। यह वस्तुतः शारीरिक आत्महत्यासे भी बढ़कर हानिकर पाप है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक आत्महत्या होती है।

असली बात तो यह है कि मनुष्यका कोई शत्रु है ही नहीं। जिसने मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वह स्वयं ही अपना मित्र है तथा जिसके द्वारा मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है एवं जो उनका गुलाम है, वह आप ही अपना शत्रु है।

संसारमें जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त होता है, वह निश्चय ही हमारेद्वारा किये हुए अपने ही कर्मोंका फल है। बिना अपने प्रारब्ध-दोषके हमारा बुरा कोई कर ही नहीं सकता। हम कहीं किसीको हमारा अनिष्ट करते देखते हैं या मानते हैं तो यह हमारी भूल है। वह हमारे अनिष्ट करनेमें निमित्त बनकर या हमारे अनिष्टकी इच्छा करके अपने लि‌ए अनिष्ट फलका बीज अवश्य बो देता है, पर हमारा अनिष्ट तो हमारे कर्मफलस्वरूप ही होता है। कर्मफलमें हमारा बुरा नहीं होना है तो कोई भी, किसी भी प्रयत्नसे हमारा बुरा नहीं कर सकता। इसलिये यदि कोई हमारा बुरा करना चाहता है तो वह वस्तुतः अपना ही बुरा करता है और अपने-आप अपना अनिष्ट करनेवाला मूर्ख या पागल मनुष्य दयाका पात्र होता

है—घृणा, द्वेषका नहीं। इसीलिये—

उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

—कहा गया है। संत-हृदय अपने दुःखसे द्रवित नहीं होता, पर-दुःखसे दुखी होता है। इसीसे संत-हृदयको नवनीतसे भी अधिक विलक्षण कोमल बताया गया है—

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक विरोधियोंके प्रति भी घृणा-द्वेषके विचार न रखकर दया और प्रेमके भाव रखने चाहिये। महान् विजेता लिंकनने ली (Lee) की सेनाके आत्मसमर्पण करनेपर अपने सेनापतिको आदेश दिया था कि वे वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका ही व्यवहार करें।

हमारा किसीके द्वारा अनिष्ट हुआ है या हो रहा है—यह भ्रान्त धारणा हमारे मनमें उसके प्रति विरोध, घृणा, द्वेष उत्पन्न करके हमें प्रतिशोधमें प्रवृत्त करती है। यह प्रतिशोध-भावना अच्छे-अच्छे लोगोंमें बहुत दूरतक जाती है तथा जन्मान्तरोंमें भी साथ रहती है एवं नये-नये पाप-तापोंकी परम्परा चलाती रहती है। अतः इसको आने ही नहीं देना चाहिये, कहीं आ जाय तो तुरंत ही प्रेमकी प्रबल भावनासे इसको समूल नष्ट कर डालना चाहिये।

एक मनुष्यने हमें एक गाली दी, हमने उसको दो गालियाँ देकर अपनी प्रतिशोध-भावनाको चरितार्थ किया और उसमें नये द्वेष तथा प्रतिशोधभावको उत्पन्न करके पुष्ट कर दिया। यह अधिक बदला लेनेका अमङ्गल कार्य हुआ। एकके बदलेमें एक गाली देकर

भी बदला ले लिया । हमने अपनेको सभ्य मानकर गाली नहीं दी, पर पुलिसमें रिपोर्ट करके या कोर्टमें नालिश करके उसका बदला लेनेका प्रयत्न किया । अपनेको बहुत ही भला, सत्पुरुष मानकर हमने कोई कानूनी कार्रवाई तो नहीं की, परंतु यह कह दिया कि 'हम क्यों गालीके बदले गाली देकर अपनी जबान गंदी करें तथा क्यों कानूनी कार्रवाई करके अपने समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय करके वैर मोल लें । न्यायकारी ईश्वर सब देखते ही हैं, वे स्वयं ही इसको उचित दण्ड देंगे ।' यों कहकर हमने न्यायकारी सर्वसमर्थ ईश्वरके दरबारमें नालिश कर दी । प्रतिशोध (बदलना) लेनेकी भावनाने यहाँ भी पूरा काम किया ।

इससे भी और आगे प्रतिशोधकी गुप्त भावनाका प्रकाश तब होता है, जब वर्षों बाद उस गाली देनेवालेपर कोई घोर विपत्ति आती है, उस समय हमारे मनमें प्रतिशोधका छिपा भाव प्रकट हो जाता है और मन-ही-मन हम कहते हैं—'देखो, भगवान् कितने न्यायकारी हैं ! उसने हमें अमुक समय गाली दी थी, हमने तो कुछ भी बदलेमें नहीं किया, पर भगवान्ने आज उसे यह शिक्षा दे दी । अर्थात् उसपर यह विपत्ति हमें गाली देनेके फलस्वरूप ही आयी है ।' इस प्रकार—चाहे उसपर वह विपत्ति किसी दूसरे कर्मके फलरूपमें आयी हो, पर—हम उसे अपने प्रतिशोध-खातेमें खतियाकर पापके भागी बन जाते हैं ।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगता है कि मनुष्यके हृदयमें प्रतिशोधके भाव छिपे रहकर उसे समयपर कैसे गिरा देते हैं ।

अतएव परदोष-दर्शन, घृणा तथा द्वेष करके कभी भी मनमें प्रतिशोधके भावको न रहने दीजिये। घृणाके बदले प्रेम कीजिये अनिष्टके बदले हित कीजिये, अपराधके बदले क्षमा कीजिये। कभी यह भय मत कीजिये कि आपकी इससे कभी कुछ भी हानि होगी

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

भगवान्‌ने कहा—'प्रिय अर्जुन! भलाकर्म करनेवाला कोई भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' साथ ही यह भी मत सोचिये कि आपका सत्-प्रयत्न व्यर्थ होगा। वरं आपके सद्विचार तथा सद्भाव समस्त वातावरणमें फैलकर आपके हृदयमें तथा आपसे विरोध रखने-वालेके हृदयमें भी पवित्रता, मैत्री तथा शान्तिका विस्तार करेंगे।

आप किसी शत्रुको मित्र बनाना चाहते हैं तो उसके गुण देखकर उसकी सच्ची प्रशंसा कीजिये, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित कीजिये तथा उसके हितका, उसकी भलाईका शुभ आरम्भ कर दीजिये। उस प्रसङ्गको ही भूल जाइये, जिसके कारण आपके मनमें उसके प्रति विरोधी भाव उत्पन्न हुए थे। आप अपनी शुभ भावनासे उसके हृदयको निर्मल रूपमें देखिये, उसके हृदयमें सदा विराजित भगवान्‌के मङ्गलमय दर्शन कीजिये और मन-ही-मन सदा उसको नमन कीजिये।

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।
उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥

भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो

श्रीमद्भागवतमें नारदजीके वचन हैं कि 'जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेहीपर मनुष्यका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

'यज्ञसे—प्राणीमात्रकी सेवासे बचे हुए अन्नको खानेवाले सज्जन पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं और जो पापात्मा अपने लिये ही कमाते हैं, वे 'पाप' खाते हैं ।'

इससे यह सिद्ध है और यही उचित भी है कि हमारे पास जो कुछ है या हम जो कुछ भी कमाते हैं, वह केवल हमारे अपने लिये ही नहीं है, सबके लिये है । उसमेंसे हमारा उतनेपर ही हक है, जितनेसे दूसरोंकी तरह ही हमारा जीवन-निर्वाह हो सके । हम स्वयं बहुत शान-शौकतसे रहें, बहुत कीमती कपड़े पहनें, विशाल तथा सुसज्जित महलोंमें रहें, बढ़िया-बढ़िया मखमली गद्दोंपर सोयें, तेल, साबुन, पाउडर, क्रीममें पैसे लगायें, विलासितामें भी प्रचुर धन व्यय करें, खाने-पीनेमें जीभके स्वादके लिये पचासों प्रकारके पदार्थोंमें धन व्यय करें, खेल-तमाशोंमें, आडम्बरमें एवं अपनी व्यर्थ तथा अनर्थमयी इच्छाओं—वासनाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अनाप-शनाप पैसे खर्च करें, और उधर हमारे ही-जैसे हाथ-पैर-मन-बुद्धिवाले नर-नारी पेटभर अन्नके बिना तड़पते रहें, लाज ढकने तथा सर्दी-गरमीसे बचनेके लिये कपड़ा न पायें, रहनेके लिये छायाका अभाव अनुभव करें, बिछाने-ओढ़नेके लिये टाट भी न प्राप्त

कर सकें, रोगी बच्चोंतकके लिये दवा-पथ्यका प्रबन्ध न कर सकें, और निरन्तर अभावकी आगमें जलते रहें। यह सर्वथा पाप है। दुखियोंकी ओर ध्यान न देकर अपनी स्वार्थपरतामें लगे रहनेवाले ऐसे ही लोगोंको भागवतने 'चोर' और गीताने 'पाप खानेवाले' बताया है। वास्तवमें यह आसुरी-राक्षसी सम्पत्तिका एक जीता-जागता स्वरूप है।

अभी देशमें जगह-जगह बाढ़ आयी। लाखों घर बह गये। करोड़ोंकी खेती नष्ट हो गयी। हजारों जानें गयीं। असंख्य पशु-धनका विनाश हुआ। बाढ़पीड़ित लाखों हमारे ही-जैसे मन-बुद्धि-शरीरवाले नर-नारियों, वृद्ध-बालकोंको दाने-दानेके लिये तरसना पड़ा! अवश्य ही सरकारने तथा उदार दयालु सज्जनोंने, अनेकों संस्थाओंने उनकी सहायताके लिये तन-मन-धनका सदुपयोग किया तथा कर रहे हैं। तथापि हमारे मनमें जितनी और जैसी समवेदना तथा पीड़ा होनी चाहिये, उतनी और वैसी नहीं हो पायी। हममेंसे कुछने उनपर दया की, दयालुताके अभिमानकी रक्षा और वृद्धि की। पर यह नहीं हुआ कि हमने अपनी विलासिताके व्ययको घटाकर बचाये हुए सब पैसोंको स्वाभाविक ही उनकी सेवामें लगा दिया हो।

मनुष्यका कर्तव्य तो यह है कि एक बाढ़के समय ही क्यों, सदा-सर्वदा ही वह अपने लिये कंजूस और दूसरोंके लिये उदार रहे। स्व ॅ खूब सादगीसे रहे—उसकी अपनी आवश्यकता

कम-से-कम हो और दूसरोंकी आवश्यकताकी वह उदारतापूर्वक पूर्ति करता रहे। असल बात यह है कि हमारे पास जो कुछ भी धन, वैभव, पदार्थ, मन, बुद्धि तथा अन्यान्य साधन-सामग्री है—सब भगवान्‌की है, हम तो सेवकमात्र हैं। जब जहाँ जिस किसी वस्तुका अभाव होता है, तब वहाँ भगवान् ही हमसे, यदि वह वस्तु हमारे पास है, तो अपनी उस वस्तुको अभावग्रस्तके रूपमें हमसे माँगते हैं। जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ वे अन्न माँगते हैं, जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्र माँगते हैं। हमें उचित है कि ऐसे अवसरपर हम बिना किसी अभिमानके नम्रतापूर्वक भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें ईमानदारीसे समर्पण करते रहें और इसमें अपना परम सौभाग्य समझें।

अपनी आवश्यकताको बहुत बढ़ाकर तथा झूठी शान दिखानेके लिये बहुत अधिक खर्च करनेवाले लोग यदि विचारपूर्वक अपनी आवश्यकता कम कर लें और सादगी अपना लें तो उस बची हुई रकमसे आसानीके साथ बहुत सेवा हो सकती है। जैसे एक धनी आदमी पाँच सौ रुपयेका कोट पहनता है, वह यदि बीस रुपयेका कोट पहनकर चार सौ अस्सी रुपये बचा ले और उनसे दस-दस रुपयेके अड़तालीस कोट अड़तालीस व्यक्तियोंको दे दे तो एकके बदले उनचासका तन ढक सकता है। इसी प्रकार पाँच सौ रुपयेकी साड़ी पहननेवाली अमीर बहिन स्वयं बीस रुपयेकी साड़ी पहन लें और शेष चार सौ अस्सी रुपयोंसे पाँच-पाँच

रुपयेकी छियानवे साड़ी छियानवे गरीब बहिनोंको दे दे तो एकके बदले सत्तानवेको साड़ी मिल जाती है। इसी प्रकार अनावश्यक मिथ्या आवश्यकता और झूठी शानके बहुत-से खर्च घटाये जा सकते हैं और उन पैसोंसे दूसरोंकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इससे अपनी विलासिताकी, फिजूल-खर्चीकी तथा शानसे रहनेकी बुरी आदत छूटेगी, जीवन सुखी रहेगा और अनायास ही भगवान्‌की सेवा बनेगी। ऊँचा स्तर अधिक खर्च लगाकर शानसे रहनेमें नहीं है, ऊँचा स्तर है—हृदयकी विशालतामें। जो हृदय सबकी सेवाके लिये—सबके सुख-हितके लिये सदा ललचाता रहता है और अपना सब कुछ देकर प्रसन्नताका अनुभव करता है, वही हृदय विशाल है और यही जीवनका उच्च स्तर है।

याद रखना चाहिये—संसारके ये धनादि साधन रहेंगे नहीं, ये तो छूटेंगे ही। अतएव इनको अभावग्रस्त भाई-बहिनोंकी सेवाके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाकर सार्थक कर लेना चाहिये।

ग्रहोंके प्रकोपसे बचनेका भी यह एक परम साधन है। यह नियम है कि थोड़ेसे बीजसे बहुत फल प्राप्त होनेके न्यायसे हम दूसरोंके लिये जो देंगे, वही हमें अनन्तगुना होकर वापस मिल जायगा। हम दूसरोंको विपत्तिसे बचायेंगे तो भगवान् हमें घोर विपत्तिसे बचायेंगे।

भगवान् श्रीसीतारामजीका ध्यान

कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥

सब लोग सावधानीके साथ एक चित्तसे श्रीअवधमें चले चलिये । बड़ा सुन्दर रमणीय श्रीअवधधाम है । चक्रवर्ती महाराज अखिल भुवनमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् भगवान् श्रीराघवेन्द्र-जीकी बड़ी रमणीय पुरी है । रामराज्यकी सब प्रकारकी शोभा, रामराज्यकी आदर्श समाज-व्यवस्था श्रीअवधमें वर्तमान है । सभी ओर सब कुछ सुशोभन है । कलुष-नाशिनी श्रीसरयूजी मन्द-मन्द वेगसे बह रही हैं । श्रीसरयूजीके तटपर श्रीराघवेन्द्रका विहार-उद्यान है । फलों और पुष्पोंसे सुसज्जित बड़ा सुन्दर बगीचा है । बगीचेमें चारों ओर बड़े सुन्दर और मनोहर पुष्पोंसे सुशोभित वृक्ष हैं । उनमें भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं । उनके विविध प्रकारके

सौरभसे सारा उद्यान सुरभित हो रहा है। पुष्पोंपर भौंरे मँडरा रहे हैं। पुष्पोंकी रंग-बिरंगी शोभासे सभी ओर सुषमा छा रही है। फलोंके वृक्ष विविध फलोंके भारसे लदे हैं। बीचमें एक बड़ा मनोहर सरोवर है। सरोवरमें कमल खिले हुए हैं। सरोवरके भीतर जलपक्षी केलि कर रहे हैं। चारों ओर सुन्दर-सुन्दर घाट हैं। सरोवरके उत्तर ओर एक बड़ा सुन्दर कल्पवृक्ष है। सघन और फैला हुआ है। कल्पवृक्षके नीचे बहुत बढ़िया स्फटिक मणिका सिंहासन बना हुआ है। चारों ओर विविध पुष्पोंकी लताएँ बिखरी हुई हैं। उनमें विविध भाँतिके सुन्दर-सुरभित फूल खिले हुए हैं। संध्याका समय है। बड़ा सुन्दर और सुगन्धित मन्द-मन्द समीर बह रहा है। इस मनोहर पुष्पोद्यानमें श्रीराघवेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और अखिल जगत्की जननी श्रीजानकीजी नित्य संध्याके समय पधारा करते हैं। उस समय उनके साथ कोई सेवक नहीं रहता है, केवल श्रीहनुमान्जी साथ रहते हैं।

आज भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपनी सारी सुषमाके साथ—समस्त शोभाओंसे सुशोभित, सौन्दर्य-माधुर्यमण्डित विश्वजननी श्रीजनकनन्दिनीके साथ पधारे हैं। भगवान् बड़ी मन्दगतिसे धीरे-धीरे सरोवरके निकट चले आते हैं। पीछे-पीछे श्रीहनुमान्जी हैं। श्रीभगवान् उत्तर तटकी ओर पधारे हैं। सुन्दर वितानवाले कल्पवृक्षके नीचे स्फटिक मणिकी मनोहर एक पीठिका है। उस स्फटिक मणिके सुन्दर सिंहासनपर बहुत ही बढ़िया और सुकोमल दूर्वाके रंगका एक गलीचा बिछा हुआ है, उसके पीछे दो तकिये लगे हुए हैं, दोनों ओर

दो सुन्दर मसनद हैं। चौकीके सामने नीचेकी ओर चरण रखनेके लिये दो पादपीठ सुसज्जित हैं। उनपर दो सुन्दर कोमल गद्दी बिछी हुई हैं। सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर मरकत मणिकी नीची चौकीपर श्रीहनुमान्‌जीके लिये आसन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीजनकनन्दिनीजीके साथ गलीचेवाले स्फटिक मणिके सिंहासनपर विराजमान हो गये हैं। श्रीहनुमान्‌जी सामने बैठ गये हैं। भगवान् श्रीरामके नेत्रोंकी ओर किसी आज्ञाकी प्रतीक्षामें टकटकी लगाकर देखने लगते हैं। भगवान् श्रीरामका बड़ा सुन्दर स्वरूप है। भगवान्‌के श्रीअङ्गका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है—'नीला, नीलेमें कुछ हरी आभा, उसपर उज्ज्वल प्रकाश।·······केकीकण्ठाभनीलम्' जैसा मयूरके कण्ठकी नीलिमामें हरित आभा होती है·······चमकता रंग होता है। इस प्रकार श्रीभगवान्‌के अङ्गका रंग नीलहरिताभ-उज्ज्वल है। बड़ी ही सुन्दर आभा है—दिव्य चमकता प्रकाश। भगवान्‌के श्रीअङ्गका वर्णन आता है—

'नीलसरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।'

नीले सुन्दर कमलके समान भगवान्‌के कोमल अङ्ग हैं, नीलमणिके समान अत्यन्त चिकने और चमकते हुए अङ्ग हैं, नव-नील-नीरद—जलवाले बादलोंके समान सरस अङ्ग हैं। सरसता, सुकोमलता और सुचिक्कणता बड़े प्रकाशके साथ सुशोभित हैं। एक-एक अङ्ग इतने मनोहर, मधुर और आकर्षक हैं कि करोड़ों कामदेव एक-एक अङ्गपर निछावर हो रहे हैं। इनकी उपमा कहीं

नहीं जा सकती है। शोभा अतुलनीय और निरुपम है। श्रीभगवान्‌के अङ्ग-अङ्गसे मनोहर सुस्निग्ध ज्योति निकल रही है। सहस्रों, लक्षों, कोटि-कोटि सूर्यका प्रकाश है……पर उसमें तनिक भी उत्ताप नहीं है, दाहकता नहीं है। करोड़ों चन्द्रमाकी शीतलता साथ लिये हुए है। सूर्यकी तीव्र प्रकाशमयी उष्णता और चन्द्रमाकी सुधा-वर्षिणी ज्योत्स्नामयी शीतलताका समन्वय—दोनोंका एक ही समय, एक ही साथ रहना कैसा होता है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। श्रीभगवान्‌के रोम-रोमसे एक प्रकारकी दिव्य ज्योति निकल रही है, जो अपनी आभासे समस्त प्रदेशको ज्योतिर्मय बनाये हुए है। भगवान्‌ने ज्योतिर्मय पीतोज्ज्वल रंगका दिव्य वस्त्र परिधान किया है, उसमें लाल पाड़ है। पाड़की लालिमा भी उज्ज्वल प्रकाशमयी है। उस वस्त्रके सुन्दर स्वर्णमय प्रकाशके भीतरसे नील-हरिताभ-अङ्ग-ज्योति निकल-निकलकर एक विचित्र-विलक्षण रंगवाली आभा बन गयी है। नील-हरिताभ-उज्ज्वल ज्योतिके साथ-साथ भगवान्‌के स्वर्णवर्ण पीताम्बरकी पीताभ ज्योति मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति बन गयी है, जिसे देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। उसको देखते ही बनता है। भगवान्‌की पीठपर गलेसे आता हुआ एक दुपट्टा लहरा रहा है, उसका स्वर्ण-अरुण वर्ण है। भगवान्‌के श्रीचरण बड़े सुन्दर, सुकोमल और अत्यन्त मनोहर हैं। श्रीभगवान्‌का वाम श्रीचरण नीचेकी पादपीठपर टिका है। दक्षिण श्रीचरणको भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपनी वाम जंघापर रक्खा है, जिसका तल जगज्जननी जानकीजीकी ओर है। भगवान्‌के श्रीचरण-तल बड़े मनोहर और सुन्दर हैं, उनमें ध्वजा, वज्र, कमल आदिकी अति

सुन्दर रेखाएँ स्पष्ट हैं। चरण-तल सुकोमल अरुणाभ हैं, उनमें लाल-लाल ज्योति निकल रही है। भगवान्‌के श्रीचरणोंकी अंगुलियाँ, जो एक-से-एक छोटी अंगुलीसे अंगूठेतक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं, परम सुशोभित हैं। भगवान्‌के श्रीचरणोंसे एक ज्योति निकल रही है, चरणतलसे ज्योति निकल रही है, चरण-नखसे विद्युत्‌की तरह सुस्निग्ध मनोहर ज्योति निकल रही है, बड़ी सुन्दर प्रकाशमयी है; उसकी ज्योति-किरण जिस-जिसके समीप जाती है, उसी-उसीमें मलज्ञानका उदय हो जाता है। यह उनकी चरण-कमल-प्रभाका सहज प्रसाद है। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें नूपुर हैं। जाँघ और घुटने बड़े सुन्दर हैं। जाँघ बड़ी सुकोमल, बड़ी स्निग्ध, सुचिक्कण और अत्यन्त शोभामयी है। भगवान्‌की कटि अति सुन्दर है, भगवान्‌ने उसमें रत्नोंकी—दिव्य रत्नोंकी—दिव्य स्वर्णकी करधनी पहनी है, उस करधनीमें नवीन-नवीन प्रकारके छोटे-बड़े मुक्ता लटक रहे हैं, बीच-बीचमें—मुक्ताओंके बीचमें मधुर ध्वनि करनेवाली घुँघुरियाँ लगी हैं। भगवान्‌का उदर देश बड़ा सुन्दर है; गम्भीर नाभि है, उदरमें तीन रेखाएँ हैं। भगवान्‌का वक्षःस्थल बड़ा चौड़ा है, विशाल है। वक्षःस्थलमें बायीं ओर भृगुलताका चिह्न है, दाहिनी ओर पीत-केशर-वर्णकी मनोहर रेखा है—श्रीवत्सका चिह्न है। भगवान्‌के विशाल वक्षःस्थलपर अनेक प्रकारके आभूषण सुशोभित हैं, गलेमें पहनी हुई रत्नमाला है, मुक्तामणिके हार हैं, कौस्तुभमणि है। राजोद्यानके सुन्दर-सुन्दर विचित्र पुष्पोंकी माला है, पुष्पोंका हार है, जो सारे वक्षःस्थलको आच्छादित करते हुए नाभिदेशतक लटक रहा है। कटितटतक नीचे पुष्पहारसे सुगन्ध निकल रही है, उस पुष्पहारपर

भ्रमर मँडराते हैं, मधुर गुञ्जार कर रहे हैं। भगवान्‌के कंधे, बड़े मजबूत''सुदृढ़ बड़े ऊँचे हैं—केहरिकंध—सिंहके समान कंधे हैं। भगवान्‌की विशाल बाहु हैं, आजानुबाहु हैं, भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी हैं। ऊपर मोटी—हाथीकी सूँडकी तरह, नीचे पतली हैं। इतनी सुडौल और सुन्दर हैं कि देखते ही चित्त मुग्ध हो जाता है। वे भुजाएँ सारे जगत्‌की रक्षाके लिये, साधु-रक्षा और असाधुके विनाशके लिये नित्य प्रस्तुत हैं। विशाल बाहुमें बाजूबंद हैं, उनमें नीलम, पन्ना और हीरे जड़े हुए हैं। उन दोनों बाजूबंदोंके बीचमें एक-एक लड़ लटक रही हैं, लड़में बड़े सुन्दर महामूल्यवान् रत्न जड़े हुए हैं। भगवान्‌के पहुँचोंमें रत्नोंके कड़े हैं, उनसे ज्योति निकल रही है। भगवान्‌के करकमलोंकी अंगुलियोंमें रत्नोंकी अंगूठियाँ सुशोभित हैं, जो एक-से विचित्र हैं। भगवान्‌के श्रीअङ्गका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है, पीताम्बरका वर्ण स्वर्ण-शुभ्र उज्ज्वल है। भगवान्‌के विविध आभूषणोंके भाँति-भाँतिके रत्न अलग-अलग वर्णोंकी आभा बिखेर रहे हैं, भगवान्‌के चारों ओर मिलकर विचित्र ज्योति छिटक रही है, विलक्षण शोभा हो रही है, मनुष्य न तो कुछ कह सकता है, न वर्णन कर सकता है। कम्बुकण्ठ है—गलेमें रेखाएँ हैं। भगवान्‌की बड़ी सुन्दर ठोड़ी है। अधरोष्ठ अरुण वर्णके हैं, मनोहर स्वाभाविक मन्द-मन्द उनकी मुसकान है। मन्द हास्य सबको विमोहित कर रहा है। दन्तपंक्ति बड़ी ही सुन्दर है, मानो हीरे चमक रहे हैं, उज्ज्वलता है, ज्योति निकल रही है और अरुण अधरोष्ठपर पड़कर विचित्र शोभा उत्पन्न कर रही है। भगवान्‌के

सुन्दर सुचिक्कण कपोल हैं। उनकी नुकीली नासिका है। भगवान्के दोनों कान बड़े मनोहर हैं, उनमें मछलीकी आकृतिके बड़े सुन्दर रत्नोंके कुण्डल चमचमा रहे हैं। भगवान्के नेत्र बहुत बड़े हैं, बहुत विशाल हैं। भगवान्के नेत्रोंसे कृपा, शान्ति और आनन्दकी धारा अनवरत निकल रही है। भगवान्की सुन्दर नेत्र-ज्योति है। मनोहर टेढ़ी भृकुटि है, जो मुनियोंके मनको हर लेती है। जिन्होंने एक बार दर्शन किया, वे सारे साधन भूलकर, जीवन भूलकर भगवान्के श्रीचरण-प्रान्तमें निरन्तर निवास करनेका मनोरथ करते हैं। भगवान्का विशाल ललाट है, उसपर तिलक सुशोभित है, दोनों ओर श्वेत रेखा है और बीचमें लाल रेखा है, इस प्रकार भगवान्के ललाटपर तिलक है। उनका विशाल भाल है, मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश हैं, मानो अगणित भ्रमर मँडरा रहे हैं। भगवान्की मनोहर अलकावली मुनियोंके मनको हरनेवाली है। उनके मस्तकपर सुन्दर रत्नोज्ज्वल किरीट है, इतना चमकता है, इतना बढ़िया है, उसमें इतने रत्न जड़े हैं कि उसकी शोभाका वर्णन नहीं किया जा सकता, इतना हल्का और पुष्प-सा कोमल है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान्के वस्त्र-आभूषण—सब-के-सब दिव्य हैं, चेतन हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्रके दाहिने कंधेपर धनुष है, बायें हाथमें बाण सुशोभित है, पीछे कटिमें बाणोंका भाथा बँधा हुआ है। भगवान् दाहिने हाथमें सुन्दर पुष्प लिये हुए हैं, रक्त-कमलका सुन्दर सुशोभित पुष्प है—बड़ा मधुर सुगन्धयुक्त, छोटा-सा अनेक दलोंका कमल है, उसकी नालको पकड़े घुमा रहे हैं। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र

कल्पवृक्षके नीचे स्फटिकमणिके सिंहासनपर हरिताभ गलीचेपर विराजमान हैं।

वाम-पार्श्वमें श्रीजनकनन्दिनीजी विराजमान हैं। उनके दोनों अति कोमल श्रीचरणकमल नीचेकी पादपीठपर विराजित हैं। उनका पवित्र सुन्दर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण है, सोनेके समान वदनकी आभा है, पर सोनेकी भाँति कठोर नहीं है। सोनेकी भाँति चमचमाते हुए माताजीके समस्त अङ्ग अत्यन्त सुकोमल और तेजसे युक्त हैं। करोड़ों सूर्य-चन्द्रकी शीतल प्रकाशमयी उज्ज्वल ज्योतिधारा उनके श्रीअङ्गसे वैसे ही निकल रही है, जैसे भगवान् श्रीरामके श्रीअङ्गसे। श्रीसीताजी विविध भूषणोंसे सज्जित हैं, नीलवर्णके वस्त्र हैं, वक्षःस्थलपर आभूषण हैं, बायें हाथमें पुष्प है, दाहिने हाथसे कर्णकुण्डलको सुधार रही हैं, जंघापर रक्खे भगवान्‌के श्रीचरणतलकी ओर जनकनन्दिनीके दिव्य नेत्र लगे हैं—पलक नहीं पड़ती है, वे श्रीरामके चरण-तलके दर्शनानन्दमें विभोर हैं, दूसरी ओर उनका दृष्टिपात ही नहीं है। भगवान्‌की नील-हरिताभ-उज्ज्वल आभावाली ज्योति नित्य नयी छटा दिखा रही है। उसके साथ श्रीजनकनन्दिनीजीकी स्वर्णिम अङ्ग-ज्योति, उनके नीलवस्त्रकी ज्योति, आभूषणोंकी ज्योति—सब मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति चारों ओर छिटक रही है। उसकी शोभा अवर्णनीय है।

सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर नीचे मरकतमणिके आसनपर श्रीमारुतिजी विराजमान हैं। उनके श्रीअङ्गका पिंगल वर्ण है, जो

उज्ज्वल आभासे युक्त है। लाल वस्त्र पहने हुए हैं, सब अङ्गोंपर श्रीरामनाम अङ्कित हैं, हृदयदेश मानो दर्पण है, उसमें स्फटिकमणि-के सिंहासनपर विराजमान श्रीराम-जानकी प्रतिबिम्बित हैं। उनके नेत्रोंसे अविरत प्रेमाश्रुधारा बह रही है, टकटकी लगाये हुए हैं। श्रीरामके नेत्रकी कृपाधारामें नहाते अपने-आपको कृतकृत्य मान रहे हैं। शरीर रोमाञ्चित है। मुखमण्डल ज्योतिसे झलमला रहा है। शरीर आनन्दसे पुलकित है। आनन्दका अनुभव करते हुए विशेष आज्ञाकी प्रतीक्षामें वे निर्निमेष नेत्रोंसे श्रीराघवेन्द्रकी ओर निहार रहे हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीराम-जानकी श्रीहनुमान्‌के साथ विहार-उद्यानमें विराजमान हैं। मन्द-मन्द समीर बह रहा है, समीप ही सरयूकी मन्द धारा है, अनेक प्रकारके पक्षी चहचहा रहे हैं, वनकी शोभा अत्यन्त मनोहर हो रही है। भगवान्‌का वह स्वरूप अत्यन्त मनोहर सुन्दर है, सुषमा वर्णनातीत है। कोई भी किसी कालमें वर्णन नहीं कर सकता, देखनेसे मन मुग्ध हो जाता है। यों जब हृदयमें श्रीराम आते हैं, तब मारुतिकी तरह शीतल अश्रु-धारा बहती है, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। इस मनोहर ध्यानमें मग्न हो जाना चाहिये।

इस प्रकार भगवान् सामने हैं, उन्हें मनके द्वारा आप देख सकते हैं। तन्मयता होनेपर ध्यान हो सकता है। बड़ा सुन्दर ध्यान है। इसमें मन लग जाय तो क्या कहना है।

भगवान्‌का मङ्गल विधान

(सत्य घटना)

[१]

पुरानी बात है—कलकत्तेमें सर कैलासचन्द्र वसु प्रसिद्ध डाक्टर हो गये हैं। उनकी माता बीमार थीं। एक दिन श्रीवसु महोदयने देखा—माताकी बीमारी बढ़ गयी है, कब प्राण चले जायँ, कुछ पता नहीं। रात्रिका समय था। कैलास बाबूने बड़ी नम्रताके साथ माताजीसे पूछा—'माँ, तुम्हारे मनमें किसी चीजकी इच्छा हो तो बताओ, मैं उसे पूरी कर दूँ।' माता कुछ देर चुप रहकर बोलीं—'बेटा! उस दिन मैंने बंबईके अंजीर खाये थे। मेरी इच्छा है अंजीर मिल जायँ तो मैं खा लूँ।' उन दिनों कलकत्तेके बाजारमें हरे अंजीर नहीं मिलते थे। बंबईसे मँगानेमें समय अपेक्षित था। हवाई जहाज थे नहीं। रेलके मार्गसे भी आजकलकी अपेक्षा अधिक समय लगता था। कैलास बाबू बड़े दुखी हो गये—माँने अन्तिम समयमें एक चीज माँगी और मैं माँकी उस माँगको पूरी नहीं कर सका, इससे बढ़कर मेरे लिये दुःखकी बात और क्या होगी? पर कुछ भी उपाय नहीं सूझा।

रुपयोंसे मिलनेवाली चीज होती तो कोई बात ही नहीं थी । कलकत्ते या बंगालमें कहीं अंजीर होते नहीं, बाजारमें मिलते नहीं । बंबईसे आनेमें तीन दिन लगते हैं। टेलीफोन भी नहीं जो सूचना दे दें। तबतक पता नहीं—माताजी जीवित रहें या नहीं, अथवा जीवित भी रहें तो खा सकें या नहीं। कैलास बाबू निराश होकर पड़ गये और मन-ही-मन रोते हुए कहने लगे—'हे भगवन् ! क्या मैं इतना अभागा हूँ कि माँकी अन्तिम चाहको पूरी होते नहीं देखूँगा !'

रातके लगभग ग्यारह बजे किसीने दरवाजा खोलनेके लिये बाहरसे आवाज दी । डाक्टर बसुने समझा. किसी रोगीके यहाँसे बुलावा आया होगा । उनका चित्त बहुत खिन्न था । उन्होंने कह दिया—'इस समय मैं नहीं जा सकूँगा ।' बाहर खड़े आदमीने कहा—'मैं बुलाने नहीं आया हूँ, एक चीज लेकर आया हूँ—दरवाजा खोलिये ।' दरवाजा खोला गया । सुन्दर टोकरी हाथमें लिये एक दरबानने भीतर आकर कहा—'डाक्टर साहेब ! हमारे बाबूजी अभी बंबईसे आये हैं, वे सबेरे ही रंगून चले जायँगे, उन्होंने यह अंजीरकी टोकरी भेजी है, वे बंबईसे लाये हैं । मुझसे कहा है कि मैं सबेरे चला जाऊँगा—अभी अंजीर दे आओ । इसीलिये मैं अभी लेकर आ गया । कष्टके लिये क्षमा कीजियेगा ।'

कैलास बाबू अंजीरका नाम सुनते ही उछल पड़े । उन्हें उस समय कितना और कैसा अभूतपूर्व आनन्द हुआ, इसका अनुमान कोई नहीं लगा सकता । उनकी आँखोंमें हर्षके आँसू आ गये, शरीरमें आनन्दसे रोमाञ्च हो आया । अंजीरकी टोकरीको

लेकर वे माताजीके पास पहुँचे और बोले—'माँ ! लो—भगवान्‌ने अंजीर तुम्हारे लिये भेजे हैं ।' उस समय माताका प्रसन्नमुख देखकर कैलास बाबू इतने प्रसन्न हुए मानो उन्हें जीवनका परम दुर्लभ महान् फल प्राप्त हो गया हो।

बात यह थी, एक गुजराती सज्जन, जिनका फार्म कलकत्ते और रंगूनमें भी था, डाक्टर कैलास बाबूके बड़े प्रेमी थे । वे जब-जब बंबईसे आते, तब अंजीर लाया करते थे। भगवान्‌के मङ्गल-विधानका आश्चर्य देखिये, कैलास बाबूकी मरणासन्न माता आज रातको अंजीर चाहती है और उसकी चाहको पूर्ण करनेकी व्यवस्था बंबईमें चार दिन पहले ही हो जाती है और ठीक समयपर अंजीर कलकत्ते उनके पास आ पहुँचते हैं ! एक दिन पीछे भी नहीं, पहले भी नहीं।*

(२)

पुरानी बात है । स्वर्गीय भाई कृष्णकान्तजी मालवीय नैनी जेलमें थे, उनको बस्ती स्थानान्तरित किया गया । श्रीकृष्णकान्तजी मुझे अपना भाई मानते थे । उनकी मेरे प्रति अकृत्रिम प्रीति तथा परम आत्मीयता थी । इससे उन्होंने गीताप्रेसके पतेसे मेरे नाम तार दिया कि 'हमलोग कई आदमी रेलसे गोरखपुर होकर बस्ती जा रहे हैं—गोरखपुर स्टेशनपर

* डा० श्रीकैलाशचन्द्र महोदयने यह घटना स्वयं मुझे सुनायी थी। बहुत दिनोंकी बात होनेसे लिखनेमें कहीं कुछ साधारण गलती भी रह सकती है।

भोजनकी व्यवस्था कीजिये ।' गोरखपुरमें उन दिनों संध्याको लगभग पाँच बजे ट्रेन पहुँचती थी । तार गीताप्रेसमें आया । उन लोगोंने कुछ भी व्यवस्था न करके तार मेरे पास एक साइकलवाले आदमीके हाथ भेज दिया, मैं प्रेससे लगभग साढ़े तीन मील दूर ऐसी जगह रहता था, जहाँ उन दिनों इक्के, ताँगे कुछ भी नहीं मिलते थे । न मोटर थी, न टेलीफोन । वह आदमी लगभग ४॥ बजे मेरे पास पहुँचा । घरमें भोजनका सामान भी बनाया तैयार नहीं था । प्रेसके लोगोंपर मुझे झुँझलाहट हुई कि उन्होंने व्यवस्था न करके तार मेरे पास क्यों भेज दिया । स्टेशन यहाँसे तीन मील दूर है, सवारी पास नहीं, सामान तैयार नहीं । कुल १५ । २० मिनटका समय ट्रेन आनेमें है । मेरे मनमें बड़ा खेद था—'भाई कृष्णकान्तजीको भोजन नहीं मिलेगा, वे क्या समझेंगे ।'—मैंने भगवान्‌को स्मरण किया ।

इतनेमें देखता हूँ तो दो इक्के आकर बगीचेमें खड़े हो गये । साथ एक सज्जन थे । उन्होंने कहा, 'बाबू बालमुकुन्दजीके यहाँ प्रसाद था । उन्होंने आपके लिये भेजा है ।' मैं जिस बगीचेमें रहता था, वह उन्हींका था, वे मेरे प्रति बड़ा स्नेह रखते थे । मैंने देखा—कई तरहकी मिठाई, पूरी, नमकीन, साग, अचार, सूखा मेवा, फल पर्याप्त मात्रामें हैं । मेरी प्रसन्नताका पार नहीं । मैंने मन-ही-मन कहा—भगवान्‌ने कैसी सुनी । उन्हीं इक्कोंको पूरे सामानसहित एक आदमी साथ देकर मैंने स्टेशन भेज दिया—कह दिया—जल्दी ले जाना, कहीं गाड़ी छूट न जाय । गाड़ी दस-पंद्रह मिनट लेट आयी । सामान पहुँच गया । वे लोग एक दर्जनसे ज्यादा आदमी

थे। सबने भरपेट भोजन किया। मेरा आदमी लौटकर आया, तबतक मुझे चिन्ता रही कहीं गाड़ी छूट तो नहीं गयी होगी! आदमीने लौटकर सब समाचार सुनाया तो मेरे हृदयमें भगवान्‌के मङ्गल विधानके प्रति महान् विश्वास हो गया। कैसा सुन्दर विधान है! मुझे जरूरत पौने पाँच बजे हुई, तार अभी मिला। परंतु उस जरूरतको पूरी करनेकी तैयारी कहीं बहुत पहले हो गयी और ठीक जरूरतके समयपर सामान पहुँच गया। सामान भी इतना कि जिससे इतने लोग तृप्त हो गये। मुझे तो पता भी नहीं था कि कितने आदमी खानेवाले हैं। इक्के भी साथ आ गये—जिससे सामान स्टेशनपर भेजा जा सका। ठीक समयपर सामान पहुँचा। एक घंटे बाद पहुँचता, तब भी इस काममें नहीं आता और दो-एक घंटे पहले पहुँच गया होता तो उसे दूसरे काममें ले लिया जाता, इस कामके लिये नहीं बचता।

इससे सिद्ध होता है कि कोई ऐसी सदा जाग्रत् रहकर व्यवस्था करनेवाली अचिन्त्य महान् शक्ति है जो आगे-से-आगे यथायोग्य व्यवस्था करती रहती है—और वही शक्ति जगत्‌का संचालन करती है। उसके मङ्गल विधानके अनुसार सब कार्य सुव्यवस्थितरूपसे होते रहते हैं। जो स्थिति अब सामने आती है, उसकी तैयारी बहुत पहले हो जाती है। मनुष्य उस परम शक्तिपर विश्वास करके निश्चिन्त रह सके तो भगवान्‌की सेवाके भावसे सब कार्य करता हुआ भी वह सदा सुखी रह सकता है।

मोचीमें मनुष्यत्व

एक गरीब भूखे ब्राह्मणने किसी बड़े शहरमें ढाई पहर घर-घर धक्के खाये, परंतु उसे एक मुट्ठी चावल किसीने नहीं दिया। तब वह थक गया और निराश होकर रास्तेके एक किनारे बैठकर अपने भाग्यको कोसने लगा—'हाय ! मै कैसा अभागा हूँ कि इतने धनी शहरमें किसीने एक मुट्ठी चावल देकर मेरे प्राण नहीं बचाये।' इसी समय उसी रास्तेसे एक सौम्यमूर्ति साधु जा रहे थे, उनके कानोंमें ब्राह्मणकी करुण आवाज गयी और उन्होंने पास आकर पूछा—'क्यो भाई, यहाँ बैठे-बैठे तुम क्यों अपनेको कोस रहे हो?' दरिद्र ब्राह्मणने कातर कण्ठसे कहा—'बाबा ! मै बड़ा ही भाग्यहीन हूँ, सुबहसे ढाई पहर दिन चढ़ेतक मै द्वार-द्वार भटकता रहा, कितने लोगोंके सामने हाथ फैलाया, रोया, गिड़गिड़ाया—परंतु किसीने हाथ उठाकर एक मुट्ठी भीख नहीं दी। बाबा ! भूख-प्यासके मारे मेरा शरीर अत्यन्त थक गया है, अब मुझसे चला नहीं जाता। इससे यहाँ बैठा अपने भाग्यपर रो रहा हूँ।'

साधुने हँसकर कहा—'तुमने तो मनुष्यसे भीख मॉगी ही नहीं, मनुष्यसे माँगते तो निश्चय ही भीख मिलती।' ब्राह्मणने चकित होकर कहा—'बाबा ! तुम क्या कह रहे हो। मैंने दोनों आँखोंसे अच्छी तरह देखकर ही भीख मॉगी है। सभी मनुष्य थे, पर किसीने मेरी कातर पुकार नहीं सुनी।'

साधु बोले—'मनुष्यके दुःखको देखकर जिसका हृदय नहीं पिघलता, वह कभी मनुष्य नहीं है, वह तो मनुष्यदेहधारी पशुमात्र है। तुम यह चश्मा ले जाओ, एक बार इसे आँखोंपर लगाकर भीख

माँगो, मनुष्यसे भीख माँगते ही तुम्हारी आशा पूर्ण होगी—तुम्हें मनचाही वस्तु मिलेगी।' साधुने इतना कहकर एक चश्मा दिया और अपना रास्ता लिया।

ब्राह्मणने मन-ही-मन सोचा कि 'यह तो बड़ी आफत है, चश्मा लगाये बिना क्या मनुष्य भी नहीं दिखायी देगा? जो कुछ भी हो—साधुके आज्ञानुसार एक बार चश्मा लगाकर घूम तो आऊँ।' यह सोचकर ब्राह्मण चश्मा लगाकर भीखके लिये चला। तब उसे जो दृश्य दिखायी दिया, उसे देखकर तो उसकी बोलती बंद हो गयी और सिरपर हाथ रखकर वह एक बार तो बैठ गया। बिना चश्मेके जिन लोगोंको मनुष्य समझकर ब्राह्मणने भीख माँगी थी, अब चश्मा लगाते ही उनमें किसीका मुँह सियारका दिखायी देने लगा, किसीका कुत्ते या बिल्लीका और किसीका बंदर या बाघ-भालूका-सा। इस प्रकार उस शहरके घर-घरमें घूमकर वह संध्यासे कुछ पहले एक मैदानमें आ पहुँचा। वहाँ उसने देखा—पेड़के नीचे एक मोची फटे जूतेको सी रहा है। चश्मेसे देखनेपर उसका मुख आदमीका-सा दिखायी दिया। उसने कई बार चश्मा उतारकर और लगाकर देखा—ठीक मनुष्य ही नजर आया, तब उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह मन-ही-मन सोचने लगा 'मैं ब्राह्मण होकर फटे जूते गाँठनेवाले इस मोचीसे कैसे भीख माँगूँ।' इतनेमें मोचीकी दृष्टि ब्राह्मणपर पड़ी और दृष्टि पड़ते ही उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'महाराजजी! आप बड़े उदास और थके मालूम होते हैं—आपने अभीतक निश्चय ही कुछ खाया नहीं है। मैं अति दीन-हीन और नीच जाति हूँ। मेरी हिम्मत नहीं होती कि मैं आपसे

कुछ प्रार्थना करूँ। पर यदि दया करके आप मेरे साथ चलें, दिनभरमें जूते गाँठकर मैंने जो दो-चार पैसे कमाये हैं, उन्हें मैं पासके ही हलवाईकी दूकानपर दे देता हूँ, आप कृपा करके कुछ जल-पान कर लेंगे तो आपको तनिक स्वस्थ देखकर इस कँगलेके हृदयमें आनन्द समायेगा नहीं।'

ब्राह्मणके प्राण भूख-प्यासके मारे छटपटा रहे थे। मोचीकी सौजन्य और सहानुभूतिपूर्ण बात उन्होंने तुरंत मान ली। दोनों हलवाईकी दूकानपर पहुँचे। मोचीने अपना बटुआ झड़काया तो उसमेंसे पंद्रह पैसे निकले। मोचीने वे पैसे हलवाईके पास रखकर कहा, 'हलवाई दादा! इन पैसोंसे जितनी आ सके, उतनी मिठाई महाराजजीको तुरंत दे दो, उसे खाकर इनको जरा तो आराम मिले। मैं अभी आता हूँ।'

इतना कहकर परदुःखकातर मोची मुट्ठी बाँधकर घरकी तरफ दौड़ा और उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'घरमें जो एक नया जूतेका जोड़ा बनाया रक्खा है, उसे अभी बेच दूँ और जितने पैसे मिलें, लाकर तुरंत इन ब्राह्मण महाराजको दे दूँ, तब मेरे मनको चैन पड़े।' वह तुरंत घर पहुँचा और जूतेका जोड़ा लेकर बाजारमें प्रधान चौराहेपर खड़ा हो गया। वहाँके राजा सन्ध्याके समय जब घूमने जाते, तब प्रतिदिन अपनी पसंदका नया जूता खरीद कर पहनते। नित्य नये जूते खरीदकर लानेका काम मन्त्रीजीके जिम्मे था। मन्त्रीने कई जूते ले जाकर राजाको दिखाये, परंतु उनमेंसे कोई भी राजाके पसंद नहीं आया और न किसीका माप ही पैरमें ठीक बैठा। राजाने मन्त्रीको डाँटकर कहा

कि 'मैं पाँच सौ रुपये दाम दूँगा। तुम जल्दी मेरी पसंद तथा ठीक मापके जूते लाओ। नहीं तो, मैं घूमने नहीं जा सकूँगा और वैसी हालतमें तुमको कठोर दण्ड दिया जायगा।' मन्त्री बेचारे भगवान्‌का नाम लेकर काँपते हुए फिर जूतेकी खोजमें निकले और चौराहेपर पहुँचते ही एक मोचीको सुन्दर नये जूते लिये खड़े देखा। जूते लेकर तुरंत मन्त्रीजी राजाके पास पहुँचे। मोचीको भी वे साथ ले आये थे। भगवान्‌की कृपासे यह जूता-जोड़ा राजाको बहुत ही पसंद आया और पैरोंमें तो ऐसा ठीक बैठा मानो पैरोंके माप देकर ही बनाया गया हो। राजाने प्रसन्न होकर मोचीको पाँच सौ रुपये जूतेका मूल्य और पाँच सौ रुपये इनाम—कुल एक हजार रुपये देनेका आदेश दिया। मोचीने आनन्दविह्वल होकर गद्गद स्वरोंमें कहा—'सरकार! जरा ठहरनेकी आज्ञा हो, मैं अभी आता हूँ, ये रुपये जिनको मिलने हैं, उनको मैं तुरंत ले आता हूँ, सरकार! उन्हींके हाथमें रुपये दिला दीजियेगा।'

मोचीकी यह बात सुनकर राजाको बड़ा विस्मय हुआ और राजाने पूछा—'ये जूते तो तुम्हारे अपने हाथके बनाये हैं, फिर तुम इनके दाम दूसरेको कैसे दिलवाना चाहते हो?'

'सरकार! मैंने इन जूतोंके दाम एक गरीब ब्राह्मणको देनेका संकल्प मनमें कर लिया था। तब मैं इनका मूल्य कैसे लेता? पूर्व जन्मोंके कितने पापोंके फलस्वरूप तो मुझे यह नीच कुलमें जन्म और नीच जीविका मिली है, फिर इस जन्ममें ब्राह्मणका हक छीन लूँगा तब तो नरकमें भी मुझे जगह नहीं मिलेगी।' इतना कहकर मोची दौड़कर हलवाईकी दूकानपर पहुँचा और हाथ जोड़कर ब्राह्मणसे बोला—'महाराजजी! दया करके एक बार मेरे साथ

राजमहलमें चलिये।' ब्राह्मण उसके आत्मीयतापूर्ण व्यवहारसे आकर्षित होकर मन्त्रमुग्धकी तरह उसके पीछे चल पड़ा और राजाके सामने जा पहुँचा। तब मोचीने राजासे कहा—'सरकार! इन्हीं ब्राह्मणदेवताको जूतेका मूल्य दिलवानेका आदेश दिया जाय।' राजाने मन्त्रीको एक हजार रुपये ब्राह्मणको देनेकी आज्ञा दी और विस्मय तथा कौतूहलपूर्ण हृदयसे ब्राह्मणसे पूछा—'पण्डितजी! हमारी राजधानीमें इतने धनी-मानी लोगोंके होते हुए आपने इस मोचीसे भीख क्यों माँगी?' तब सरलहृदय ब्राह्मणने सारा प्रसङ्ग सुनाकर चश्मा दिखलाया और राजासे कहा कि 'आप स्वयं चश्मा लगाकर सत्यकी परीक्षा कर लें।' राजाने चश्मा लगाकर सबसे पहले मन्त्रीके मुँहकी ओर देखा तो वह सियार दिखायी दिया। चारों तरफ देखा—कोई कुत्ता, कोई बिल्ली, कोई बंदर, कोई बकरी, कोई भेड़, कोई गधा और कोई बैल दिखायी दिया। चश्मा उतारकर देखा तो सभी मनुष्य दीख पड़े। तब राजाने अत्यन्त विस्मित होकर चश्मा मन्त्रीको दिया और कहा—'देखो मन्त्रीजी! चारों ओर पशु-ही-पशु दिखायी देते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।' तब मन्त्रीने चश्मा लगाकर राजाके मुखकी ओर देखा तो एक बड़ा बाघ दीख पड़ा और चारों ओर दरबारी लोग भाँति-भाँतिके जानवर दीखे। तब राजाने एक दर्पण मँगाकर चश्मा लगाकर अपना मुख देखा और यों सभीको अपना-अपना मुँह दिखलाया। परंतु चश्मा लगानेपर सभी लोगोंको मोचीका मुख आदमीका-सा ही दिखायी दिया। तब राजाने मोचीके चरणोंमें गिरकर कहा—'आजसे यह राज्य तुम्हारा हुआ; मैं राज्य, धन, ऐश्वर्य नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ—केवल

तुम्हारे-जैसा उच्च और विशाल हृदय। मनुष्यका शरीर धारण करके यदि मनुष्यका-सा हृदय नहीं हुआ तो मनुष्यकी मूर्तिका क्या मूल्य है? मानव-जन्मकी क्या सार्थकता है!'

मोचीने कहा—'सरकार! आप जो कुछ देना चाहते हों, इन ब्राह्मणदेवताको दीजिये। मैं दीन-हीन कंगाल राज्य लेकर क्या करूँगा।' वह दरिद्र ब्राह्मण सोचने लगा—'पता नहीं, मेरी कितने जन्मोंकी तपस्या है, जिसके फलस्वरूप आज इस मोचीरूपधारी विशालहृदय महाप्राण पुरुषके दर्शन और कृपा प्राप्त करनेका मुझे सौभाग्य मिला है।' यों विचारकर कृतज्ञ हृदयसे उसके चरणोंमें प्रणत होकर ब्राह्मणने कहा—'भाई मोची! मैं न तो राज्य चाहता हूँ और न देवत्व, न ब्रह्मत्व या समस्त विश्वका आधिपत्य ही चाहता हूँ। मैं तो चाहता हूँ तुम्हारे-जैसा मनुष्यत्व।'

मोचीको भावावेश हो गया और वह आकुल-हृदयसे भगवान्‌के चरण-कमलोंका मधुर स्मरण करके अश्रुपूर्ण लोचन और प्रेमसे गद्गद-कण्ठ होकर कहने लगा—'मेरे अनन्त करुणामय प्रभो! धन्य तुम्हारी करुणाको! मैंने केवल तुच्छ एक जोड़े जूतेका मूल्य ब्राह्मणको देनेका संकल्प किया था, इसीसे तुम मुझको इतना बढ़ा रहे हो, तुम्हारे चरणोंमें शरीर, मन, प्राण सर्वस्व समर्पण करके जगत्‌की सेवा कर सकनेपर तो, तुम पता नहीं, कितना प्यार करते हो।'

यह कहकर मोची आँखोंसे आनन्दाश्रुकी वर्षा करता हुआ वहाँसे चुपचाप चल दिया। राजा और ब्राह्मण चकित-दृष्टिसे उसकी ओर देखते रह गये।

———

|| ॐ ||

श्री तुलसी पुस्तकालय

(संरक्षक–श्री राम मन्दिर, भीमगंज मण्डी, कोटा-2)

पाठकों को चाहिए कि जो पुस्तक वे पुस्तकालय से प्राप्त करें, उसे 15 दिन के अन्दर-अन्दर जमा करादें अन्यथा 7 दिन के पश्चात उनको 25 पैसे प्रतिदिन दण्ड स्वरूप प्रदान करने पड़ेंगे । पुस्तकों की सुरक्षा आपकी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की सुरक्षा है ।

सदस्य का नाम अथवा क्रम सं.	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि	सदस्य का नाम अथवा क्रम सं०	पुस्तक लौटाने की अंतिम तिथि